प्रकाशक :

श्री विजयचन्द जरगड
जौहरी बाजार, इन्नीवालों, पन्सारी के ऊपर,
जयपुर-3.

प्रथमावृत्ति - 1000

मूल्य : 10

मुद्रक :
वैशाली प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर-3.

जैन योगीन्द्र श्री आनन्दघनजी

अद्भुत योगी आनन्दघन

१७वीं सदी के महान् सन्त, श्री आनन्दघनजी म० जिन्होंने भेद ज्ञान के द्वारा जड़ चेतन का पृथक् करण किया, जिनके जीवन में हर क्षण आत्मानुभूति दीप जलता रहा, जिन्होंने आगम व निगम को आत्मसात किया, व योग साधना के द्वारा भौतिक पदार्थों के प्रभाव से हिमालय वत ऊँचे उठ गये। सम्यग् ज्ञान, दर्शन एवं आचरण ही जिनके जीवन का कार्य क्षेत्र बन गया, स्वतन्त्र भावना ने सर्वथा अनिबन्ध मुक्त बना दिया। रज-कण व रत्न-कण को सम देखने वाले अद्भुत योगी आनन्दघन समस्त भौतिक दिव्य पदार्थों को उपेक्षित भाव से देख उन्हें पुद्गल समझ देखा अनदेखा कर देते थे। क्योंकि साधकीय जीवन में इधर-उधर देखे बिना निरन्तर बढ़ते रहना ही साधक का सर्वोपरि कर्तव्य है। यही स्थिति आनन्दघनजी महाराज को सहज उपलब्ध थी, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में अनेक जगह संकेत रूप में व्यक्त है। अनुभूतिजन्य शब्द शृंखला वीतराग स्वरूप को समझाने में अनमोल हीरे हैं, वे स्वयं तो साधना के द्वारा अमर पद बने ही किन्तु उनका पद "अब हम अमर भये न मरेंगे" यदि समझकर गायेगा और इसके भावों की गहराई को समझेगा तो निश्चित मुक्त बनेगा। एक क्या अनेक ऐसे पद हैं जिनमें जिनवाणी के सागर को अपनी कवित्व शक्ति के द्वारा वाक्य रूप गागर में भर दिया। वे वीतराग स्वरूप को समझाने वाले उनके स्तवन, पद आदि रचनाएँ भी अमर पद देने में सर्वथा सक्षम हैं।

ऐसे आनन्दघनजी महाराज की रचनायें साधकों की अनुपम थाती है, जो साधकों को प्रबल प्रेरणा देकर साध्य के प्रति जागरूक रखती है, जिनवाणी को समझकर समझाने वाले साधक जन-मानस का अनन्त उपकार करते हैं। स्व० श्री उमरावचन्दजी जरगड़ जिनकी रुचि आध्यात्मिक भजनों के प्रति विशेष रहती थी, आनन्दघन-भजनावली का हिन्दी में अर्थ करके उन्होंने भी भारी पुण्योपार्जन किया है, उनका परिश्रम आज सफल हो रहा है, इसकी प्रसन्नता।

प्र० विचक्षणश्री

स्व० श्री उमरावचन्दजी जरगड
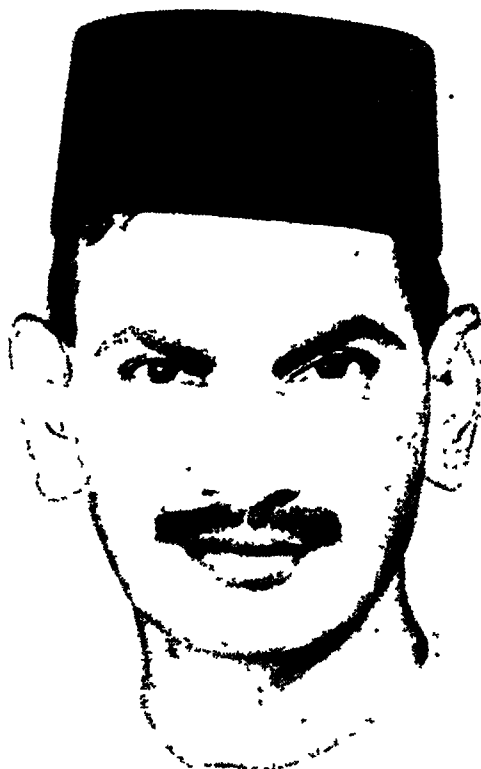
पुनीत स्मृति में श्रद्धांजलि स्वरूप प्रकाशित

स्व० श्री उमरावचन्दजी जरगड

संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री उमरावचन्दजी का जन्म सम्वत् १६५६ श्रावणा शुक्ला १० बुधवार को जौहरी श्री प्रेमचन्दजी के कनिष्ठ भ्राता श्री नेमीचन्दजी जरगड़ के यहां हुआ। आप श्री जैन श्वेताम्बर श्रीमाल जाति के जरगड़ गौत्र के थे। १८ वर्ष की आयु में आपका विवाह सुश्री उमराव कवँर सुपुत्री श्री मदनचन्दजी टांक के साथ हुआ। आपने रत्न उद्योग की शिक्षा श्री रतनलालजी फोफलिया से प्राप्त की तथा अपने पैतृक व्यवसाय में सफलता पूर्वक कार्य करते रहे। आपकी शिक्षा मैट्रिक तक होते हुए भी आपकी अभिरुचि अध्ययन में रही और आप साहित्य, जैन-दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, होमियोपेथी आदि में अध्ययन-रत रहे। आपकी जैन-दर्शन एवं अध्यात्म में विशेष रुचि रही। आपका सम्पर्क विभिन्न विद्वानों साधुओं एवं पण्डितों से रहा। श्री अगरचन्दजी नाहटा के सम्पर्क में आने से तथा उनकी प्रेरणा से आप लेखन कार्य भी करने लगे। समय समय पर इनके द्वारा सम्पादित एवं लिखित पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनकी सूची इस पुस्तक के अन्त में दी गई है।

स्वर्गवास के चार वर्ष पूर्व से ही शारीरिक अस्वस्थता के कारण आपके कई अन्य ग्रंथ अधूरे व अप्रकाशित रह गये थे। प्रस्तुत ग्रंथ उन्हीं में से एक है। इस ग्रंथ को श्री महतावचन्दजी खारैड ने श्री अगरचन्दजी नाहटा के सहयोग से पूर्ण किया है।

व्यापार, अध्ययन, लेखन व मनन के साथ-साथ आपकी श्रीमाल सभा, ज्वैलर्स एसोसियेशन आदि सामाजिक कार्यों मे भी रुचि रही है। आपका स्वर्गवास स० २०२८ के माह सुदी ५ (बसन्त पंचमी) के शुभ दिन में हुआ।

आपकी धर्म पत्नी बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति की है। आपकी स्मृति में आपके सुपुत्र विजयचन्दजी ने इसे प्रकाशित कर एक बहुत ही उपयोगी कार्य किया है।

अपनी बात

सन् १९५८-५९ की बात है। स्व० श्री उमरावचंदजी जरगड योगीराज आनन्दघनजी के पदों का अर्थ लिख रहे थे, तब उन्होंने मुझे अपने कार्य में सहयोग देने को कहा। वे बहुत कुछ कार्य कर चुके थे। बहुत कुछ बाकी था। उन्हीं दिनों में श्री देवचंदजी महाराज की चौबीसी सार्थ के सम्पादन का कार्य भी चल रहा था। वह समाप्ति पर था। पहिले चौबीसी का कार्य पूर्ण कर प्रेस में दिया गया। वह छपकर तैयार हो गया। अब नियमित रूप से श्री आनन्दघन-पदावली का कार्य चलने लगा।

स्व० श्री जरगडजी के पास 'आनन्दघन-पदावली' की हस्तलिखित पांच प्रतियाँ थीं और दो प्रतियाँ गुजराती भाषा में मुद्रित थीं। मुद्रित प्रतियों में प्रथम प्रति श्री मोतीलाल गिरधरलाल कापडिया द्वारा सम्पादित थी जिसमें केवल ५० पदों पर ही विस्तृत व्याख्या थी तथा दूसरी मुद्रित प्रति आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरीश्वर द्वारा सम्पादित थी जिसमें १०७ पदों पर व्याख्या थी।

श्री जरगडजी ने इन्हीं पुस्तकों के आधार पर 'आनन्दघन-पदावली' का पाठ निश्चित किया और पाठान्तर दिये। जो पाँच प्रतियाँ हस्तलिखित थीं उनमें से कौन-कौनसी प्रति कब-कब की लिखी हुई थी, इसका पता उनके स्वर्गस्थ हो जाने से अब नहीं लग सकता। पदावली का अर्थ लिखते समय तो संभव है यही विचार रहा होगा कि भूमिका लिखते समय इस पर विचार कर लिया जावेगा। ९० पदों का कार्य पूर्ण-रूपेण सम्पन्न हो चुका था। जितने पद उनके संग्रह में थे उनके शब्दार्थ, पाठान्तर और अर्थ पृथक् लिख लिये गये थे। अचानक ही श्री जरगडजी को व्यापारार्थ जयपुर से बाहर जाना पड़ा और काम स्थगित करना पड़ा। तत्पश्चात् जयपुर जब-जब वे आये, तब-तब वे सप्ताह से अधिक यहाँ नहीं ठहरे। इसी मध्य उनका माल बम्बई में खोया गया, इससे वे अधिक चिंतित हो गये और चित्त पर इसका गहरा आघात लगा और भी ऐसे कई कारण बने जिससे वे स्वस्थ चित्त नहीं रह सके। समय

निकलता गया । अन्त में वे रुग्ण हो गये । इससे फिर उन्हें रोग-मुक्ति काल ने ही दी ।

सन् १६६६ ई० में मेरे मित्र स्व० श्री जतनमलजी लूणावत ने मुझे आनन्दघनजी की पदावली के दो भाग श्री मोतीलाल गिरधरलाल कापड़िया द्वारा सम्पादित देकर उन्हें आद्योपान्त पढ़ने की प्रेरणा दी । मैंने दोनों भाग पढ़े । श्री कापड़ियाजी ने १०८ पदों का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है । श्री जतनमलजी ने कहा कि ये सब गुजराती में हैं । अपने लोगों को समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है । यदि हिन्दी में यह प्रयास किया जावे तो हिन्दी भाषा भाषियों के लिए एक अच्छी आध्यात्मिक वस्तु मिल सकती है । मैंने श्री जरगडजी के प्रयास की बात कही कि उसमें थोड़ा ही कार्य बाकी है । यदि पांडुलिपि मिल जावे तो उसे पूर्ण किया जा सकता है । तदन्तर श्री जरगडजी की धर्म-पत्नी से पूछ-ताछ और तलाश के पश्चात् ज्ञात हुआ कि वह पांडुलिपि कोई ले गया, जिसका कुछ पता नहीं है और श्री जरगडजी इस स्थिति में नहीं थे कि वे कुछ बता सकें । अतः निराश होकर मैं चुप बैठ गया । मेरे पास इस सम्बन्ध की कोई सामग्री नहीं थी । जो थी वह मैं पहिले ही श्री जरगडजी को दे चुका था । अन्त में एक वर्ष पश्चात् श्री जरगडजी की पत्नी ने मुझे बुलाकर सूचित किया कि इनके लिखे हुए 'आनन्दघनजी' के पद मिल गये हैं । मैंने उन्हें देखा कि सब मेरे ही लिखे हुए थे । अब बाकी सामग्री की तलाश थी । काफी परिश्रम करके वह सामग्री एकत्रित की गई और उसे सुरक्षित रख दी । यह सब सामग्री सन् १९७१ के अगस्त मास में मिली थी । इसके पश्चात् इसका कार्य आरम्भ कर दिया गया जो आपके सन्मुख प्रस्तुत है ।

श्री जरगडजी से प्राप्त सामग्री देखने से ज्ञात हुआ कि उन्होंने चौबीसी और पदावली दोनों पर ही करीब-करीब ६० प्रतिशत कार्य कर दिया था । चौबीसी के छठे स्तवन श्री पद्मप्रभ जिन से १८वें स्तवन श्री अर जिन स्तवन तक श्री जरगडजी ने बहुत अच्छा अर्थ लिखा है । बाकी के प्रथम पांच स्तवन में उनके संकेतानुसार मैंने अर्थ लिखा है और उन्नीसवें स्तवन से चौबीसवें स्तवन तक मैंने अपनी मंद बुद्धि अनुसार अर्थ किया है । इसी प्रकार पदावली के ६० पदों पर तो उनका ही अर्थ लिखा गया है और शेष पदों पर मैंने अर्थ लिखा

है । पदावली में बहुत से पद शंकास्पद तथा कुछ अन्य कवियों के लगे उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है । जितने पद 'आनन्दघन' नाम के मिले वे सब ही इस पदावली में सम्मिलित कर लिये गये हैं और उनसे सम्बन्धित सूचनायें उन पदों के साथ ही दे दी गई है । राष्ट्रभाषा हिन्दी में यह प्रथम ही प्रयास है । अभी इसमें संशोधन की काफी गुंजाइश है ।

पदावली तथा अन्य रचना

ऊपर लिखा जा चुका है कि श्री जरगडजी के पास पदों की हस्तलिखित प्रतियों की चार लिपियां थी । उन्हें मैंने पाठान्तर के लिये 'अ, आ, इ और उ नाम दिये हैं । 'अ' प्रति में ८९ पद, 'आ' प्रति में ८० पद, 'इ' प्रति में ७७ पद और 'उ' प्रति में ८२ पद हैं । सं० १७५३ में लिखी हुई डेरागाजीखां की प्रति का उल्लेख श्री जरगडजी ने और किया है । न तो उसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई और न यह ज्ञात हो सका कि यह प्रति किस महानुभाव से प्राप्त हुई थी । उनके (श्री जरगडजी के) लेखानुसार इतना ही ज्ञात हुआ कि इस प्रति में १५-२० ही पद थे । यह प्रति मिल जाती तो इसमें संग्रहीत पदों का क्रम ज्ञात हो जाता और यह भी निश्चय हो जाता कि ये पद श्री आनन्दघन जी के ही हैं । कारण इसका यह कि यह प्रति श्री आनन्दघनजी के स्वर्गस्थ होने के २०-२२ वर्ष बाद ही लिखी गई थी ।

जितनी भी प्रतियां मिली हैं, उन सबका एक क्रम नहीं हैं, और न उनमें पद संख्या ही समान है । किसी में ७७,-७८, किसी में ८० और किसी में ९० पद मिलते हैं । श्री भीमसिंह माणेक ने सर्वप्रथम १०८ पदों का संग्रह करके स. १९४४ वि. में 'आनंदघन 'बहुत्तरी' के नाम से प्रकाशित किया था । इसके पश्चात इसी क्रम और पदों की संख्या से श्री मोतीलाल गिरधर लाल कापड़ियाजी तथा आचार्य श्री बुद्धिसागरजी ने पदों की विस्तृत व्याख्या कर प्रकाशित कराया है । इन प्रकाशित पदावलियों में अन्य कवियों के भी पद आनंदघनजी का नाम देख-कर सम्मिलित कर लिये गये हैं, इससे वास्तविक पदों की संख्या ज्ञात करना कठिन और अत्यन्त परिश्रम साध्य हो गया है ।

पदसंख्या व नाम

श्री आनंदघनजी के पदों का संग्रह तो 'बहुत्तरी' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है । इन पदों के प्रथम संग्रहकार और प्रकाशक ने १०८ पद संग्रह कर

प्रकाशित किये, उसका नाम भी 'वहुत्तरी' ही रखा है। इससे यह तो संभव लगता है कि इन पदों के संग्रह का प्राचीन नाम 'वहुत्तरी' रहा होगा। ऐसा अनुमान होता है कि श्री भीमसिंह माणेक के सन्मुख वहुत्तरी की कई प्रतियां थी। उन्होंने जिस प्रति में नयापद देखा, उसे ही अपने संग्रह में सम्मिलित करके पदों की सं. १०८ करली। यदि वे सावधानी से छानवीन करते तो पदों की संख्या इतनी नहीं हो सकती थी और न श्री आनंदघनजी के संवंध में जो अनर्गल वातें उठाई गई हैं, वे ही उठती।

हमारे विचार में तो इन पदों की संख्या 'वहुत्तर' से अधिक होने के कारण यह है कि उन दिनों मुद्रण जैसे साधन तो उपलव्ध थे नहीं, जिनसे प्रचार-प्रसार हो सकता था। एकमात्र साधन लोक-गायक और संतगण जो देश में पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण घूमते हुये जनता को भजन गाकर सुनाते थे। इस प्रकार पदों (गायनों] का प्रचार-प्रसार सहज ही हो जाता था। मध्य-युग में जव भी किसी संत महात्मा का आविर्भाव हुआ, धीरे धीरे उसका प्रभाव सर्वत्र देश में फैल जाता था। यही कारण था कि सूरदास, कवीर, मीरां आदि के भजन वंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात तक घर घर में फैल गये थे। अच्छे भजनों को जनता भी सुन सुनकर कंठाग्र कर लेती थी। समय समय पर इन भजनों को गाकर अपनी भक्ति प्रकट करने के साथ-साथ अपना मनोरंजन भी किया करती थी। यह भी होता था कि इन भजनो में प्रयुक्त शव्दों की स्थान विशेष के अनुसार काया पलट जाती थी। इसके साथ ही यह भी होता था कि पद किसी अन्य का है और विस्मृति के कारण किसी दूसरे के नाम चढ़ा दिया जाता था। यथा 'कहत कवीर सुनो भाई साधु" या "मीरां के प्रभु गिरिधर नागर,, आदि पद के अन्त में जोड़कर पद समाप्त कर दिया जाता था। और यह भी होता था कि कोई पंक्ति किसी की, कोई पंक्ति किसी की, गाकर अंत में किसी प्रसिद्ध पदकर्ता का नाम रखकर पद पूर्ण कर दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि पदावलियों में अनेक पाठ भेद हो गये और अन्य पद-कर्त्ताओं के पद अन्य पद कर्ताओं के नाम से प्रसारित हो गये। यही घटना श्री आनंदघनजी के पदो के साथ हुई। अन्य कवियों के पद और उनकी शैली से भिन्न पद भी उनके नाम से प्रसिद्धि पा गये। लिखकर संग्रह करने वालों ने

जैसे जैसे सुना वैसे वैसे ही लिखकर संग्रह कर लिया। यही कारण है कि श्री आनंदघनजी के पदों का क्रम सब संग्रहों में समान नहीं है और न ही उनकी संख्या समान है। हम यहाँ एक अकारादि क्रम से प्राप्त पदों की सूची दे रहे हैं जिससे प्रकट होगा कि हमारे पास वाली किस प्रति में कौनसा पद किस संख्या पर है और किस प्रति में कितने पद हैं। प्रस्तुत पुस्तक [ग्रंथावली] में पदों की संख्या १२१ है और उनका क्रम भी इसलिए पृथक हो गया है कि हमारी धारणा के अनुसार जो पद श्री आनंदघनजी के हैं उन्हें प्रथम रखा गया है और जो पद उनके नहीं समझे गये उन्हें बाद में। वास्तव में होना तो यह चाहिये था कि विषयवार या राग या लयवार क्रम बनाया जाता किन्तु यह कार्य समय की काफी अपेक्षा रखता है। इधर पुस्तक प्रकाशित करने शीघ्रता थी इससे यह नहीं हो सका।

श्री जरगडजी के संग्रह में श्री आनंदघनजी की एक रचना "समितियों की ढालें" और मिली है। वह भी दी जा रही है। यह रचना पूर्व में श्री अगरचंदजी नाहटा द्वारा सम्पादित अष्ट प्रवचन माता सज्झाय सार्थ श्री देवचंद सज्झाय माला भाग १ में प्रकाशित हो चुकी है। साथ ही श्री अगरचंद जी नाहटा के संग्रह से प्राप्त आनंदघनजी की दो रचनायें—[१] आदिनाथ जिन स्तवन और [२] चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन-और दे रहे हैं। ये दोनों स्फुट रचनायें श्री आनंदघनजी के साधु जीवन स्वीकार करने के पश्चात कुछ वर्षों के बाद की लिखी हुई मालूम पड़ती हैं। इनकी प्राचीन प्रतियां नहीं मिलने से संदिग्ध भी हो सकती हैं। श्री नाहटाजी ने हस्तलिखित प्रतियों की खोज सर्वाधिक की है अतः उन्हें अप्रकाशित पद भी १५ और मिले हैं।

चौवीसी

श्री उमरावजी के संग्रह में चौवीसी की छः प्रतियों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुईं। ये प्रतिलिपियें किस किस समय की प्रतियों की हैं, इसकी जानकारी मिलना अब असंभव है। इन प्रतिलिपियों को मैंने, 'अ' 'आ' 'इ' 'ई' 'उ' और 'ऊ' से चिह्नित कर पाठ भेद दिये हैं। इनमें 'उ' प्रति श्री ज्ञानविमलसूरि जी के टब्बेवाली है और 'ऊ' प्रति श्री ज्ञानसारजी के टब्बेवाली है। इन प्रतियों में प्रथम प्रति १८वीं सदी के अंतिम चरण की और दूसरी प्रति १९वीं सदी के नवें दशक की है।

चौवीसी के स्तवनों में बत्तीस स्तवन ही योगीराज श्री आनंदघनजी के रचित कहे जाते हैं। शेष अन्तिम दो स्तवन—श्री पार्श्वनाथ जिन स्तवन और श्री महावीर जिन स्तवन—अन्य महानुभावों के 'आनंदघन' नाम से रचित हैं। हमने प्रस्तुत पुस्तक में श्री पार्श्वनाथ भगवान के तीन स्तवन और श्री महावीर भगवान के तीन स्तवन दिये हैं। दोनों ही जिनेश्वरों के तीन तीन स्तवन हैं। जिनमें प्रथम २३ वां और २४ वां स्तवन—"ध्रुवपदरामी हो स्वामी माहरा" और वीरजी नै चरणे लागूं वीरपणुं ते मांगू रे" हैं। द्वितीय २३ वां और २४वां स्तवन—"पास जिन ताहरा रूपनूं मुक्त प्रतिभास किम होय रे" और "चरम जिणेसर विगत स्वरूपनूं रे, भावूं केम स्वरूप" है तथा तृतीय २३वां और २४वां स्तवन—"प्रणमूं पाद-पंकज पार्श्वना जस वासना अगम अनूप रे" और "वीर जिणेसर परमेश्वर जयो जग जीवन जिन भूप" है। ये तृतीय स्तवन पं. मुनि श्री गम्भूलालजी की 'आनंदघन चौवीसी याने अध्यात्म परमामृत" के गुजराती अनुवादक पं. श्री मंगल जी उद्धवजी शास्त्री की पुस्तक से लिये गये हैं। अतः हम उनके आभारी हैं। इन स्तवनों के संबंध में इस पुस्तक में किसी प्रकार की सूचना नहीं दी गई है। हमने इन स्तवनों के अर्थ के साथ जो टिप्पणी दी है उसमें गलतफहमी के कारण भूल हो गई अतः यहां उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम २३ वां और २४वां स्तवन "ध्रुवपदरामी" और "वीरजी नै चरणे लागू" श्री ज्ञानसारजी के टब्बे के लेखानुसार तथा श्री अगरचंदजी नाहटा के संग्रह की चौवीसी की एक प्रति—जो सं. १८५७ की लिखी हुई है—के अनुसार श्री देवचंदजी महाराज रचित हैं। द्वितीय २३वां और २४वां स्तवन

"धाम जिन ताहरा रूपनूं" और चरम जिणेसर विगत स्वरूपनूं रे" श्री ज्ञानसार जी महाराज रचित है। तृतीय २३वां और २४ वां स्तवन--"प्रणमूं पादपंकज" और "वीर जीणेसर परमेश्वर जयो"--किसकी रचना है पता नहीं लगा। श्री अगरचंदजी नाहटा का अनुमान है कि ये दोनों स्तवन उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज के होने चाहिये। इस विषय में निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सकती। यह आगे की शोध का विषय है।

इस चौबीसी को पूर्ण करने के लिये अन्य महानुभावों ने भी प्रयास किया मालूम होता है। श्री ज्ञानविमल सूरिजी ने अपने नाम से दो स्तवनों की रचना कर चौबीसी पूर्ण की थी। यह चौबीसी श्री जिनदत्तसूरि पुस्तकालय जयपुर में सुरक्षित है। स्थानाभाव से इन स्तवनों को यहाँ देने में हम असमर्थ हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि बावीस ही स्तवन श्री आनंदघनजी के बनाये हुये हैं और परवर्ती दो स्तवन आनंदघनजी के नाम से अन्य कवियों ने बनाये हैं। श्री आनंदघनजी ने बावीस ही स्तवन क्यों बनाये, चौबीस पूर्ण क्यों नहीं किये। यह जिज्ञासा उत्पन्न होती ही है। हमारे से पूर्व के चौबीसी संपादकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। स्वर्गीय श्री मोतीलाल गिरिधर कापडियाजी ने काफी ऊहापोह कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है--"श्री आनंदघनजी ने चौबीसी के स्तवन आयु के उत्तर भाग में बनाये थे क्यों कि इन स्तवनों की भाषा, इनका विषय निरूपण और इनके शब्द प्रयोगों को देखने से प्रौढ़ता स्तवनों में दिखाई पड़ती है वह पदों में नहीं है। यह प्रौढ़ता उन्हें उत्तर अवस्था में प्राप्त हुई लगती है। इस उत्तर अवस्था के भी अंतिम भाग में इन स्तवनों की रचना हुई है। यदि वे उत्तर अवस्था के अंतिम भाग में नहीं बने होते तो चौबीसी को श्री आनंदघनजी दो स्तवनों के लिये कभी अधूरी नहीं छोड़ते। किन्हीं अनिवार्य कारणों से २३वां और २४वां स्तवन वे नहीं बना पाये।" (५० पदों के प्रथम संस्करण की भूमिका पृ. ८०--८६)

इसी स्थान पर श्री कापड़ियाजी ने एक शंका और उठाई है--"श्री आनंदघनजी ने केवल इकवीस ही स्तवनों की रचना की थी। बावीसवां स्तवन उनका नहीं मालूम होता है। इस प्रकार इकवीस स्तवनों में आत्मा की उत्क्रांति बतानेवाले योगीराज जो बाकी के स्तवन लिखे होते तो अति विशुद्ध आत्मदशा

भावों को बताने वाले और खास कर योग की अति उत्कृष्ट दशा सूचित करने वाले होते। बावीसवें स्तवन की वस्तु रचना, भाषा और विषय पूर्व स्तवनों से बिलकुल अलग पड़ जाते हैं। इकवीस स्तवनों तक जो लय चली आ रही थी उसका एकदम भंग हो जाता है। उसमें (बावीसवें स्तवन में) जो विषय लिया गया है, वह सामान्य कवि जैसा है।"

यहाँ हम अत्यन्त नम्र निवेदन करना चाहते है कि बावीसवें स्तवन में योगीराज ने राजुल (राजिमती) की वेदना का हृदयस्पर्शी वर्णन करते हुये, बताया है कि आत्मा वैभाविक दशा से स्वाभाविक दशा की ओर कैसे अग्रसर होती है। पशुओं का क्रन्दन सुनकर श्री नेमिनाथ जब शोभायात्रा (बरात) में से रथ वापिस कर देते हैं, तब साध्वी राजिमती का हृदय विदीर्ण हो जाता है। इसका अत्यन्त मार्मिक वर्णन श्री योगीराज ने किया है। वह मन में विचारती है कि मेरा और प्रभु का संबंध तो आज का नहीं, अनेक जन्मों का है, फिर प्रभु ऐसा क्यों करते हैं। वे पशुओं पर तो दया दिखाते हैं और मेरे कष्टों की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते हैं। जो विवाह ही न करना था तो सगाई-संबंध ही क्यों किया ? सगाई-संबंध करके लगन-विवाह न करने से तो मेरी गति अत्यन्त भयानक हो गई है। राजिमती का स्वयंवर नहीं हुआ था। माता-पिता की इच्छा को ही उसने शिरोधार्य किया था। राजिमती का जीवन अपने ढंग का निराला ही है। उस समय उसकी अवस्था भी बहुत नहीं थी, फिर भी वह एक सती साध्वी की तरह राज महलों के सुखों को ठुकराकर तुरंत अपने होनेवाले पति नेमिनाथ के पद-चिह्नों पर आगे बढी। इधर भगवान अरिष्ठ नेमिनाथ के भाई रहनेमिने अनेक प्रकार के भय दिखाये, प्रलोभन दिये, पर वह तो हृदय से भगवान अरिष्ठ नेमिनाथ को वरण कर चुकी थी। सती साध्वी के तेज के सन्मुख रहनेमि की पराजय हुई। ऐसी अपूर्व स्त्री रत्न का यदि कवि वर्णन न करते तो यह अपराध हो जाता। श्री आनंदघनजी जैसे महापुरुष उस सती को कभी भूल नहीं सकते थे। तीर्थंकर पत्नियों में जितना रोचक भाव पूर्ण और उत्कृष्ट त्यागमय जीवन राजिमती का था वैसा अन्य किसी का नहीं था। ऐसी साध्वी की वेदना का वर्णन न करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना होता। श्री योगीराज का यह प्रेम-प्रसंग का रसमय वर्णन और दुखी हृदय की पुकार ही

नहीं है वल्कि आठों जन्मों से बने हुये संबंध को अक्षुण्ण बनाये रखने व पूर्ण आत्म समर्पण का अद्भुत एवं बेजोड़ वर्णन है। सच्ची साध्वी स्त्री का कार्य पति में दोष निकालना नहीं है किन्तु पति के पद- चिह्नों पर चलकर आत्म समर्पण है। पति जिस मार्ग जावे उसी मार्ग का अनुसरण पत्नी के लिये श्रेय-स्कर है। राजिमती ने यही किया और स्वामी से पूर्व ही भव-बंधनों को तोड़ डाला और मोक्ष में पति का स्वागत करने के लिये पहिले ही पहुंच गई। कवि का इस प्रकार का वर्णन इसी बात का द्योतक है। आत्मोत्क्रांति की भूमिका में जो बात प्रथम स्तवन में—"कपट रहित थई आतम अरपणा रे, आनंदघन पद रेह" कही है उसही की परम पुष्टि इस स्तवन में इस प्रकार की है--"सेवकपण ते आदरे रे, तो रहे सेवक माम। आशय साथे चालिये रे, अेहिज रूडो काम।" इससे बढकर कौन सा आत्म समर्पण होगा ? कौन सा त्याग होगा ? कौन सा योग होगा? संसार से मुक्त करानेवाला व्यापार ही तो, समर्पण, त्याग और योग है।

ऐसे उच्चाशय वाले स्तवन पर श्री कापड़िया जी का शंका करना निरा-धार ही कहा जा सकता है।

ऊपर के विचार श्री कापड़ियाजी के चौवीसी तथा बावीसवें स्तवन के लिये उठाई गई शंका के सम्वन्ध में हैं। अब श्री आनंदघनजी की रचना-पदा-वली के एक अन्य संपादक व विवेचक आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरिजी के विचार दिये जाते हैं। आचार्य श्री का कथन है--"अन्य दर्शनीय विद्वानों का कथन है कि प्रथम सगुण की उपासना-स्तुति की जाती है, तत्पश्चात आध्यात्म ज्ञान में गहरे पैंठने के पश्चाद निर्गुण की उपासना-भक्ति की ओर अग्रसर होना पड़ता है। यद्यपि इस प्रकार की शैली जैन विद्वानों में दिखाई नहीं देती है तथापि इस बात को माना जावे तो आनंदघनजी ने गुजराती भाषा में चौवीसी की रचना की, फिर मारवाड़ में घूमते हुये लोगों के उपकारार्थ ब्रजभाषा में पदों की रचना की।" आगे वे लिखते हैं--"एक दंत कथा सुनने में आती है कि एक समय श्री आनंदघनजी शत्रुंजय पर्वत पर जिन दर्शन करने गये हुये थे। उन्हीं दिनों श्री यशोविजयजी और श्री ज्ञानविमलसूरिजी श्री आनंदघनजी से मिलने के लिये शत्रुंजय पर गये थे। श्री आनंदघनजी एक जिन मंदिर में प्रभु की स्तवना

करने में लीन थे। ये दोनों महात्मा गुप्त रूप से चौवीसी के स्तवन सुनने लग गये। श्री यशोविजय जी का क्षयोपशम ऐसा था कि कोई भी बात एक दफा सुनने के पश्चाद् उसे अविकल वैसे की वैसे ही सुना सकते थे। इस प्रकार उन्होंने २२ पदों को सुनकर याद कर लिये। बावीसवें स्तवन के बाद कुछ ध्वनि सुनकर श्री आनंदघनजी ने पीछे की ओर देखा तो उन्हें श्री यशोविजयजी तथा श्री ज्ञानविमल सूरिजी दिखाई पड़े। इससे आगे स्तवन बोलते हुये वे सकुचा गये और फिर दो स्तवन नहीं बने।" आगे अपने विचार प्रकट करते हुये उन्होंने लिखा है--"हमारा अपना विचार इस सम्बन्ध में ऐसा है कि श्री आनंदघनजी जहाँ जहाँ गये वहाँ वहाँ प्रसंगवश प्रभु-भक्ति के उल्लास से भिन्न भिन्न जिनेश्वर देवों के स्तवन बनाकर चौवीसी की रचना की।"

वास्तविकता यह क्या है? बताना कठिन है। हमारा अनुमान यह है कि श्री आनंदघनजी दीक्षित होने के पश्चात अध्ययन में लग गये। उनके गुरुजी ने उन्हें अच्छा शास्त्रमर्मज्ञ बना दिया। आरंभ में इन्होंने स्फुट विषयों और भक्ति पूर्ण रचनायें लिखी, जिसका प्रमाण इस ग्रंथावली में दी हुई समितियों की ढालें और कुछ अन्य गीतिकायें हैं। इसी प्रकार अन्य विषयों पर भी उनकी रचनायें होनी चाहिये। इस विषय पर गहरी खोज की जावेगी तो उनकी और भी कई रचनायें उपलब्ध हो सकेंगी।

श्री आनंदघनजी ने जहाँ जहाँ भी पद यात्रायें की, वहाँ वहाँ जन समूह को उपदेश देने और अपने अनुभव व्यक्त करने के लिये गूढार्थ पदों की रचना समय समय पर की। ये पद रचनायें जैन परम्परा में चली आ रही शैली में ही की है। जैन आगमों में इस शैली के स्थान स्थान पर दर्शन होते हैं। जैन श्रमणों का सर्वमान्य नवकार महामंत्र इस गूढार्थ शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस महामंत्र में सर्वप्रथम ही "शत्रुओं को हनन करने वाले" को नमस्कार किया गया है। 'णमो अरहंताणाम्'। अहिंसा धर्म को सर्वोपरि स्थान देनेवालों ने शत्रुओं के मारने की बात कही, प्रकट में सुननेवालों को यह अटपटी लगती है। जब इसके वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान जाता है तो चित्त भक्ति विभोर हो जाता है।

यह थी गूढार्थ शैली जैन मनिषियों की। श्री आनन्दघनजी ने भी इसे अपनाया था। इस शैली में इन्होंने "बहुत्तरी" की रचना की। इसमें उन्हें

अच्छी सफलता मिली। जनता इनके पदों की ओर अत्यधिक आकृष्ट हुई। ये पद हमारे विचार से एक साथ नहीं बनाये गये थे। इनका रचना काल भी लम्बा मालुम पड़ता है। ऐसा लगता है कि समय-समय पर अलग-अलग स्थानों पर ये पद बनाये गये थे। चौबीसी की रचना पर विचार करने से तो यह अनुभव होता है कि चौबीसी की रचना के समय श्री आनन्दघन जैन आगम निष्णात हो चुके थे और साधना के उत्कृष्ट मार्ग पर अग्रसर थे। स्तवनों की गम्भीरता भी यही प्रकट करती है कि वह पूर्ण वयस्क तथा साधनारत थे। यह समय सं० १७०० के आस पास अथवा इससे कुछ अधिक होना चाहिये। जबकि वह प्रौढ़ अवस्था के लगभग होंगे। इनकी अवस्था के सम्बन्ध में विचार करते हुये इनकी रचनाओं के सम्पादकों ने लिखा है—"यह उपाध्याय श्री यशोविजयजी के समकालीन थे और श्री उपाध्याय जी का इनसे मिलन हुआ था। साथ ही श्री उपाध्यायजी से ये कुछ वयस्क भी थे। श्री उपाध्याय जी ने इनकी स्तुति में एक अष्टपदी की रचना भी की थी, जो इस प्रकार है :—

प्रथम पद राग—कानडो

मारग चलत चलत जात, आनन्दघन प्यारे रहत आनन्द भरपूर।
ताको सरूप भूप त्रिहूँ लोक ते न्यारो बरषत मुख पर नूर ॥१॥
सुमति सखी के संग नित नित दोरत कबहुँ न होत ही दूर।
'जसविजय' कहे सुनो आनंदघन ! हम तुम मिले हजूर ॥२॥

द्वितीय पद

आनंदघन को आनंद सुजश ही गावत रहत आनंद सुमता संग।
सुमति सखी और नवल आनंदघन मिल रहे गंग-तरंग ॥१॥
मन मंजन करके निर्मल कियो है चित्त, तापर लगायो है अविहड रंग।
'जसविजय' कहे सुनत ही देखो, सुख पायो भोत अभंग ॥२॥

तृतीय पद, राग—नायकी, चम्पक ताल

आनंद कोउ नहि पावै जोइ पावै सोइ आनंदघन ध्यावै।
आनंद कौन रूप कौन आनन्दघन, आनन्द गुण कौन लखावै ॥१॥

सहज सन्तोष आनन्द गुण प्रकटत, सब दुविधा मिट जावै ।
'जस' कहे सोही आनन्दघन पावत, अन्तर ज्योति जगावै ॥२॥

चतुर्थ पद

आनन्द ठोर ठोर नहीं पाया, आनन्द आनन्द में समाया ।
रति अरति दोउ सङ्ग लिये, वरजित अरथ ने हाथ तपाया ॥१॥
कोउ आनन्दघन छिद्रहि पेखत, जसराश सङ्ग चढि आया ।
अ.नन्दघन आनन्दरस झीलत, देखत ही 'जस' गुण गाया ॥२॥

पंचम पद, राग–नायकी

आनन्द कोऊ हम दिखलावो ।
कहँ ढूंढत तू मूरख पंछी, आनन्द हाट न त्रिकावो ॥ १ ॥
ऐसी दसा आनन्द सम प्रकटत, ता सुख अलख लखावो ।
जोइ पावै सोइ कछु न कहावत, 'सुजस' गावत ताको वधावो ॥ २ ॥

षष्ठ पद, राग–कानडो, ताल रूपक

आनन्द की गति आनन्द जाणे ।
वाहि सुख सहज अचल अलख पद, वा सुख 'सुजस' वखाने ॥ १ ॥
सुजस विलास जब प्रकटे आनन्द रस, आनन्द अक्षय खजाने ।
ऐसी दशा जब प्रकटें चित अन्तर, सोहि आनन्दघन पिछाने ॥ २ ॥

सप्तम् पद

एरी आज आनन्द भयो मेरे, तेरो मुख निरख निरख ।
रोम रोम सीतल भयो अंग अंग ॥ ऐरी ॥
सुद्ध समझण समता रस झीलत, आनन्दघन भयो अनन्त रंग ॥ १ ॥
ऐसी आनन्द दशा प्रकटी चितअन्तर ताको प्रभाव चलत निरमल गंग ।
वाही गंग समता दोउ मिल रहे, 'जसविजय' सीतलता के संग ॥ २ ॥

अष्टम् पद

आनन्दघन के संग सुजस ही मिले जव, तव आनन्द सम भयो 'सुजस'।
पारस संग लोहा जे फरसत, कंचन होत ही ताके कस ॥ १ ॥
खीर नीर जो मिल रहे 'आनंद' 'जस' सुमति सखी के संग भयो हैएकरस।
भव खपाइ 'सुजस' विलास भये, सिद्ध स्वरूप लिये धसमस ॥ २ ॥

इस अष्टपदी से कुछ बातें ध्वनित होती हैं जिससे आनंदघनजी की जीवन-यात्रा की झलक प्राप्त होती है। प्रथम तो यह है कि जिस समय उपाध्याय यशोविजय जी उनसे मिले उस समय आनन्दघनजी अपनी उत्कृष्ट साधना में रत थे और एकान्तवास में थे। वे तत्कालीन जैन साधु समाज को कदाग्रह, गच्छ भेद, और संकुचित पंथों के झगड़ों में फँसे हुए देखकर बहुत ही खिन्न मना हो गये थे। यह खिन्नता कई प्रकार से उन्होंने अपने स्तवनों में प्रकट की है—"चरम नयन करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सकल संसार"। "पुरुष परंपर अनुभव जोवता रे, अन्धोअन्ध पलाय," (श्री अजितनाथ जिनस्तवन) "गच्छना नां भेद वहु नयन निहालतां, तत्त्वनी वात करतां न लाजे उदर भरणादि निज काज करता थकां, मोहनडिया कलिकाल राजै" (श्रीअनंतनाथ जिन स्तवन) इस खिन्नता के साथ ही उनके यह उद्गार भी मनन योग्य हैं—"धानी डूंगर आडा अति घणा, तुज दरसण जगनाथ। धीठाई करी मारग संचरूं, सेगू कोई न साथ"। (श्री अभिनन्दन जिन स्तवन) और अन्त में अपनी यह भावना प्रकट कर, एकान्तवासी होकर उत्कृष्ट साधना में संलग्न हो गये—"काल लब्धि लही पंथ निहाल शूं रे, ऐ आसा अवलम्भ। ऐ जन जीवे जिनजी जाणज्यो रे, आनन्दघन मत अंब" (श्री अजितनाथ जिन स्तवन)।

श्री आनन्दघन जी के इस प्रकार एकान्तवासी होने से तथा उनके कुछ पदों के आधार पर (वे पद उनके नहीं हैं) लोगों ने अनुमान लगाया है कि आनन्दघन जी जैन साधुवेश त्याग कर, तुम्बा लेकर और लम्बा चोला पहिन कर मस्ती में घूमा करते थे लेकिन यह वात सर्वथा अयथार्थ, कपोल कल्पित और निराधार है। यदि वे इस प्रकार से जैन साधु-वेश त्याग कर घूमते तो

यशोविजय जी जैसे विद्वान, निष्ठावान साधु कभी भी आनन्दघन जी की स्तुति में अष्टपदी रचकर श्रद्धाव्यक्त नहीं करते। इस अष्टपदी के प्रत्येक पद में यशोविजय जी की उनके प्रति श्रद्धा और आनन्दघन जी की अपने श्रद्धेय के प्रति यथार्थ निष्ठा और उच्च साधना के दर्शन होते हैं।

श्री आनन्दघन जी की रचनाओं के सम्पादकों ने इनका जन्म सम्वत् १६६० के आस-पास तथा देहोत्सर्ग सं० १७३० के लगभग माना है। इस जन्म सम्वत् के अनुमान का कारण यह दिया है कि उपाध्याय श्री यशोविजय जी का स्वर्गवास सम्वत् १७४५ में वड़ोदा के अन्तर्गत डभोई गांव में हुआ था, जहाँ उनकी चरण-पादुका है। यह उसके लेख से प्रकट होता है। इसके आधार पर उपाध्याय श्री यशोविजय जी का जन्म सम्वत् १६७० के आसपास माना गया है। श्री उपाध्याय जी से श्री आनन्दघन जी जेष्ठ थे अतः इनका जन्म सम्वत् १६६० के आस-पास अनुमान किया गया है और श्री आनन्दघन जी के स्वर्गवास के सम्बन्ध में श्री प्रभुदास वेचरदास पारेख ने आनन्दघन चौवीसी के प्रथम संस्करण की भूमिका पृष्ठ १६ में लिखा है—"मेरी एक समय की यात्रा में प्रणामी सम्प्रदाय के एक साधु से भेट हुई। वार्तालाप के मध्य प्रसंगवश उन्होंने कहा कि हमारे सम्प्रदाय के संस्थापक श्री प्राणलाल जी महाराज सम्वत् १७३१ में मेड़ता गये थे, वहाँ उनकी लाभानन्द जी उपनाम आनन्दघन जी से भेट हुई थी और उसी वर्ष अर्थात् सम्वत् १७३१ में उनका (आनन्दघन जी का) देहोत्सर्ग हो गया था। यह वर्णन श्री प्राणलाल जी महाराज के जीवन चरित्र में लिखा मिलता है"। "निजानन्द चरितामृत" के पृ० ५१७ से इस वर्णन की पुष्टि होती है कि श्री प्राणलाल जी महाराज मेड़ता गये थे और श्री आनन्दघन जी से उनकी भेंट हुई थी। पुनः जब वे सं० १७३१ में मेड़ता गये तब उनका स्वर्गवास हो चुका था।

उक्त अवतरण से यह तो निश्चित हो जाता है कि श्री आनन्दघन जी का स्वर्गवास सं० १७३१ मे हुआ था।

ऊपर के विवेचन का सार यह है कि—श्री कापड़िया जी पदों की रचना पहिले और चौवीसी की रचना आयु के शेष भाग में मानते हैं

श्री बुद्धिसागर जी स्तवनों की रचना पदों से पूर्व मानते हैं। जन्म और देहोत्सर्ग के सम्बन्ध में दोनों के विचार समान हैं कि श्री आनन्दघन जी १७वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से १८वीं शताब्दी के प्रथम तीन दशक तक थे"।

श्री आनन्दघन जी की भाषा व जन्मभूमि

चौवीसी और पदों के सब ही सम्पादकों, श्री देसाई तथा आचार्य क्षितिमोहनसेन ने उक्त विषय पर अपने अपने विचार व्यक्त किये हैं। श्री बुद्धिसागर सूरिजी ने श्री आनन्दघन जी की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है—"श्रीमद पहला चौवीसी रची। श्रीमदनी रचना मा गुर्जर भाषानां घरगथु (ठेठ गुजराती) शब्दों ने पेठे मारवाडी घरगथु शब्दोनो प्रयोग आव्या विना रहेन नाहि। तेथी गुजराती भाषा ना घरगथु शब्दोंनां प्रयोग थी ते गुजरातना हता, एम सिद्ध थाय छे।" (भूमिका पृ० १५४)

श्री कापड़िया जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"मि० मनसुख लाल रवजी भाई मेहता 'जैन काव्य दोहन' प्रथम भागना उपोदघात मां जे अनुमानों उपर आनन्दघनजीना सम्बन्ध मां दोरवाई गया छे ते बंध बेसता नथी........ ते ओ जे भाषा ने विशेष काठियावाडी संस्कार वाली कहे छे अने मुनि बुद्धिसागर जी जेने गुजराती कहे छे" (उपोदघात पृ० ५८) तत्पश्चात् श्री कापड़िया जी ने स्तवनों और पदों के बहुत से शब्द देकर यह सिद्ध किया है कि श्री आनन्दघन जी की भाषा को काठियावाड़ी या गुजराती कहना भूल है। श्री कापडियाजी का कहना है कि जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग श्री आनन्दघन जी ने किया है वैसी भाषा बुन्देलखण्ड में बोली जाती है। यह उन्होंने अपने गुरु श्री गम्भीर विजय जी से सुना है, जिनका जन्म बुन्देलखण्ड में हुआ था।

श्री प्रभुदास बेचरदास पारख ने अपनी सम्पादित चौवीसी के—जो सं० २००६ में प्रकाशित हुई है—उपोदघात् पृ० २४ में लिखा है—"श्री-आनन्दघन जी की चौवीसी गुजराती भाषानु भाषा दृष्टि थी पण एक अनमोल रत्न छे" इनके इस कथन से ऐसा लगता है कि श्री पारेख जी ने उस समय तक के प्रकाशित आनन्दघन जी सम्बन्धी साहित्य पर दृष्टि नहीं डाली। प्रसिद्ध

जैन इतिहासज्ञ श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने महावीर जैन विद्यालय रजत स्मारक ग्रंक में लिखा है—"ग्रा पदो शुद्ध हिन्दी-व्रज भाषा मां रच्या छे. पण गुजराती लहिया (लेखक) अने प्रकाशकोए तेमने लखवा, छपाववा थी तेमां गुजराती पणु थइ गयु छे अने हिन्दी नहि समजवाथी घणी अशुद्धियां रही गइ छे। आथी ते पदोनु शुद्ध संस्करण कोई हिन्दी मर्मज्ञ विद्वान पासे करावी ने प्रकट करवानी खास जरूरी छे"।

ग्राचार्य क्षितिमोहन सेन एम. ए. शास्त्री ने श्री ग्रानन्दघनजी, उनके पदों तथा भाषा पर "वीणा" पत्रिका के नवम्बर, सन् १६३८ के ग्रंक में लिखा है—"ग्रन्य प्रमाण के ग्रभाव में भजन की भाषा से किसी व्यक्ति का देश ग्रनुमान करना कठिन है। जो लोग भजनों को वहन करते थे उनके मुख से भी उनमें कुछ विलक्षणता ग्राजाती थी। ग्रानन्दघन की भाषा पर राजस्थानी ग्रौर गुजराती का बहुत प्रभाव है। उसमें कितना प्रभाव पदकर्त्ता का है ग्रौर कितना प्रभाव संग्रहकर्त्ता का है, इसका निर्णय करना कठिन है। मोतीचन्द कापडिया महाशय ने श्री गम्भीरविजयजी गणी द्वारा सुना है कि ऐसी भाषा की सम्भावना बुन्देलखण्ड में ही सकती है। गम्भीरविजयजी का जन्म बुन्देलखण्ड में हुग्रा है। वे समझते हैं कि ऐसी विशेषतायें केवल उनकी जन्मभूमि में ही हो सकती है किन्तु पूर्वी राजपूताने के भी बहुत से भक्तों की ऐसी भाषा दिखाई देती है ग्रौर सब देशों में ही ग्रानन्दघन के पूर्व ग्रौर बाद में भी बहुत से भक्तों का जन्म हुग्रा था। जैन साधुग्रों की साक्षी के ग्रनुसार ग्रानन्दघन का ग्रन्तिम जीवन पश्चिमी राजपूताने के मेड़ता नगर में बीता था। उनकी रचनाग्रों में जो गुजराती ग्रौर राजस्थानी प्रभाव हैं वह बुन्दलखण्ड में कैसे सम्भव हो सकता है? राजस्थान की रचना में ही यह खूबी मिलती है। इसलिए मैं ठीक ठीक नहीं समझ सका कि राजपूताना ही ग्रानन्दघन का जन्म स्थान क्यों न माना जाय?"

ऊपर के अवतरणों से स्पष्ट हो जाता है कि चौबीसी ग्रौर पदों के सम्पादकों ने श्रीग्रानन्दघनजी की भाषा ग्रौर जन्मभूमि के सम्बन्ध में जो विचार दिये हैं, वे पक्षपातपूर्ण हैं। वे समझते हैं कि उत्कृष्ठ रचनाकार ग्रौर

संभवतः गुजरात की ही भूमि में अवतीर्ण हो सकते हैं। निष्पक्ष विचार तो इनमें श्री देसाई और श्री आचार्य सेन के ही हैं। यह बात निश्चित सी है कि रचनाकार सदा से ही लोक में प्रचलित काव्य भाषा में अपने विचार प्रकट करते आये हैं। जिस समय काव्य भाषा संस्कृत और प्राकृत भाषायें थी उस समय कवियों ने इन दोनों भाषाओं में ही अपने अपने उद्गार प्रकट किये थे। जब लोक भाषा अपभ्रंश का जोर बढ़ा तो महाकवि कालीदास जैसे उद्भट विद्वान अपभ्रंश भाषा मे लिखने से दूर नहीं रहे। विक्रमोर्वशी इसका उत्तम उदाहरण है। अपभ्रंश भाषा के पश्चात जो भाषा काव्य के लिए उत्तर भारत में स्वीकृति हुई उस विकसित भाषा का नाम विद्वानों ने—जो अन्तरवेद से लेकर गुजरात तक मे प्रसार पा चुकी थी—"पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी" रखा। पूर्व में तो फिर काव्य भाषा मैथली, व्रज, अवधी स्वीकृत हो गई और पश्चिम में वही काव्य भाषा रही जिसका नाम आगे चलकर 'पश्चिमी राजस्थानी गुजराती हिन्दी' प्रसिद्ध हो गया। श्री आनन्दघन जी के समय में यही भाषा काव्य के लिए स्वीकृत थी। श्री आनन्दघन जी ने इसी भाषा में अपने उद्गार प्रकट किये। तत्कालीन अन्य रचनाकारों की रचनायें देखने से इस बात की पुष्टि हो जाती है। चूं कि जैन सतों की विहार स्थली राजस्थान और गुजरात अधिकाश मे रही, इसलिए उनकी रचनाओं में गुजराती शब्दों का आना अनिवार्य था। इसी कारण श्री आनन्दघन जी की रचनों में गुजराती के कुछ शब्द प्रवेश पा गये हैं, वरना उनकी भाषा तो 'पश्चिमी राजस्थानी गुजराती हिन्दी ही है। इससे उनकी भाषा को गुजराती, बुन्देली, अथवा काठोयावाड़ी और उनका जन्म गुजरात, बुन्देलखण्ड, काठीयावाड मे अनुमान करना निष्पक्ष विचार के द्योतक नहीं हैं। प्रमाणाभाव में उनकी गुरुपरंपरा, जन्मस्थान आदि का अनुमान करना कठिन है। अन्तिम समय में वह मेड़ता मे रहे, वहीं उनका स्वर्गवास हुआ, इससे आभास होता है कि राजस्थान से उनका लगाव था। यही कहीं उनकी जन्मभूमि हो सकती है।

अब हमारा यहाँ एक नम्र निवेदन है कि स्तवनों और पदों की विस्तृत व्याख्या न करके उनका संक्षिप्त में ही इस प्रकार अर्थ दिया है कि पाठक उनके हार्द तक पहुँच सकें। संभव है, इसमें अनेक त्रुटियां रह गई हों, इसका दायित्व

हमारी अल्पज्ञता पर ही है। इसके लिए हम क्षमा के पात्र हैं। हमारा यह प्रयास तो सूर्य को दीपक दिखाने मात्र ही है। हमारी त्रुटियों की अथवा आगम विरुद्ध आशय की ओर ध्यान आकर्षित करने वाले महानुभावों के विचारों का हम कृतज्ञता पूर्वक सहर्ष स्वागत करेंगे।

अन्त में हम श्री अगरचन्द जी नाहटा के प्रति आभारी हैं जिनकी समय समय पर हमें बहुमूल्य सलाह मिलती रही है और जिन्होंने अपने संग्रह का उपयोग हमें स्वच्छन्दतापूर्वक करने दिया और फिर ग्रन्थावली के लिए प्रारम्भिक वक्तव्य लिख भेजा जिससे कई नई बातों पर प्रकाश पड़ता है। श्री जवाहर चन्द जी पटनी को हम नहीं भूल सकते जिन्होने इस पुस्तक के लिए हमारी प्रार्थना स्वीकार कर भूमिका लिख भेजी है। अत: हम उनके कृतज्ञ हैं। महात्मना मुनिवर्य श्री नथमल जी स्वामी के सम्मुख तो करबद्ध नतमस्तक हैं जिन्होने अपने व्यस्त कार्यक्रमों में से समय निकालकर इस पुस्तक के लिए "प्राग्वाच्य" लिख दिया। इसके साथ ही हम "आनन्दघन चौबीसी याने अध्यात्म परमामृत" के लेखक मुनिश्री गब्बूलाल जी महाराज और इसके गुजराती लेखक श्री मंगल जी उद्धव जी शास्त्री, 'आनन्दघन पद्य रत्नावली' के सम्पादक श्री साराभाई मणिलाल नवाब, आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरीश्वर जी तथा इन पुस्तकों के प्रकाशकों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनकी पुस्तकों से हमने श्री आनन्दघन जी के कुछ पद और स्तवन अपनी ग्रंथावली में साभार उद्धृत किये हैं।

जय आनन्दघन

विनीत :

स्व० उमरावचन्द जैन जरगड़

महताब चन्द्र खारैड़

प्रासंगिक वक्तव्य

—श्री अगरचन्द नाहटा—

जैन धर्म में आत्मा को ही सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। अतः वह आत्मवादी दर्शन है। मनुष्य अपने पुरुपार्थ से ही परमात्मा बनता है। परमात्मा एक व्यक्ति नहीं, स्थिति है। इसलिए जैन धर्म में भगवान महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है। अपने बुरे विचारों और क्रियाओं से दुर्गति और अच्छे विचारों से सद्गति-अर्थात् सुख-दुख-प्राप्त करता है। कर्मो का बन्धन करने वाला वही है। कर्मो का शुभाशुभ परिणाम भी करने वाले को ही भोगना पड़ता है। अपने प्रयत्न या स्वभाव में स्थिति होने से आत्मा कर्मो से मुक्त हो जाता है, पर होता है। अपने पुरुपार्थ से है। जिस तरह अन्य दर्शनों में ईश्वर को कर्ता-धर्ता माना गया है उसी तरह जैन दर्शन में आत्मा को ही कर्ता-भोक्ता माना है। आत्म-दर्शन ही सम्यक्-दर्शन है और सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। इस आध्यात्मिक परंपरा में समय-समय पर अनेक योगीध्यानी पुरुप हो गये हैं जिनमें से १७वीं के अन्त और १८वीं के प्रारंभ में श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के खरतर गच्छ में लाभानन्द नामक एक योगिराज हो गये हैं जिनका आत्मा-नुभव मूलक प्रसिद्ध नाम आनन्दघनजी है। उन्होंने अपनी साधना से बहुत ऊंची स्थिति प्राप्त करली थी। उनकी रचनाओं में बाईस तीर्थंकरों के बाईस स्तवन और लगभग एक सौ पद तथा पाँच सुमति की सज्झायें ही प्राप्त हैं। उनकी प्राप्त समस्त रचानाऐं ही इस ग्रन्थ में दी गई हैं अतः इसका नाम ही आनन्दघन-ग्रन्थावली रखा गया है।

बाल्यकाल से ही मैं आनन्दघनजी के स्तवन एवं पदों को सुनकर आनन्द प्राप्त करता रहा हूँ। आगे चलकर जब जैन-साहित्य की शोध का काम प्रारम्भ किया तो आनन्दघनजी की रचनाओं की भी खोज की गई। स्तवनों और पदों के अनेक हस्तलिखित प्रतियों का अवलोकन, नकल, पाठान्तर और

संग्रह का कार्य किया गया। गुजराती में उनके बाईस स्तवनों तथा २ ग्रन्थों की पूर्ति मिला चौवीसी पर कई विवेचन देखने में आये और पदों पर भी योगनिष्ठ बुद्धिसागरसूरिजी और स्वाध्याय-प्रेमी मोतीचन्द कापड़िया के विवेचन पढ़ने को मिले। पर हिन्दी में स्तवनों और पदों का कोई विवेचन नहीं मिलने से कई वर्षों से यह प्रयत्न चल रहा था कि इस अभाव की पूर्ति शीघ्र ही की जाय। आनन्दघनजी की रचनाएं बड़ी गूढ़ और रहस्यपूर्ण हैं। अतः विवेचन के बिना साधारण पाठक उनके रहस्य या मर्म को नहीं प्राप्त कर सकता। उन्हें गाकर भाव विभोर तो हो सकता है पर भावों को हृदयंगम नहीं कर सकता।

कुछ वर्ष पूर्व जयपुर से श्री उमरावचन्द जी जरगड़ अपने जवाहरात के व्यापार के सिलसिले में बीकानेर आये। उनसे बातचीत होने पर उनमें कुछ चिंतन और लेखन की प्रतिभा का आभास हुआ। तब मैंने उनको प्रेरणा दी कि आप श्रीमद् आनन्दघनजी और देवचन्दजी की रचनाओं पर हिन्दी में विवेचन लिखिए। उन पर चिंतन करने से स्वयं आध्यात्मिक भावो से ओत-प्रोत होंगे और विवेचन लिखने पर दूसरों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। उन्हें वह बात जँच गई और श्री देवचन्दजी की चौवीसी और स्नात्र-पूजा पर हिन्दी विवेचन लिख डाला जो श्रीजिनदत्तसूरि सेवा संघ से प्रकाशित हो चुका है। देवचन्दजी की कुछ प्रेरणादायक रचनाओं का संग्रह भी छोटी पुस्तक के रूप में उनने प्रकाशित करवा दिया।

योगीराज श्रीमद् आनन्दघनजी की रचनाओं पर विवेचन लिखना साधारण काम नहीं था, इसलिए उनने काफी समय तक जहां जो कुछ मिला पढ़ा और सग्रह किया। मैंने भी आनन्दघनजी की बाईसी पर जो सर्वोत्तम विवेचन श्रीमद् ज्ञानसारजी का लिखा मिलता है, उसे उन्हें दे दिया और अन्य भी जो जानकारी एवं सामग्री उन्हें आवश्यक थी, देता रहा। निरंतर प्रेरित करते रहने से उनने आनन्दघनजी की रचनाओं पर विवेचन लिखना प्रारम्भ भी कर दिया पर इस कार्य को वे पूरा करके अन्तिम रूप नहीं दे पाये। इसी बीच वे अस्वस्थ हो गये और उनकी मानसिक स्थिति गिरती ही गई। अतः वह काम अधूरा ही पड़ा रहा। हर्ष की बात है कि श्री महतावचन्दजी खारेड़

ने उस काम को बहुत परिश्रम करके पूरा कर दिया और अब वह पाठकों को प्रकाशित रूप में सुलभ हो रहा है।

श्री जरगड़जी की धर्मपत्नी भी आध्यात्मिक प्रेमी है। उन्हें भी उनकी विद्यमानता में ही इसे प्रकाशित रूप में देखने की बड़ी इच्छा थी पर खेद है कि जरगड़जी की विद्यमानता में यह काम पूरा नहीं हो पाया। यद्यपि मैं इसके लिए बहुत प्रेरणा देता रहा पर संयोग नहीं था। अब जरगड़जी की धर्मपत्नी और सुपुत्र विजयचन्दजी इसे प्रकाशित करवा कर श्री जरगड़जी की अन्तिम इच्छा को पूर्ण कर रहे हैं। यह बहुत खुशी की बात है। मुझे भी इससे अपार हर्ष हो रहा है।

आनन्दघनजी का मूलतः गच्छ

श्रीमद् आनन्दघनजी वैसे तो गच्छातीत ही नहीं, संप्रदायातीत स्थिति को पहुँच चुके थे फिर भी मैंने प्रारम्भ में जो उन्हें खरतरगच्छ का बतलाया है उसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हूँ।

[1]बीसवीं शताब्दी के खरतरगच्छीय महान गीतार्थ आचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी ने श्री बुद्धिसागर सूरिजी को बतलाया था कि आनन्दघनजी मूलतः खरतरगच्छ में दीक्षित हुए एवं उनकी परंपरा के यति उनके समय में थे। उनका उपासरा मेड़ते में विद्यमान है जो उस खरतरगच्छ संघ के ही आधीन था।

[2]आनन्दघनजी का दीक्षावस्था का नाम लाभानन्द था। उसमें जो 'आनन्द' नामांत पद है उसका प्रयोग खरतरगच्छ की चौरासी नन्दियों (नामांत पदों) में होता रहा है। लाभानन्दजी नाम के एक और भी मुनि खरतरगच्छ में १९वीं शताब्दी में हुए हैं। अर्थात् लाभानन्द ऐसे नाम रखने की परम्परा खरतरगच्छ में ही रही है।

---

१. मोतीचन्द कापड़िया लिखित आनन्दघनजी ना पदों की प्रस्तावना पृष्ठ २१ की टिप्पणी।

२. 'लाभानन्द की जगह कईयों ने लाभविजय जी लिख दिया है, वह गलत है। लाभानन्दजी लेख वाला हमें १ पद भी मिल गया है।

तीसरा एक समकालीन महत्त्वपूर्ण लिखित उल्लेख मुझे और प्राप्त हो गया है। १८वीं शताब्दी की खरतरगच्छीय बीकानेर भट्टारकीय गद्दी के श्री पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी को मेड़ता से एक पत्र उपाध्याय पुण्यकलश, मुनि जयरंग चारित्रचन्द्र आदि ने सूरत भेजा था। वह पत्र आगम प्रभाकर स्वर्गीय मुनि श्री पुण्यविजयजी के संग्रह में हमें देखने को मिला। उस पत्र में लिखा है—"पं० सुगुणचन्द अष्टसहस्री+ लाभाणंद आगइ भणई छइ। अर्द्ध रइ टाणइ भणी। घणु खुसी हुई भणावई छई।"—इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि लाभानन्द, उपाध्याय पुण्यकलश आदि से दीक्षा में छोटे थे। इसलिए उनके नाम के आगे कोई विशेषण नहीं लगाया गया। पं० सुगुणचन्द्र उस समय लाभानंदजी के पास अष्टसहस्री ग्रंथ पढ़ रहे थे। आधा करीब लाभानंदजी उन्हें पढ़ा चुके थे। बहुत प्रसन्न होकर वे पढ़ा रहे थे, इसका उल्लेख जिनचन्द्रसूरिजी को सूचना देने के लिए इस पत्र में किया गया है। उस समय मुनिगण प्रायः अपने ही गच्छ के विद्वान् से पढ़ते थे और जिस रूप में लाभानंदजी का इस पत्र में उल्लेख किया है उससे वे मूलतः खरतरगच्छ के ही सिद्ध होते हैं। यद्यपि उनको गच्छ का कोई राग या आग्रह नहीं था पर केवल उनकी परंपरा बतलाने के लिए ही मैंने उपर्युक्त विवरण दिया है क्योंकि तपागच्छ वाले* उपाध्याय यशोविजयजी से आनंदघनजी का मिलना हुआ था, इस बात को लेकर उन्हें तपागच्छीय बतलाते रहे हैं। अतएव वास्तविक स्थिति जो ऐतिहासिक तथ्यों के आधार से मुझे विदित हुई है, वही पाठकों के सामने यहां उपस्थित की गई है।

आनन्दघन-यशोविजय मिलन

उपाध्याय यशोविजयजी महान् विद्वान् थे। उनने आनंदघन से मिलकर अष्टपदी में जो प्रसन्नता प्रकट व्यक्त की है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अष्ट-

× इससे आनंदघन केवल योगी व साधक ही नहीं, बड़े विद्वान् सिद्ध होते हैं।

* जैनतत्वादर्श के उल्लेखानुसार पं० सत्यविजय आनंदघनजी के साथ कई वर्ष वनादि में विचरे थे कहा जाता है पर पं० सत्यविजय रासादि में उल्लेख नहीं होने से वह कथन प्रामाणिक नहीं लगता।

पदी के अतिरिक्त एक अन्यपद से भी उन दोनों महापुरुषों का मिलन सिद्ध होता है। विवेचन में यह पद उद्धृत किया है—

मेरो निरंजन यार कैसे मिले।
दूर देखूं तो दरिया डूंगर, ऊंचे अंबर धरणि तलै ॥मे०॥
धरणि गडूं तो सूझै नहीं, अगन तपूं तो देही जलै ॥
'आनन्दघन' 'जसां' सुन वातैं, सोई मिल्यां मेरो फेरो टलै ॥मे०॥

इसमें 'जसा' शब्द का प्रयोग उपाध्याय यशोविजयजी के लिए ही किया गया प्रतीत होता है।

(यह प्रस्तुत ग्रन्थ का पद नं० ११९ है।)

यशोविजय रचित बावीसी बालावबोध

सं० १७६७ कार्तिक सुदि २ को पाटन में उपाध्याय यशोविजय की रचनाओं की सूची का एक पत्र लिखा गया था। उसमें नं० ११ पर 'आनन्दघनजी बावीसी बालावबोध' का भी नाम है। अर्थात् यशोविजयजी ने आनन्दघनजी के बाईस स्तवनों पर विवेचन लिखा था, पर खेद है उपाध्याय यशोविजयजी जैसे महान् विद्वान् की रची हुई जैसे और भी अन्य बहुत सी रचनाएं अप्राप्य हो चुकी हैं, वैसे ही यह आनन्दघन बावीसी बालावबोध भी अब कहीं प्राप्त नहीं होता। यदि यह कहीं मिल जाता तो आनन्दघनजी के विषय में अवश्य ही कुछ महत्त्वपूर्ण बातें जानने को मिलती। एवं स्तवनों का सही पाठ व भाव अधिक स्पष्ट होता। जैन गुर्जर कवियो, भाग २ पृष्ठ २५ में पाटण भण्डार के उस पत्र का उल्लेख है जिसमें यशोविजयजी की रचनाओं में बावीसी बालावबोध का भी नाम है।

बावीसी या चौवीसी ?

आनन्दघनजी की बावीसी के स्तवनों पर अभी जो सबसे पहला विवेचन प्राप्त है वह ज्ञानविमलसूरि रचित है। पर उन्हें भी यशोविजयजी का वह विवेचन प्राप्त नहीं हुआ था। इसीलिए उनका विवेचन बहुत साधारण और कहीं-कहीं गलत भी हो गया है, इसका उल्लेख ज्ञानसारजी ने अपने विवेचन में अनेक जगह किया है। यशोविजयजी, ज्ञानविमलसूरि और ज्ञानसारजी सभी

को आनन्दघन जी के वाईस स्तवन ही प्राप्त थे, इसलिए अन्य जो दो प्रकार के दो-दो स्तवन पार्श्वनाथ और महावीर के स्तवन आनन्दघनजी के नाम से प्राप्त होते हैं, उनमें दो तो श्रीमद् देवचन्द्रजी रचित हैं+। यह ज्ञानसारजी के विवेचन में स्पष्ट लिखा है। अतः वाकी जो दो स्तवन और रह जाते हैं, मेरी राय में वे यशोविजयजी के रचित हो सकते हैं। क्योंकि जिस तरह ज्ञान-विमलसूरि और ज्ञानसारजी ने वाईस स्तवनों का विवेचन लिखने के वाद पूर्ति के रूप में अन्तिम दो स्तवन अपनी ओर से वनाकर चौवीसी की पूर्ति की थी उसी तरह यशोविजयजी ने भी वावीसी पर विवेचन लिखने के वाद अन्तिम दो स्तवनों को स्वयं वनाकर पूर्ति की होगी। श्रीमद् देवचन्दजी को भी आनन्द-घनजी के वाईस स्तवन ही मिले। इसलिए उन्होंने अन्तिम दो स्तवन स्वयं वनाकर चौवीसी की पूर्ति की। हमारे संग्रह के एक गुटके में आनन्दघनजी की चौवीसी लिखी हुई है उसमें अन्तिम दोनों स्तवनों के रचयिता स्पष्ट रूप में देवचन्द्रजी को वतलाया है। सौभाग्य से हमें आनन्दघनजी के वावीस स्तवनों की एक प्राचीनतम प्रति भी मिल गई है जिसमें वावीस स्तवन ही लिखे हुये हैं। कारण कुछ भी रहा हो पर इन सव वातों से स्पष्ट है कि आनन्दघनजी ने वाईस स्तवन ही वनाये थे। पीछे के पार्श्वनाथ और महावीर के स्तवन अन्य जैन कवियों ने वनाकर चौवीसी की पूर्ति की है।

पू० सहजानन्दजी की पूर्ति चैत्यवंदन एवं स्तुति

यहाँ एक नई सूचना भी देना आवश्यक समझता हूँ कि आनंदघनजी ने वाईस स्तवन ही वनाये थे पर मन्दिरों में स्तवन से पहिले चैत्यवन्दन और स्तवन के वाद स्तुति भी (अन्य नमोत्थुणं जय वीयराय आदि के साथ) वोली जाती है। अतः चैत्यवन्दन और स्तुति की पूर्ति के रूप में पूज्य सहजानंदजी ने २४ चैत्यवन्दन और २४ स्तुतियां भी आनंदघनजी के भावों के साथ ताल-

---

+ प्रस्तुत ग्रन्थ में २२ स्तवनों के वाद जो पार्श्वनाथ और महावीर स्तवनों को जो ज्ञानविमल सूरि के कहे जाते हैं लिखा है वे वास्तव में श्रीमद् देवचन्दजी के हैं। ज्ञानविमलजी ने पूर्ति रूप जो दो स्तवन वनाये हैं उनको मैंने तो ज्ञानविमल नाम दिया है।

मेल बनाने वाली बनादी है, जो 'सहजानंद पदावली' आदि में प्रकाशित भी हो चुकी है।

पद बहुतरी

आनंदघनजी की दूसरी प्रमुख रचना है—गीत द्रुपद या आध्यात्मिक पदावली। योगीराज ने समय-समय पर अपने हृदयोद्‌गार और अनुभूति के व्यक्तिकरण रूप जो पद-भजन बनाये हैं, वास्तव में वे एक ही समय पर नहीं बने थे इसलिए पद-संग्रह का नाम 'बहोत्तरी' आदि उनकी ओर से नहीं रखा गया था। प्राचीन प्रतियों में बहोत्तर (७२) पद मिलते भी नहीं हैं, किसी में चालीस-पैंतालीस के करीब हैं, किसी में साठ-सत्तर। अतः उन्नीसवीं शताब्दी में किसी संग्रहकर्त्ता ने आनंदघनजी के प्राप्त पदों का संग्रह किया और उनकी संख्या चौहत्तर-पचहत्तर के लगभग हो गई तब शायद पद संग्रह का नाम बहोत्तरी रख दिया गया। संवत् १८५७ की लिखी हुई प्रति हमें प्राप्त हुई है जिसमें ७४–७६ पद है पर उसमें पद संग्रह का नाम बहोतरी नहीं दिया है परन्तु आनंदघनजी के सर्वाधिक मर्मज्ञ श्रीमद् ज्ञानसागरजी ने आनंदघनजी के अनुकरण में जो चौहत्तर पद बनाये हैं उनका नाम उन्होंने 'बहोतरी' रखा है। अतः उन्नीसवीं शताब्दी में आनंदघनजी का पद संग्रह 'बहोतरी' के नाम से प्रसिद्ध हो गया मालूम देता है।[+] इसके बाद चिदानन्दजी ने भी समय-समय पर जो पद स्तवन बनाये उनकी संख्या भी बहत्तर (७२) तक पहुँच गई। अतः चिदानंदजी की बहोतरी प्रसिद्ध हो गई। बहत्तर (७२) सख्या का आकर्षण अठारहवीं शताब्दी से रहा है। जिनरंगसूरिजी ने बहत्तर पद्यों वाली एक रचना को जिनरंग बहोतरी नाम दिया जो अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है।

स्तवनों एवं पदों के समर्थ विवेचक ज्ञानसारजी

श्रीमद् ज्ञानसारजी ने आनंदघनजी के स्तवनों और पदों पर वर्षो तक गंभीर चिंतन किया था। चौबीसी बालावबोध में ज्ञानसारजी ने स्पष्ट लिखा

१.[+] हमें प्रवर्त्तक कांतिविजय के सग्रह की सं० १८९० की प्रति में बहुतरी नाम लिखा मिला है। इससे पहले की सं० १८७१ की बनारस की प्रति के अन्त में 'बहुतरी' लिखा है। दे. जै. गु. क. भाग ३

है कि सं० १८२६ से मैंने आनंदघनजी के स्तवनों पर चिंतन करना प्रारम्भ किया। ३७ वर्ष तक चिंतन चलता रहा, अनेकों से पूछा पर संतोष नहीं हुआ। अन्त में वृद्धावस्था आने लगी देखकर सं० १८६६ में किशनगढ़ में चौमासा करते हुए आनन्दघनजी के बावीस स्तवनों पर उन्होंने 'बालाववोध-भाषाई टीका एवं विवेचन' लिखा। उसमें उन्होंने आनंदघनजी का आशय अति गहन-गंभीर है। उनके भाव को ठीक से समझने की मेरी पहुँच नहीं है, यह स्पष्ट लिखा है। योगीराज कविजी की महानता और अपनी लघुता तथा पूर्व बालाववोध के लेखक ज्ञानविमलसूरि की असमर्थता पर उन्होंने अनेक जगह उल्लेख किया है।

ज्ञानसारजी ने एक बार विवेचन लिखकर ही सन्तोष नहीं किया। उन्होंने कई बार इसमें संशोधन, परिवर्द्धन किया है। हमें उनके बालाववोध की दो तरह की प्रतियाँ मिली है+ जिनसे मालुम होता है कि सं० १८६६ के बाद उन्होंने अपने बालाववोध में जगह-जगह पर आनंदघनजी की उक्तियों के साथ-साथ अपनी ओर से भी बहुत से दोहे आदि बनाकर (यदुक्ति के उल्लेखन) आनंदघनजी के भावों को अधिक स्पष्ट और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। खेद है, भीमसी माणेक आदि ने ज्ञानसारजी के विवेचन को मूलरूप में प्रकाशित नहीं कर संक्षेप कर दिया और भाषा भी बदल दी। हमने मूल विवेचन की प्रतिलिपि कर रखी है यदि आर्थिक सहयोग मिला तो उसे प्रकाशित करने का विचार है। ज्ञानसारजी के पदादि में आनंदघनजी का प्रभाव व अनुकरण स्पष्ट है। आ. जयसागर सूरिजी ने ज्ञानसागर जी को "लघुआनंदघन" बतलाया है।

ज्ञानसारजी ने आनंदघनजी के स्तवनों के साथ-साथ उनके पदों का विवेचन भी लिखना प्रारम्भ कर दिया था पर संम्भवतः वे सब पदों पर विवेचन लिख नहीं पाये। पद विवेचन की हमें दो-तीन प्रतियाँ मिली उनमें तो

\+ हमारे संग्रह में सं० १८६६-७१ की लिखित बालाववोध की प्रति के पत्र भी हैं, जिनमें लिखा है कि ज्ञानसारजी की स्वयं लिखित प्रति से नकल की हैं। बड़े संस्करण की भी हमारे यहाँ प्रति है।

केवल तेरह पदों का ही वालाववोध था। पर ढूंढते-ढूंढते एक प्रति ऐसी मिली जिसमें और भी १८ पदों का विवेचन मिल गया। फिर भी श्रीजिन कृपाचन्द्र सूरिजी ने जिस जैतारण की प्रति की सूचना दी थी उसमें करीब ४० पदों का विवेचन था[1]। वह प्रति हमें प्राप्त न हो सकी। अभी हमें ३१ पदों से अधिक का विवेनच ही मिल गया है। उसमें एक पद के विवेचन में ज्ञानसारजी ने लिखा है कि आनंदघनजी पहिले वैष्णव संप्रदाय में थे फिर जैन में दीक्षित हुए।[2]

यदि ज्ञानसारजी रचित आनंदघनजी के पदों का विवेचन, परवर्ती विवेचक वुद्धिसागर सूरि को मिल गया होता तो अवश्य ही उनका विवेचन और अधिक ज्ञानवर्द्धक वन जाता। वुद्धिसागर सूरिजी को ५० पदों की गम्भीरविजय विवेचन की एवं माणकलाल घेलाभाई की ३६ पद-विवेचन की नोट वुक मिली थी।

मैंने कहीं उल्लेख पढ़ा था कि आनंदघनजी के कुछ पदों पर विवेचन पं० लालन ने भी लिखा था पर वह मुझे प्राप्न नहीं हो सका। फुटकर रूप से तो कुछ पदों का विवेचन अन्य विद्वानों का भी किया हुआ मिलता है पर समस्त पदों का विवेचन योगनिष्ठ वुद्धिसागर सूरिजी व मोतीचन्द कापड़िया का ही प्रकाशित हुआ है। इन दोनों में कापड़ियजी[3] का विवेचन काफी विस्तृत और अच्छा है क्योंकि गम्भीरविजयजी जैसे विद्वान का उन्हें सहयोग मिल गया था। वहुत से पदों का संक्षिप्त विवेचन गम्भीरविजयजी ने किया उसे कापड़ियाजी या उनके साथियों ने नोट कर लिया था उसे अपनी ओर से अधिक विस्तृत कर दिया। देशाई संग्रह में पद विवेचन की हमें एक नकल मिली है सम्भवतः वह विवेचन माणकलाल घेसाभाई का हो।

---

१. 'वुद्धिप्रभा' सन् १९१२ जनवरी-फरवरी अंक।

२. वैष्णव संप्रदायी भक्त कवि आनंदघन, जैन आनंदघन से बहुत पीछे हुए हैं। इनके समय में १०० वर्ष का अंतर है। संभवतः नाम साम्य के कारण श्री ज्ञानसारजी को भ्रम हो गया हो। (सम्पादक)

३. कापड़िया को १ अपूर्ण १ पूर्ण वालोववोध सहित प्रति मिली जिसका उपयोग उन्होंने किया। यह ज्ञानसारजी कृत ही होगा।

पाठभेद

आनंदघनजी के स्तवनों के पाठ में भी भिन्न-भिन्न प्रतियों में काफी पाठ-भेद मिलते हैं। मुनि श्री जम्बुविजयजी ने कई प्रतियों के आधार से पाठ-भेद सहित प्रेस कॉपी तैयार की थी और उसको वे प्रकाशित करने वाले भी थे। मुझे नौ स्तवनों का प्रूफ भी उन्होंने एक वार भेजा था पर पता नहीं क्यों उसका प्रकाशन स्थगित कर दिया। हमने भी कई प्रतियों के पाठ भेद ले रखे हैं। मूलपाठ का निर्णय और अन्तिम रूप देने का काम हमने पूज्य गुरुदेव श्री सहजानन्दघनजी को सौंपा था पर वह पूरा नहीं हो पाया। **स्तवनों का प्रथम सर्वश्रेष्ठ हिन्दी विवेचन।**

पूज्य गुरुदेव ने हमारे अनुरोध से आनन्दघनजी के स्तवनों पर मननीय विवेचन लिखना प्रारम्भ किया था पर बीकानेर के निकटवर्ती उदरामसर के धोरों की गुफा में सोलह-सतरह स्तवनों पर ही विवेचन लिख पाये, उसके बाद जो काम रुक गया, वह रुका ही रहा। अनेक वार अनुरोध किया पर पूरा होने का संयोग नही था। गुरुदेव कहते रहे कि जो पहले लिखा गया है वह भी ज्यों-ज्यों अनुभव और मनन बढ़ता है त्यों त्यों उसमें और संशोधन परिवर्तन की आवश्यकता मालुम देने लगती है। इसीलिए हमें किये हुए विवेचन की भी नकल करने का सुयोग नहीं दिया और अब वह किसके पास रहा इसका भी पता नहीं चल रहा है। हिन्दी में यह सबसे पहला और अच्छा विवेचन लिखा जा रहा था पर वह पूरा और संशोधित परिवर्द्धित नहीं हो पाया, इसका बड़ा खेद है।

आनंदघनजी के कई पदों पर पूज्य सहजानंदघनजी ने कई प्रवचनों में विस्तृत विवेचन किया था पर खेद है वह भी लिखा नहीं जा सका।

पूज्य श्री को हमने कई प्रतियों की नकलें करके भेजी तो उन्होंने एक काम अवश्य किया कि आनंदघनजी के ६० पदों का वर्गीकरण १० भागों में करके उन पदों की विषय-सूचक नामावली की सूची हमें लिखकर भेज दी जो आज भी हमारे पास मौजूद है। अभी तक ऐसा प्रयास किसी ने नहीं किया और एक आत्मानुभवी ने यह काम करके हमें भेज दिया, इसे भी हम अपना सौभाग्य ही समझते हैं।

पूज्य सहजानन्दजी की विशेष प्रेरणा से हमने 'ज्ञानसार ग्रंथावली' का प्रकाशन किया था पर खेद है कि कलकत्ते के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में मूल ग्रन्थावली के फर्मे मुसलमान जिल्दसाज के पास ही रह गये, इसलिए बीकानेर में इसका करीब आधा मैटर ही छपाकर प्रकाशित करना पड़ा। अच्छा यही हुआ कि जीवनी आदि के प्रारम्भिक फर्मे हमें सुरक्षित मिल गये, वे पूरे दे दिये।

इसके बाद उन्होंने हमें श्रीमद् देवचन्दजी की भाषा बद्ध पद्य रचनाओं का शुद्ध पाठ हस्तलिखित प्रति के आधार से तैयार करने का काम सौंपा था और वह ग्रन्थ हमने तैयार करके अन्तिम रूप देने के लिए उन्हें भेज भी दिया था पर स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रहने से वे उस काम को भी कर नहीं पाये और समाधिमरण प्राप्त हो गये।

तीसरा काम आनंदघनजी का सौंपा था। हमने अपनी ओर से प्राचीनतम प्रतियाँ ढूंढ कर नकल करने और पाठभेद लेने में यथाशक्ति प्रयत्न भी किया पर वह प्रयत्न भी पूज्य गुरूदेव के चले जाने से पूर्ण सफल नहीं हो पाया। पूज्य गुरुदेव की सूचनानुसार ज्ञात हुआ कि श्री आनन्दघनजी मेड़ते के एक वैश्य के तीसरे पुत्र थे। कुछ सामग्री का उपयोग करने के लिए हमने श्री महताब चन्दजी खारेड़ को भेजी थी। पर वह देरी से मिलने से उसका पूरा उपयोग होना रह गया।

आनन्दघनजी के पदों की संख्या

जैसा कि ऊपर लिखा गया है आनंदघनजी के पदों की संख्या बहत्तर मानते हुए श्री खारेड़जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में पद संग्रह व विवेचन को तीन भागों में बाँट दिया है इसमें से पहले विभाग का नाम 'आनंदघन बहोतरी' उन्होंने रखा है। जिसमें तेहतर(७३) पद विवेचन सहित दिए गए हैं। दूसरे विभाग में स्फुट पद के रूप में उन्होंने तीन विभाग कर दिये है जिनमें से पदांक ७४ से ८३ वाले पदों को तो उन्होंने आनंदघनजी का मानकर विवेचन किया है।

इसके बाद शंकास्पद पदों वाला विभाग है। उनके संबंध में उन्होंने लिखा है कि "ये पद हमारी प्रति में तो नहीं किन्तु मुद्रित प्रतियों में है इनकी भाषा और शैली आनंदघनजी के पदों से भिन्न है। ये पद किसी अन्य जैन कवि

के या और कवियों के हो सकते हैं। पदांक ६४ के बाद खारेडजी ने लिखा है कि "श्री आनंदघनी के पदों में अन्य कवियों के वे पद जो आनंदघन नाम की छाप के हैं और हमारी प्रतियों में है, यहाँ मूलमात्र दिये जाते हैं।" पदांक ६६ के बाद में उन्होंने लिखा है कि 'अब इसके आगे के वे पद दिये जा रहे हैं जो हमारी किसी प्रति में नही हैं किन्तु मुद्रित प्रतियों में है, किन्तु वे पद आनंदघन जी के नहीं हैं, अन्य कवियों के है।" उनमें से कई पदों के वास्तविक रचियता कौन हैं, इस पर भी उन्होंने विचारणा की है। पदाँक १०६ के बाद वे फिर लिखते हैं कि "यहाँ वे पद दिये जा रहे हैं, जो हमारे पास हस्तलिखित प्रतियों में है किन्तु अब तक की प्रकाशित प्रतियों में नहीं है।

इस तरह श्री खारेड़जी ने अपनी ओर से प्राप्त पदों के विषय में काफी विचार और खोज की है पर वे अपने निर्णय में पूर्ण सफल नहीं हो पाये हैं। अभी तक प्राचीनतम प्रतियों की खोज आवश्यक है तभी मूल और वास्तविक पाठ का निर्णय हो सकेगा। हमें अब तक जो प्राचीन प्रतियां मिली है उसके आधार से यह कह सकता हूँ कि पद संख्या ७८, ६५, ६६, ६७, ११२, ११३, ११८ ये पद तो निश्चित रूप से आनंदघनजी के ही हैं क्योंकि वे प्राचीन १८वीं शताब्दी की प्रतियों में प्राप्त हैं। कुछ अन्य पद भी हमें आनंदघनजी के ही लगते हैं पर वे उन्नीसवीं शताब्दी की प्रतियों में मिले हैं अतः निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

इस ग्रन्थ में काफी परिश्रम से जो मूलपाठ दिया है उसमें भी कहीं-कहीं परिवर्तन की आवश्यकता लगती है। हमारी खोज अभी जारी है। अतः मूल शुद्ध पाठ और आनंदघनजी के मूल कृतित्व के सम्बन्ध में आगे कभी निर्णय किया जा सकेगा।

इस ग्रन्थ में आनंदघनजी के १२१ पद छपे हैं। १५ हमें अप्रकाशित और मिले हैं। इन सब में से अन्य कवियों एवं संदिग्ध के बाद देने पर भी करीब १०० पद ऐसे रह जायेंगे जो आनंदघनजी के रचित होने संभव है।

स्तवनों और पदों की प्राचीतम प्रतियाँ

आनंदघनजी के स्तवनों की हमने बीसों प्रतियां देखी है उनमें से एक प्रति तो हमें ऐसी भी प्राप्त हुई है जो निश्चित रूप से कागज, स्याही और

अक्षरों को देखते हुए अठाहरवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की है। हमारी राय में तो वह आनदघनजी की विद्यमानता के समय की ही है क्योंकि प्राणनाथ सम्प्रदाय के 'निजानन्द चरित्र' से आनंदघनजी का स्वर्गवास संवत् १७३१ में मेड़ता में हुआ, यह निश्चित हो गया है। इस प्रति में आनंदघनजी के बावीस स्तवन ही लिखे हुए है।

पद संग्रह की अनेकों प्रतियाँ हमने देखी हैं उनमें से सबसे प्राचीन प्रति संवत् १७०० के आस-पास की लगती है। वह एक गुटके के रूप में हमारे अभय जैन ग्रन्थालय में है। कविवर बनारसीदास के मित्र कंवरपाल की रचनाएं और हस्ताक्षर भी इसमें हैं। कई रचनाओं के अंत में लेखक संवत् १६८३ दिया हुआ है। पर उस गुटके के जिन पिछले पन्नों में कवि रूपचंद और आनंदघन के पद लिखे हुए है उनकी स्याही और अक्षर कुछ पीछे के हैं। स्याही के दोष से आनंदघनजी के पदों वाले कई पत्र तो टुकड़े हो गये, नष्ट हो गये फिर भी हमने प्रति की उपलब्धि के समय ही पदों की नकल करवा ली थी जिससे ३८ पद तो सुरक्षित मिल गये बाकी के पत्र टूट जाने के कारण पदों की पूरी नकल करना सम्भव नहीं हो सका। इस प्रति में आनंदघनजी के ६० से अधिक पद है।

इसके बाद हमें संवत् १७५६, १७६२, १७६८ के संवतोल्लेख वाली अठारहवीं शताब्दी की आनंदघनजी के पदों की तीन प्रतियाँ और मिल गई। और इन प्रतियों के भी पहले से लिखे हुए गुटके में कुछ पद और मिल गये।

जैन गुर्जर कवियों में जैन साहित्य महारथी स्व० मोहनलाल देसाई ने आनंदघनजी के स्तवनों व पदों की प्रतियों का विवरण भाग २ और ३ में दिया है। उनमें स्तवनों की संवतोल्लेख वाली सबसे प्राचीन प्रति संवत् १७५८ की श्री सीमंधर ज्ञान भण्डार में होने की सूचना है पर वह भण्डार कहाँ का है, स्थान का उल्लेख नहीं किया इसलिए हम उस प्रति को प्राप्त नहीं कर सके।

पूज्य मुनि श्री जंबूविजयजी को हमने कई बार पूछा कि आपने कहाँ-कहाँ की किस सं० की प्रतियों का पाठ भेद लेने में उपयोग किया है, इसकी सूचना हमें दें पर उन्होंने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया।

मेरी राय में आनंदघनजी के स्तवनों का जो पाठ ज्ञानविमल सूरि और ज्ञानसारजी ने अपने बालावबोधों में ग्रहण किया है एवं इसी तरह पदों के विवेचन में ज्ञानसारजी ने पदों का जो पाठ ग्रहण किया है उसे अठारहवीं शताब्दी का पाठ मानते हुए प्राथमिकता दी जा सकती है। प्राचीनतम प्रतियों के पाठ का तो उपयोग करना ही चाहिए। शुद्ध पाठ होने पर ही अर्थ ठीक हो सकेगा।

आनंदघन चौबीसी पर आधुनिक विवेचन

ज्ञानविमलसूरि और ज्ञानसारजी के पुराने विवेचन संक्षेप व आधुनिक ग्रन्थ में छप चुके हैं। इनके आधार से और स्वतंत्र रूप से भी बीसवीं शताब्दी में चौबीसी पर कई विवेचन लिखे गये हैं। जिनका यहाँ संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक समझता हूँ। झवेरी माणकलाल घेलाभाई के प्रकाशित ग्रन्थ तो मेरे देखने में नहीं आये पर जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से संवत् १९८२ में प्रकाशित 'आनंदघनजी कृत चौबीसी अर्थयुक्त' नामक ग्रन्थ मेरे ग्रन्थालय में है उसकी प्रस्तावना में लिखा है कि ज्ञानविमलसूरि कृत बालावबोध इसमें दिया गया है। पर वास्तव में बालावबोध जिस रूप में प्राप्त है उसी रूप में तो यह छपा नहीं है। इसी प्रस्तावना में यह भी लिखा गया है कि 'झवेरी माणकलाल घेलाभाई ने जिस रूप में छपाया यहाँ अक्षरशः छापा गया है। अतः शब्दार्थ, भावार्थ और परमार्थ रूप शैली व गुजराती भाषा में माणकलाल भाई ने ही इस विवेचन को ज्ञानविमलसूरि के बालावबोध के आधार से तैयार किया मालूम होता है।

श्रीमद् रायचन्दजी ने चौबीसी पर विवेचन लिखना प्रारम्भ किया था पर केवल प्रथम स्तवन का ही वे लिख पाये। पता नहीं उसमें भी दूसरी गाथा का विवेचन कैसे छूट गया। यदि श्रीमद् जी चौबीसी पर पूरा विवेचन लिख पाते तो अवश्य ही बहुत महत्त्व का होता। आगे का काम डॉ० भगवानदास मेहता ने प्रारम्भ किया और संवत् २००० से २००८ तक में दूसरे और तीसरे स्तवन का विस्तृत विवेचन लिखा, जो 'जैन धर्म प्रकाश में क्रमशः प्रकाशित होता रहा। इसमें दूसरे स्तवन के विवेचन का नाम 'दिव्य जिनमार्ग दर्शन'

और तीसरे स्तवन के विवेचन का नाम 'प्रभु सेवा नी प्रथम भूमिका' रखा गया है। दोनों स्तवनों का विवेचन स्वतंत्र पुस्तक रूप में संवत् २०११ में ३३२ पृष्ठों में छपा है। इसके परिशिष्ट में श्रीमद् रायचन्द्र लिखित प्रथम स्तवन का विवेचन भी दे दिया गया है। डॉ० भगवानदास मेहता ने जितने विस्तार से विवेचन लिखा है, उतना और किसी ने नहीं लिखा।

श्री प्रभुदास बेचरदास पारेख ने भी चौवीसी का विवेचन बहुत अच्छा लिखा है, जिसकी प्रथम आवृति सं० २००६ में प्रकाशित हुई। उसमें बहुत परिवर्तन करके जो नया विवेचन उन्होंने तैयार किया वह द्वितीयावृति २०१४ में जैन श्रेयस्कर मण्डल मेहसाना से प्रकाशित हुई है। ४८० पृष्ठों का यह ग्रंथ भी पठनीय है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनि संतवालजी ने चौवीसी का विवेचन लिखा है पर वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। उसका उल्लेख इसी सम्प्रदाय के हिन्दी में विवेचन लिखने वाले मुनि गवूलालजी ने किया है। गवूलालजी का हिन्दी विवेचन भी प्रकाशित नहीं हुआ। उसका गुजराती अनुवाद पण्डित मंगलजी उधवजी शास्त्री ने किया, जो अहमदाबाद से सं० २००७ में प्रकाशित हुआ है।

आनंदघनजी के पदों पर विस्तृत विवेचन लिखने वाले श्री मोतीचन्द कापड़िया ने ज्ञानविमल सूरि के आधार पर विवेचन लिखा, जो महावीर विद्यालय बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। वहीं से कापड़िया लिखित पदों के विवेचन के दो भाग इससे पहिले महावीर विद्यालय से प्रकाशित हुए हैं।

जिस तरह पूज्य सहजानन्दजी ने चौवीसी पर अधूरा विवेचन हिन्दी में लिखा, उसी तरह प्रो. श्री जवाहरचन्दजी पटनी भी हिन्दी में विवेचन लिख रहे हैं पर वह अभी पूरा नहीं हो पाया है।

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान प्रो. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'आनंदघन और घनानंद नामक' पुस्तक प्रकाशित की थी, उसमें से घनानंद की तो स्वतंत्र पुस्तक वे निकाल चुके थे। आनंदघनजी संबंधी ग्रन्थ हनुमान मंदिर न्यास, कलकत्ता से २०२६ में प्रकाशित किया है। उस 'आनंदघन' पुस्तक में

विवेचन तो नहीं, पर चौवीसी और पदों का मूल पाठ देने के साथ-साथ नीचे टिप्पणी में विशेष शब्दों के अर्थ हिन्दी में दे दिए गए हैं।

आनन्दघनजी की जीवनी सम्बन्धी दो ग्रन्थ

वैसे तो आनंदघनजी संबंधी विशेष वृतांत नहीं मिलता जो कुछ जानने सुनने में आया वह बुद्धिसागर सूरिजी, मोतीचन्द कापडिया आदि विवेचन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में दे दिया। पर आनंदघनजी संबंधी दो स्वतंत्र ग्रन्थ भी गुजराती में प्रकाशित हुए हैं। इनकी जानकारी प्राय: लोगों को नही है इसलिए उनका उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ।

अब से लगभग ५० वर्ष पहिले शतावधानी पं० धीरजलालजी शाह ने 'वाल ग्रन्थावली' के कई भाग तैयार करके प्रकाशित किये थे, इनमें आनंदघनजी संबंधी एक छोटी पुस्तक भी है।

वम्बई के सुलेखक स्व श्री वसन्तलाल कान्तीलाल ने आनंदघनजी संबंधी निबंध 'जैन सत्य प्रकाश' में पहले प्रकाशित किया था फिर उन्होंने स्वतंत्र पुस्तक 'महायोगी आनंदघन' के नाम से प्रकाशित की। सन् ६६ में प्रकाशित यह पुस्तक १०४ पृष्ठों की है। इस ग्रंथ में आनंदघनजी संबधी प्रवादों को सुन्दर शैली में उपस्थित किया गया है।

आनन्दघनजी के चित्र

आनंदघनजी जैसे योगी का परिचय ही नहीं मिलता तो समकालीन चित्र मिलने की तो सभावना ही नहीं है पर लोगों की मांग अवश्य रही, अत: नवीन चित्र वनाकर श्रीमद् वुद्धिसागर सूरिजी के 'आनंदघन पद संग्रह भावार्थ' ग्रन्थ की द्वितीयावृति सं० २००८ में प्रकाशित हुई तब आनंदघनजी के जो कई प्रवाद प्रचलित हैं उनके आधार से कई चित्र वनाकर इस आवृति में प्रकाशित किये हैं। इन्हीं चित्रों को मेरे वड़े भ्राता श्री मेघराजजी ने वीकानेर की रेल दादावाड़ी में भित्ति चित्र के रूप में चित्रित करवाये हैं।

आनन्दघनजी की स्तुति

समकालीन जैन विद्वानों में उ. यशोविजयजी ने अष्टपदी रूप आनंद-घनजी की भव्य स्तुति की है और विशेष कुछ नहीं लिखा। २०वीं शती में योगनिष्ठ बुद्धिसागर सूरिजी ने लम्बी स्तवना की है। डा० भगवानदास मेहता ने भी स्तुति बनाई है।

२२ स्तवनों के गाने के तर्ज रूप देसियों का उद्धरण

स्व. मोहनलाल देसाई ने श्री महावीर रजत स्मारक ग्रंथ में आध्यात्मी श्री आनन्दघन अने यशोविजय नामक महत्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किया था उसमें प्रकाशित आनन्दघन चौबीसी के प्रारम्भ में जिन देसियों का उल्लेख हुआ है, उनके सम्बन्ध में खोजपूर्ण प्रकाश डाला गया है। श्री महतावचन्दजी खारेड ने उस प्रयास को 'चमत्कारी' बताया है पर वास्तव में उन देसियों का प्रयोग आनन्दघन जी ने अपने स्तवनों में नहीं किया था। वह तो प्रतियों के लेखकों और स्तवनों के गायकों ने कौनसा स्तवन कौनसी प्रचलित तर्ज में गाया जाय, इसको बतलाने के लिए उन देसियों के नाम लिख दिये है। आनन्दघन जी के बाईस स्तवनों की जो प्राचीनतम प्रति हमें मिली है उसमें किसी भी स्तवन की 'देसी' लिखी हुई नहीं है तथा देसियों के आधार से आनन्दघनजी के समय का जो विचार किया गया है, वह सफल प्रयास नहीं है।

एक भ्रम का निवारण

श्रीमाराभाई मणिलाल नवाब ने 'आनन्दघन पद रत्नावली' नामक पुस्तक सन् ५४ में प्रकाशित की। इनमें स्तवन और पद प्रकाशित करते हुए निवेदन में लिखा है कि उनकी मान्यतानुसार श्री यशोविजय जी और आनन्द-घनजी एक ही थे, पर उनकी यह मान्यता सर्वथा गलत है। यशोविजय जी ने तो आनन्दघन बावीसी पर बालावबोध लिखा है। उन्होंने अष्ट पदों में आनन्दघनजी की महत्वपूर्ण स्तुति की है। इससे दोनों के मिलन की बात तो ज्ञात होती है पर दोनों के एक होने के तो विरुद्ध पड़ती है।

आनन्दघन जी के पदों में कबीर का एक और पद

कई वर्ष पहले मैंने 'सन्त कबीर और आनन्दघन' नामक लेख प्रकाशित किया था, उसमें आनन्दघनजी के नाम से प्रकाशित तीन पदों को कबीर का

बतलाया था । उनमें से दो पद तो समयसुन्दरजी के लिखे हुए एक पत्र में मुझे मिले थे, जिसके अन्त में कबीर का स्पष्ट नाम था । अतः मैंने उस पत्र में प्राप्त पाठ से आनन्दघन बहोतरी में प्राप्त पाठ की तुलना कर दी थी । श्री विश्वनाथ प्रसाद और खारैड जी ने भी उन पदों को कबीर का बतलाया है। पर इसी तरह एक तीसरा पद और है, वह प्रस्तुत संग्रह पद न. ६८ में भी छपा है और कबीर के रचित होने की सम्भावना भी की है पर वह कबीर ग्रंथावली में नहीं मिलने के कारण निश्चय नहीं कहा जा सका । श्री मोहनलाल देसाई ने अपने निबन्ध में लिखा है कि कबीर का एक पद एक प्राचीन हस्तलिखित पत्र में से मैंने उतारा है जो आनन्दघन बहोतरी के १०६ वें पद में मिलता है । उन्होंने तुलना के लिए पाठ भी दे दिया है यथा :—

कबीर का पद, (राग सारंग)

भमरा ! कित गुन भयो रे उदासी ।
तन तेरो कारो मुख तेरो पीरो, सबहें फुलन को सुवासी—
ज्या कलि बैठहि सुवासही लीनी, सो कलि गई रे निरासी—
कहेत कबीरा सुन भाई साधों ! जइ करवत ल्यो कासी ।

आनन्दघनजी का १०६ वाँ पद राग नट्ट

किन गुन भयो रे उदासी, भमरा ! किन,
पंख तेरी कारी, मुख तेरा पीरा, सब फुलनको वासी-भमरा
सब कलियन को रस तुम लीना, सो क्यूं जाय निरासी—
आनन्दघन प्रभु तुमारे मिलन कुं, जाय करवत ल्यू कासी ।

इस ग्रंथ में प्रकाशित पद नं. ११८ आनन्द (वर्द्धन) का है, आनन्दघन जी का नहीं है ।

क्या आनन्दघनजी मर्मी या रहस्यवादी थे ?

आनन्दघनजी के सम्बन्ध में जैनेतर विद्वानों में सबसे पहले सन्त साहित्य के मर्मज्ञ बंगाली विद्वान क्षितिमोहन सेन ने 'वीणा' में लेख प्रकाशित किया । उसमें उन्होंने आनन्दघन को 'मर्मी' या रहस्यवादी कवि बताया पर हिन्दी साहित्य के विद्वान विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने आनन्दघन ग्रन्थ के

प्रारम्भ में लिखा है कि आनन्दघन में अध्यात्म जैन धर्म का ही अध्यात्म है, निर्गुणियों सन्तों में जो सूफियों का रहस्यवाद घुस गया है उसका प्रभाव अन्य जैन साधुओं की रचनाओं में चाहे हो भी पर इन जैन आनन्दघन में उसका प्रभाव बहुतर स्थान पर शतादिक पदों में एकत्र होकर ही डाला है। जैन आनन्दघन को मर्मी सिद्ध करने के लिए श्री सेन ने लिखा है पर इनकी प्रवृत्ति में वैसा नहीं जान पड़ता।

आनन्दघनजी के अप्रकाशित पद

आनन्दघनजी के पदों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए, उनमें से ज्ञानसुन्दरजी की 'आनन्दघन पद मुक्तावली' में तो करीब ६५ पद ही हैं। भीमसी माणेक ने आनन्दघनजी और चिदानन्दजी की बहोतरियों के संग्रह एक साथ पॉकेट साइज और पुस्तक साइज में प्रकाशित किये। उनमें आनन्दघनजी के पदों की संख्या १०७ तक पहुँची। बुद्धिसागर सूरीश्वरजी के पद संग्रह भावार्थ में १०८ पद मूल में और ४ पद प्रस्तावना में, कुल ११२ पद छपे। प्रस्तुत संग्रह ग्रन्थ में इनकी संख्या १२१ तक पहुँच गई है। भद्रंकर सूरीजी के शिष्य पुण्यविजय जी सम्पादित 'भक्ति-दीपिका' नामक ग्रन्थ में चौबीसी के बाद १०६ पद छापे हैं और उसके बाद सज्झाय संग्रह के नाम से ६ स्तवन-सज्झाय और दे दिये गये हैं। उनमें कई तो स्पष्ट रूप से आनन्दघनजी के नहीं है वास्तव में जिस तरह सूर, कबीर, मीरां, तुलसीदास आदि प्रसिद्ध कवियों के नाम से परवर्ती कवि सख्या वृद्धि करते रहे हैं। इसी तरह आनन्दघनजी के पदों में भी बहुत अभिवृद्धि होती रही है। हमने अनेक हस्तलिखित प्रतियों में से समय-समय पर अप्रकाशित पदों की नकल की तो १५ पद ऐसे हमें और मिल गये जो अभी तक कहीं भी प्रकाशित हुए देखने में नहीं आए। इनमें कुछ पद तो दूसरों के रचित लगते हैं और कुछ आनन्दघनजी के भी हो सकते हैं। इसलिए उन अप्रकाशित पदों को यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है—

(१) राग-आसाउरी

माई प्रीति के फंद परो मत कोई।
लाज संकुच सुधि बुधि सब विसरी, लोक करे बदगोई ॥मा०॥१॥

असन वसन मन्दिर न सुहावै, रैन नैन भरि रोई ।
नींद न आवै विरह सतावै, दुख की वेलि मैं वोई ॥२ मा० ॥
जेता सुख सनेह का जानौ, तेता दुख फिर होई ।
"लाभानंद" भले नेह निवारई, सुखीय होइ नर सोई ॥३मा०॥
(इति प्रीति निवारण सिज्झाय । १८वीं शती की लिखित प्रति से)

(२)

राग विहाग चोतालो ।
हे नेनां तोहे वरजो, तू नहीं मानत मोरी सीख ॥ने०॥ टेक
वरज रही वरजो नहीं मानत, घर-घर मांगत रूप भीख ॥ने०१॥
चित चाहे मेरे प्यारे को स्वरूप रूप, स्याम के वदन पर वरसत ईख
आनन्दघन पिया के रस प्यारो, टारि न टरत करम रीख ।
(सं० १८७३ प्रति १६ कान्तिविजयजी संग्रह, वड़ोदा)

(३) राग मारु

हां रे आज मनवो, हमेरो ळाऊरो रे ॥टेक॥
आप न आवे पिया लखहु ने भेजे, प्रीत करन उतावरो रे ॥आ०॥१॥
आप रंगीला पियो सेजहुँ रंगीली, और रंगीलो मेरो सांवरो रे
॥आ०॥२
"आनन्दघन" वावो निज घर आवे तो मिटै संतावरो रे ॥आ० ३॥
(उपरोक्त सन् १८७३ लिखित कान्तिविजयजी की प्रति से)

(४) राग-काफी

चेतन प्यारा रे मोरा तुम सुमति संग क्यूं न करो, रहो न्यारा ॥चेतन०
पर रमणी से वहुत दुःख पायो सो कछु मन में विचारा ।
या अवसर तुहि आय मिल्यउ है, भूले नहीं रे गिवारा ॥
तुम कछु समझ समझ भरतारा ॥चे० ।१। आप विचार चले घर अपने
और से कियो निस्तारा । चेतन सुमता मांहि मिले दोउ
खेलत है दिन सारा ॥ आनन्द ह्वाँ लियो भवपारा ॥चे०॥२॥

(५) राग काफी

आज चेतन घर आवै, देखो मेरे सहिओ । आ०
काल अनादि कियो परवश ही अव निज चित ही चितावे ।।दे० १।।
जनम-जनम के पाप किए ते सो निधन मांहि वहावै ।
श्री जिन आज्ञा सिर पर धर के परमानन्द गुण गावै ।।दे०।।२।।
देत जलांजलि जगहि फिरण कुं, फिर के न जगत में आवै ।
विलसत सुख पर अखंडित 'आनन्दघन' पद पावै ।।दे०।३।।

(६) राग काफी

कव घर चेतन आवेंगे ।।क०।। सखिरी री लेउं वलैया वार वार ।क०।
रयण दिना मैनुं ध्यान तुपाढ़ा, कवहुक दरश दिखावेंगे ।। मे० ।।१।।
विरह दिवानी फिरुं ढूंढती पिउ पिउ करत पुकारेंगे ।
पिऊ जाय मिले ममता से काल अनंत गमावेंगे ।।मे० ।।२।।
करुं उपाय णक में उद्यम अनुभौ मित्र वुलावेंगे ।
आय उपाय करके अनुभव नाथ मेरा समझावेंगे ।।मे०।।३।।
अनुभव मित्र कहे सुनि साइव अरज एक अवधारेंगे ।।मे०।।४।।
अनुभव चेतन मित्र मिले दो सुमति निसाण घुरावेंगे ।
विलसत सुख आनन्द लीला में अनुभव आप जगावेंने ।। मे०।।५।।

(७)

राम रस मुहंगा है रे भाई, जाको मोल सुनत घर जाइ ।।रा०
जेणे चाख्या सोइ जाणै, मुख सुं कहे सो झूठ ।
या हम तुम से वहुत कही परमावै सारो ही कूड़ ।।रा०।१।।
दर्शन-दर्शन भटकियो, सिर पटक्यौ सो वार ।
वाट वटाउ पूछियउ पायो न ए रस र सार ।। रा०।।२।।
तप जप किरिया थिर नही ज्ञान विज्ञान अज्ञान
साधक वाधक जाणियउ और कहा परमाण ।।रा०।।३।।
द्वैत भाव भासे नहीं ग्राहक घर ही जान ।
द्वैत ध्यान वृथा सही है इक होय मुजान ।।रा०।।४।।
हाय कामना वश तुम्हें मंत्र जंत नहीं तंत ।
अनुभव गम्य विचारिये पावे आनंदघन विरतंत ।।रा०।।५।।

(८)

कूड़ी दुनीहंदा वे अजब तमासा ।
पाणी की भींत पवन का थंभा, वाकी कब लग आसा ॥कूड़ी॥१॥
जटा वधार भये नर मुनी, मगन भय जैसा भैंसा ।
चंवड़ी उपर खाख लगाई, फिर जैसा का तैसा ॥कू०॥२॥
कोड़ी-कोड़ी कर एक पइसा जोड्या, जोड्या लाख पचासा
जोड़-जोड़ कर काठी कीनी, संग न चल्या इक मासा ॥कू०॥३॥
केइ नर विणजे सोना रुपा, केइ विणजे जुग सारा ।
'आनन्दघन' प्रभु तुमकुं विणज्या जीत गया जुग सारा ॥कू०॥४॥
(इति अध्यात्म सज्झाय ।—विनय सागर जी के फुटकर पत्र से)

(९)

प्यारा गुमान न करिये, संतो गुमान न धरिये । प्या०॥
थोड़े जीवन में मान न करिये, जनम-जनम करि गहिये ॥१॥प्या०॥
इस गन्दी काया के मांही ममता तज रहिये ॥२॥ प्या०॥
'आनन्दघन. चेतन में मूरति भक्ति सुं चित हित धरिये ॥३॥प्या०॥

(१०) राग काफी

नैनां मेरे लागे री, श्याम सुन्दर वृजमोहन पिय सुं नैना मोहे लागे री
विन देखे नहीं चैन सखि री, निश दिन एक टक जागे री ॥नै०॥
लोक लाज कुल कान विसारी त्यां ही सों मन लागे री ॥नै०॥
'आनन्दघन' हित प्राण पपीहा, कुह कर प्राण पागे री ॥नै०॥

(११)

कुण खेले तोसुं होरी रे संग लागोजी आवै ।
अपने-अपने मंदर निकसी, कोइ सांवली कोइ गोरी रे॥सं० ॥१॥
चोवा चंदन अगर कुंकुंमा, केसर गागर घोरी रे ॥सं० ॥२॥
भर पिचकारी रे मुंह पर डारी (भी) जगई तनुं सारी रे ॥सं० ॥३॥
'आनन्दघन' प्रभु रस भरी मूरत, आनन्द रहि वा झोरी रे ॥सं० ॥४॥

(१२)

वनड़ो भलो रीझायो रे, म्हारी सुरत सुहागन सुघर वनी रे ।।
चोरासी में भ्रमत-भ्रमत अवके मोसर पाओ ।
अवकी विरीयां चूंक गयो तो कीयो आपरो पावो ।।१।।वनड़ो।।
साधु संगत कीया केसरिया सतगुरु व्याह रचाओ
साधू जन की जान वनी है, सीतल कलश वंदाओ ।।२।। वनड़ो।।
तत्व नाम को मोड़ वंधावो, पडलो प्रेम भराओ
पांच पचीसे मिली आतमा हिलमिल मंगल गायो ।।३।। वनड़ो।।
चोराशी का फेरा मेटी परण पती घर आओ
निरभय डोर लगी साहव सूं जव साहिव मन भाओ ।।४।। वनड़ो।।
करण तेज पर सेज विछी है, तां पर पोढे मेरा पीवे
'आनन्दघन' पीया पर में पल-पल वारूं जीवे ।।५।। वनड़ो।।

(इति पदम्, अजमेर की पद संग्रह प्रति के अन्त में)

(१३)

मैं कवहु भव अन्तर प्रभु पाइ न पूजैं ।
अपने रस वसि रीझ के दिल वाढ़े दूजे ।।१।। मैं०।।
वंछित पूर्ण चरण की मैं सेव न पाई ।
तो या भव दुखिया भयो, याहि वनि आई ।।२।। मैं०।।
मन के मर्म सुं मन ही में ज्यों कूप की छैयां ।
'आनन्दघन' प्रभु पास जी अव दीजे वैयां ।।३।। मैं०।।

(इति जिन पदो, प्रति हमारे संग्रह में)

(१४) राग भैरव

नाटकीयानां खेल से लागो मन मोरो
और खेल सव सेल हैं पण नाटक दोहरो ।।१।। ना०।।
ज्ञान का ढोर वजाव के चौहटें वाजी मांडु ।
काम क्रोध का पुतला सोजी ने काढूं ।।ना० ।।२।।
नर न वांधुले सुर सत ए ऐसा खेल जमाऊं ।
मन मोयर आगे धरूं कछु मोजां पाऊं ।।ना०।।३।।

अणि कटारी पेहर के तजुं तन की आसा ।
सरत वांधु वगने चढुं देखां तरां तमासा ॥ ना०॥४॥
सेल खेल धरती तणुं, सोना मोना न सुहाइ ।
गंशमरत विनाखेल है, ऐसा सुख जचा है ॥ना०॥५॥
उलट सुलट गृह खेल कुं, ताकुं सीस नमाउं ।
कहे 'आनन्दघन' कछु मांगहुं बेगम पद पाउं ॥ना०॥६॥

(१६ वीं शताब्दी लिखित फुटकर पत्र-हमारे संग्रह में)

(१५)

हठ करी टुक हठ के कभी, देत निनोरी रोई ॥१॥
मारग ज्युं रंगाइ के रीही, पिय सदि के 'द्वारि ।
लाजडागमन में नहीं, का नि पछेवड़ा टारि ॥२॥
अनि अनुभव प्रतिम विना, काहु की हठ के नइ कतिल कोर ।
हाथी आप मते अरे, पावे न महावत जोर ॥३॥
सुनि अनुभव प्रीतम विना, प्रान जात इन ठाविहि ।
हे जिन आतुर चातुरी, दूरि 'आनन्दघन' नाहीं ॥ हठीली ॥४॥

(संग्रह प्रति नं० ८०३२ संवत १८८६ लिखित)*

---

*(१)–१,३,४,५,७,८,६,१२,१३, और १४; इन संख्याओं के पदों के संबंध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता है। भविष्य की शोध से ही निश्चय हो सकेगा ।

(२) पद सं० २ और १०; भक्त कवि आनंदघन के हैं। देखो-श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र संपादित "घनानंद आनंदघन" ग्रंथावली के पृ० ३२५ पर स्फुट पद ११ तथा पृ० २२२ पर पद सं०–१२६ ।

(३) पद सं० ६ सुखानंद कविका है। इसमें सुखानंद की छाप है।

(४) पद सं० ११ भक्त कवि आनंदघन का होना चाहिये। प्रकाशित पदों में यह मिला नहीं। निर्णय आगे ही हो सकेगा ।

(५) पद सं० १५ अधूरा है। ऊपर की पंक्ति इसमें नहीं है। ये पंक्तियां प्रस्तुत ग्रंथावली के पृ० ७५ के पद सं० ३३ की हैं। (सम्पादक)

आनंदघनजी महान् योगी थे। उनकी अनुभूतियों को ठीक से समझना बहुत कठिन है। साधना की गहराई में पहुँचने और डुबकी लगाने पर ही तत्व प्राप्त हो सकता है। प्रस्तुत ग्रंथ तो केवल जिज्ञासुओं की भूख को जगाने वाला है हिन्दी में अब तक ऐसा कोई प्रकाशन नहीं हुआ। इसलिए इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। पर प्रकाशित पाठ और उसका अर्थ अभी और संशोधनीय है। आशा है गुजराती में जिस तरह आनंदघनजी पर कई लोगों ने यथामति लिखा है, हिन्दी में भी ऐसे प्रयास होते रहेंगे।

आनन्दघनजी के स्तवन और पदों को धीरे-धीरे लय और तालवद्ध गाते हुए उनके अर्थ में अपने को रमाते हुए स्रोता व गायक आनन्दविभोर हो सकेंगे। एक-एक पंक्ति या कड़ी को गाकर उस पर गहरा चिन्तन किया जायगा तो अवश्य ही आनन्द की गंगा लहराने लगेगी। ऐसे महापुरुष की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त करके हम अपने जीवन को पवित्र एवं निर्मल बनावें, इसी शुभ कामना के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

प्राग् वाच्य

साधना का महत्वपूर्ण अंग ध्यान है। उसके दो प्रकार हैं—संभेद-प्रणिधान और अभेद-प्रणिधान। संभेद-प्रणिधान पद के आलम्बन से होने वाला पदस्थ ध्यान है। महर्षि पतंजलि ने इसे जप कहा है।[1] जैन साधना-पद्धति के अनुसार यह भावना का एक प्रकार है। भावना के द्वारा ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। उसके चार मुख्य प्रकार हैं—ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चरित्र भावना और वैराग्य भावना।[2] पदस्थ ध्यान या जप दर्शन भावना के अन्तर्गत हो सकता है। अर्हत् का आत्मा के साथ अभेद स्थापित कर 'स्वयं देवो भूत्वा देवं ध्यायेत्'—स्वयं देव होकर देव का ध्यान करे—इस प्रकार सर्वात्मना ध्यान करना अभेद-प्रणिधान है।

भक्ति का विकास संभेद-प्रणिधान के आधार पर हुआ है। इसकी दो धाराएं हैं—आत्मवादी और ईश्वरवादी। आत्मवादी धारा के अनुसार आत्म-स्वरूप का अनुसन्धान करना भक्ति है। ईश्वरवादी धारा के अनुसार ईश्वर के प्रति समर्पित होना भक्ति है। जैन परम्परा में भक्ति विषयक साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। आचार्य कुंदकुंद की स्वतन्त्र कृति 'दशभक्ति' से इस धारा का प्रारंभ हुआ और वह क्रमशः बढ़ती चली गई।

रामानुज, निम्बार्क, माध्व, चैतन्य और वल्लभ इन सभी सम्प्रदायों ने भक्ति की अतिशय प्रतिष्ठा की। ईश्वर की शरणागति के बिना मोक्ष नहीं हो सकता, इस भावना की सशक्त धारा प्रवाहित हो गई। शुष्क तर्कों और वाद विवादों से ऊबी हुई जनता इस सरल और आकर्षण मार्ग की ओर आकर्षित हुई। भारतीय मानस भक्ति-मार्ग से ओत प्रोत हो गया। जैन परम्परा में भक्ति-तत्त्व मान्य था। पर भगवान के अनुग्रह का पुष्टिमार्गीय विचार उसे स्वीकार्य

---

१. योगदर्शन, १।२८: तज्जपस्तदर्थभावनम्।

२. ध्यानशतक ३०-३४।

नहीं था। मोक्ष मार्ग की त्रयी— सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र— की स्वीकृति के कारण केवल भक्ति को ही मोक्ष का साधन नहीं माना जा सकता था। इस स्थिति में जैन आचार्य भक्ति की वैसी धारा प्रवाहित नहीं कर सके, जैसी वैष्णव आचार्यों ने की।

आनंदघनजी ने भक्ति मार्ग का अवलंबन लिया ? शरणागति या सिद्धान्त उनके लिए अपरिचित नहीं था। 'अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि' इन चार शरणों की स्वकृति जैन परम्परा में वहुत पुरानी है।

आनदघनजी ने शरणागति का उपयोग इस सिद्धान्त के आलोक में किया कि भगवान में अपनी चित्तवृत्तियों को लीन करना ही शरणागति है। भगवान से अनुग्रह की आशा करना शरणागति नहीं है। वे भगवद्-लीला में विश्वास नहीं रखते थे। उन्होंने लिखा है—

'कोई कहे लीला ललक अलख तणी, लख पूरे मन आस।
दोष रहित नै लीला नवि घटै, लीला दोष विलास ॥[१]'

जैन परम्परा मे भगवान् की पति के रूप में उपासना करने की पद्धति नहीं रही है। फिर भी आनदघनजी ने इसका उपयोग किया है। इसमें भक्ति मार्गीय वैष्णव धारा का प्रभाव उन पर रहा है। उन्होंने लिखा है —

'ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूं कंत।
रींझ्यो साहब संग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त ॥[२]

प्रस्तुत पुस्तक में आनंदघनजी के चार ग्रंथ प्रकाशित है—१. आनंदघन बहुत्तरी २. स्फुटपद ३. अन्य रचनाएं ४. आनंदघन चौवीसी। इनमें चौवीसी (चौवीसी तीर्थकरों की स्तुति बहुत ही महत्वपूर्ण रचना है। इसमें भक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित है। उसमें तत्वज्ञान और अध्यात्म के स्रोत भी सम्मिलित हैं। स्तुतिपदों में इस प्रकार का योग विरलता से ही मिलता है। इनकी तुलना कबीर के पदों से की जा सकती है। सोलहवीं शती के उत्तरवर्ती भक्त कवियों

---

१. ऋषभजिनस्तवन, ५, पृष्ठ २५९।
२. ऋषभजिनस्तवन, १ पृष्ठ २५९।

की रचनाओं में वहुत साम्य है, इसलिए उनमें मिश्रण भी हुआ है। संग्रहकार ने इस मिश्रण को विविक्त करने का प्रयास भी किया है।[1] पर वह और अधिक विमर्श मांगता हैं। आनंदघनजी की भाषा केवल राजस्थानी नहीं हैं उसमें गुजराती का मिश्रण है। अन्य भाषाओं का मिश्रण भी उसमें है।

ग्रंथकार परिचय

आनंदघनजी विक्रम की १७ वीं शताब्दी के महान अध्यात्म योगी थे। वे श्वेताम्वर जैन परम्परा में दीक्षित हुए। उनका नाम लाभानंद था। अध्यात्म साधना की प्रखरता ने उनका नाम वदल दिया। वे लाभानंद से आनंदघन हो गए। उनमें अध्यात्म योग और भक्ति का मणिकांचन योग था। इसलिए उन्होंने भक्ति को वीतरागता से विमुक्त नहीं किया। भक्ति प्रेम का उदात्तीकरण है। वह वीतरागता से विमुक्त होकर राग के विन्दु पर भी पहुँच सकती है। इस समस्या को वही भक्त समाहित कर सकता है, जो धर्मानुराग को भी वीतरागभाव से प्रभावित रखता है।

कोई भी अध्यात्मयोगी वीतरागभाव से दूर नहीं जा सकता और वह किसी साम्प्रदायिक आवेश में भी नहीं उलझ सकता। आनंदघनजी में ये दोनों विशेषताएं थीं। वे अपनी रचनाओं में समूची जैन परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका अध्यात्मपरम्परा का प्रतिनिधित्व भी असंदिग्ध है। उन्होंने अपनी इस विशेष क्षमता के कारण 'उपाध्याय यशोविजयजी' जैसे महान् प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् को असाधारण रूप से प्रभावित किया था। उन्होंने आनदघनजी के विषय में अनेक वार अपने उद्गार व्यक्त किए हैं—

ऐरी आज आनंद भयो मेरे, तेरो मुख निरख निरख
रोम रोम शीतल भयो अंगोंअंग
शुद्ध समजण समतारस झीलत, आनंदघन भयो अनंत रंग—ऐरी
ऐसी आनंददशा प्रगटी चित्त अंतर, ताको प्रभाव चलत निरमल गंग
वाही गंग समता दोउ मिल रहे, जसविजय झीलत ताके संग—ऐरी[2]

\+ \+ \+ \+

---

१. देखें, पृ० २१६।
२. अष्टपदी

आनंदघन के संग सुजस ही मिले जब

तब आनंद सम भयो सुजस,

पारस संग लोहा जो फरसत, कंचन होत ही ताके कस।

उपाध्याय यशोविजयजी ने आनंदघनजी की चौवीसी में से २२ पदों पर गुजराती में वालवबोध लिखा था। वह उपलब्ध नहीं है। पर योगिप्रवर आनंदघनजी और प्रतिभा सम्पन्न यशोविजयजी के मिलन ने अध्यात्म और ज्ञान के समन्वय की अनूठी धारा प्रवाहित की। वह आज भी वहुत मूल्यवान है। संग्रहकार और संपादक ने उसमें से एक स्रोत को गतिशील कर जनता के लिए कल्याण का कार्य किया है। परिमार्जन की अपेक्षा होने पर भी प्रस्तुत श्रम के मूल्य को कम नहीं आंका जा सकता।

मुनि नथमल

अणुव्रत विहार,
नई दिल्ली

भूमिका

[संक्षिप्त परिचय—श्रीमद् आनन्दघनजी १७ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के श्वेताम्बर जैन कवि थे। इनका मूल नाम लाभानन्द था। इनकी विहार-भूमि गुजरात व्रज प्रदेश एवं राजस्थान थी। मेड़ता (राजस्थान) में इनका स्वर्गवास हुआ था। इनके काव्य में ज्ञान-भक्ति और योग का मधुर मेल है। जैन दर्शन की रत्नत्रयी-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र का सरल तथा सरस विवेचन इनके काव्य में दर्शनीय है। जैनागमों का सार इनके काव्य में भरा हुआ है। वे सन्त परम्परा के महान कवि थे। इनकी भक्ति प्रेम-लक्षणा है। भक्ति की भूमिका है:—अभय, अद्वेष, अखेद। यह तभी संभव है जब भक्ति निरुपाधिक हो। आनन्दघनजी ने भगवान को 'सकल जंतु विसराम' बताया है। इनके समस्त काव्य में भगवान का 'आनन्दघन' स्वरूप प्रकट हुआ है। योग दृष्टि से वे कबीर के अधिक निकट है। वस्तुतः इन्होंने योग को सम्यक् चारित्र के रूप में प्रकट किया है। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं:

१. आनन्दघन चौबीसी, २. आनन्दघन बहोतरी। चौबीसी में २४ जैन तीर्थंकर देवों की स्तुति की गई है। ये स्तवन गीत है, जो सगुण भक्ति के परिचायक हैं, आनन्दघन बहोतरी में निर्गुण भक्ति विषयक पद हैं। संगीत-माधुर्य इनके समस्त काव्य में भरपूर है। शृंगार और शान्त रस में गीतों की रचना हुई है। शृंगार की विप्रलम्भ धारा मधुर कलनाद करती हुई शान्त रस सागर में मिल गई है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इनको 'मर्मी' कवि कहा है। श्रीमद् आनन्दघनजी के विषय में अनुसंधान की अत्यन्त आवश्यकता है।]

भक्ति कल्पलता की जड़ है श्रद्धा, प्रेम फूल है, सेवा सुगन्ध है, आनन्द फल हैं। सदाचार जल है जिससे भक्ति कल्पलता का सींचन होता है। अतः भक्त जन कहते हैं कि मनुष्य जीवन अमूल्य हीरा है, इसे कचरे में मत फेंकिए।

परन्तु संसार की माया तृष्णा में उलझा हुआ मनुष्य हीरे को खो रहा है। संत धर्मदास ने एक पद में कहा है :

म्हारो हीरो गंवायो कचरा में ॥
इन पांच पचीसो रे झगरा में ।
म्हारो हीरो गंवायो कचरा में ॥
कोई कहे रे हीरो पूरब-पश्चिम में ।
कोई कहे रे उत्तर दखणो में ॥
पंडित वेद पुराण बतावें ।
उलझ गये रे सब रगड़ा में ॥
म्हारो हीरो गंवायो कचरा में ।
काजी रे कीताब कुरान बतावे ।
उलझ गये सब नखरा में ॥
म्हारो हीरो गंवायो कचरा में ।
धर्मदास कहे गुरुजी हीरो बतायो ।
बांध लियो निज अंचरा में ॥

हीरे की पहचान हो जाय तो झगड़ा रफा दफा हो जाय, परन्तु विडम्बना यह है कि मनुष्य अज्ञानांधकार में हीरे के बदले में कांच के टुकड़ों को पाकर फूला नहीं समा रहा है। सचमुच देखा जाय तो मनुष्य क्षणिक सुखों की चकाचौंध में भ्रमित है। वासन्ती पवन की सुगंधित लहरों में मनुष्य यह भूल जाता जाता है कि यह क्षण भंगुर जीवन ओस-बूंद के समान है जरा-सी वायु का झोंका आया कि धूल में मिल जायगा। इसीलिए योगीराज ने चेतावनी देते हुए कहा है :

क्या सोवे उठि जाग बाउरे।[1]
अंजलि जल ज्यूं आउ घटतु है, देत पहुरिया घरी घाउ रे ॥ क्या० ॥१॥
इन्द्र चन्द्र नागिंद मुनिंद चले, कौन राजा पतिसाह राउरे।
भ्रमत-भ्रमत भव जलधि पाई तैं, भगवत भगति सुभाव नाउरे ॥क्या० ॥२॥

---

१. योगिराज आनन्दघन रचित पद : राग-वेलावल

कहा विलंब करै अब बोरे, तरि भव-जल-निधि पार पावरे।
'आनन्दघन' चेतनमय मूरति शुद्ध निरंजन देव घ्याउ रे ॥ क्या० ॥३॥

"जैसे ओस की बूंद कुशा की नोक पर लटकती हुई थोड़ी देर तक ही ठहरती है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी अत्यन्त अस्थिर है, शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है, इसलिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न करे।"[1]

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री मेनियर विलियम्स के अनुसार भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' से की जा सकती है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति-भावना, आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप, क्रमशः श्रद्धा-उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज्=भाग लेना) जैसे व्यापक भाव में परिणत हुई।[2] इस ऐश्वर्य में कोई भी भाग ले सकता है, इसके लिए संसार की आशा-तृष्णा छोड़कर ज्ञान-सुधारस पीना होगा, अन्यथा ईश्वरीय ऐश्वर्य की झलक भी नहीं दिखाई देगी। इस ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिए पात्रता चाहिए। श्री आनन्दघन ने यह नुस्खा बताया है:

(राग आशावरी)

आशा औरन की कहा कीजै, ज्ञान-सुधारस पीजै ॥
भटकै द्वारि-द्वारि लोकन कै, कूकर आशाधारी।
आतम अनुभव रस के रसिया, उतरइ न कबहु खुमारी ॥आ०॥१॥
आशा दासी के जे जायै, ते जन जग के दासा।
आशा दासी करे जे नायक, लायक अनुभौ प्यासा ॥आ०॥२॥

---

१. कुसग्गे जह ओसबिंदुए,
थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम! मा पमायए।

—महावीर वाणी : बेचरदास दोशी : पृष्ठ ६६,

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सम्पादक डॉ. नगेन्द्र :
अध्याय : भक्तिकाल-पूर्व पीठिका : पृष्ठ संख्या ७२,

मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अगनि परजाली ॥
तन भाठी अवटाइ पीयै कस, जागे अनुभौ लाली ॥ आ० ॥३॥
अगम पीयाला पीओ मतवाला, चिन्हे अध्यात्म वासा ।
'आनन्दघन' ह्वै जग में खेलै, देखै लोक तमासा ॥आ०॥४॥

संसार की आशा निराशा है, आशा दासी की संतान जगत् की गुलाम है। भक्त जन कहते हैं कि आशा-तृष्णा के बन्धन तोड़ कर मुक्त हो जाओ। आत्म-सुख में लीन हो जाना ही स्वाधीनता है।

अज्ञान, जिसे जैन दर्शन मिथ्यात्व कहता है, जीवात्मा को ८४ लाख जीव-योनियों में भटका रहा है। मिथ्यात्व, जीवात्मा को सत्य से विमुख रखता है। संसार-यात्रा में पथभ्रष्ट करने वाले मिथ्यात्व के प्रभाव को देखिये कि इसके वशीभूत होकर जीवात्मा मोह-जाल में फंसती है, तृष्णा के खारे जल को पीकर अतृप्त रहती है, दुःख-ग्राह के मुख में पड़कर आर्त्तनाद करती है और क्षणिक दैहिक सुख को शाश्वत समझकर दुर्गति की खाई में गिरती है। मिथ्यात्व जनित अभिशाप का विश्लेषण करते हुए लंकास्टर विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर निनिअन स्मार्ट लिखते हैं :—

'मनुष्य के लिए मुख्य बाधा पाप नहीं है वरन् अध्यात्म विषयक अज्ञान (मिथ्यात्व) है। अज्ञान के आवरण में लिपटे रहने के कारण मनुष्य, सत्य के दर्शन नहीं कर पाता; फलस्वरूप वह संसार की मोह-फांस में फंसा रहता है।[४]

---

४. The trouble with man is not in essence sin, so much as spiritual ignorance. The truth is veiled from man's sight because of his immersion in the world; and conversely, spiritual ignorance keeps him bound to the world.

—'The Religious Experience of mankind' :
Author ; Ninian Smart :
Chapter : Jainism : Page 103.

मनुष्य को अन्धकार से प्रकाश में ले जाने के लिए ब्रह्मज्ञानी परोपकारी सन्तों ने सतत प्रयास किया है। कवीर, आनन्दघन, मीरांवाई, चैतन्य-महाप्रभु, देवचन्द्र, यशोविजय, चिदानन्द प्रभृति भक्तों ने अपनी पीयूषवाणी से मनुष्य को भव पंक में पंकज की तरह खिले रहने का उपदेश दिया है। यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि आनन्दघन की वाणी में कवीर का ज्ञान-मसाला, मीरांवाई की तन्मयता, नरसी मेहता की प्रेम-माधुरी, चैतन्य महाप्रभु की मस्ती, देवचन्द्र की सारगर्भिता, यशोविजय की सहजता तथा चिदानन्द की खुमारी है। इसे ज्ञान-सुधारस कहिये या प्रेम-पंचामृत, यह वस्तुतः 'आनन्दघन' से वरसने वाला आनन्दरस है जिसे पीकर कौन ऐसा है जो नहीं झूमता, जो तुच्छ सांसारिक सुखों से मुंह नहीं फेरता जो 'प्रेम-वाण' से घायल होकर प्रिय के विरह में व्यकुल नहीं होता। प्रेम-वाण से घायल प्रिया का यह आत्म निवेदन क्या कंत नहीं सुनेंगे?

(राग–सोरठ)

कंत चतुर दिल ज्यानी हो मेरो कंत चतुर दिल जानी।
जो हम चीनी सों हम कीनी, प्रीत अधिक पहिचानी हो॥ मेरो०॥१॥
एक बूंद को महिल वनायो, तामें ज्योति समानी हो।
दोय चोर दो चुगल महल में बात कछु नहि छानी हो। मेरो०॥२॥
पांच अरु तीन त्रिया मन्दिर में, राज करै रजधानी हो।
एक त्रिया सब जग बस कीनो, ज्ञान खड्ग वस आनी हो॥मेरो०॥३॥
चार पुरुष मन्दिर मे भूखे, कबहू त्रिप्त न आनी हो।
इक असील इक असली बूझै, बूझ्यो ब्रह्म ज्ञानी हो॥मेरो०॥४॥
चारू गति में रुलतां बीते, करम की किनहु न जानी हो।
'आनन्दघन' इस पद कूं बूझै, बूझ्यो भविक जन प्राणी हो॥मेरो०॥५॥

वियोगावस्था में निरावलम्वता के कारण वियोगिनी को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। विरह-पीडित आत्म-प्रिया, दुष्टों के काले-कारनामों का भण्डाफोड़ अपने प्रियतम को कर रही है। प्रिया, चिकने घड़े के समान

ढीठ, माया-जाल के आकर्षण में फंसाने वाले, कुशल षडयंत्र से आत्म-खजाने के गुणं-रत्नों को चुराने वाले 'राग-द्वेष' नामक दो विकट चोरों की, अपने राजराजेश्वर अरिहंत प्रभु से शिकायत करती है। इन चोरों की सहायतार्थ चार दुष्ट और बैठे हुए हैं—ये राग-द्वेष रूपी महाचोरों के उच्चाधिकारी हैं जिनका काम है प्रिया (आत्म-ललना) को इनकी माया-जाल में फंसाये रखना क्योंकि इन्हे यह पता है कि माया का पर्दा हटते ही इन्हें कूच करना पडेगा; अतः इन्होंने भयकर कुचक्र फैला रखा है। प्रियतम शक्तिशाली हैं, वह इन विकराल चोरों से प्रिया को बचाने में सब प्रकार से योग्य है। वीतराग देव 'राग-द्वेष' नामक विकट असुरो से आत्म-प्रिया का उद्धार कर सकते हैं, अन्य किसी में यह शक्ति नहीं है।

संत आनंदघनजी ने रूपक अलंकार द्वारा हृदयविदारक दृश्य प्रस्तुत किया है। राग-द्वेषादि महा चोरों के उच्च अफसर—'बोडी-गार्डस-अंगरक्षक हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। राग सम्राट है, द्वेष उसका महामंत्री है, क्रोध, मान, माया और लोभ हैं—कुशल प्रशासक। यह नौकर शाही जीवन-महल में घुसी हुई है, इसी कारण इतनी 'हायतोबा' मची हुई है। भगवान महावीर ने इसीलिए कहा है :

कोहं माणं च मायं च,
लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसेउ,
इच्छन्तो हियमप्पणो ॥[५]

[जो मनुष्य अपना हित चाहता है, उसे पाप को बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार दोषों को सदा के लिए त्याग देना चाहिए।] रागी स्वामी की शरण से मुक्ति की आशा करना नादानी है। अतः आनन्द-घनजी महाराज ने वीतराग देव की सुखदायिनी शरण में जाने के लिए उपदेश दिया है। प्रभु की दिव्य शरण में जाने के लिए निर्मल प्रेम-भक्ति होनी चाहिये। निर्मल मन-मंदिर में ही मन मोहन पधारेंगे, अतः प्रिया संकल्प करती है :—

---

५. महावीर वाणी : बेचरदास दोशी
कसाय-सुत्तं : पृष्ठ सं. ११९

(राग–वेलावल)

ता जोगे चित ल्याऊं रे वहाला ।
समकित दोरी सील लंगोटी, घुलघुल गांठ घुलाऊं;
तत्त्व–गुफा में दीपक जोऊं, चेतन-रतन जगाऊं रे वहाला ।
अष्ट-करम कडे की धूनी, ध्याना अगन जलाऊं;
उपसम छनने भसम छणाऊ, मलि-मलि अंग लगाऊं रे वहाला
आदि गुरु का चेला होकर, मोह के कान फराऊ;
धरम सुकल दोय मुद्रा सोहै, करुणा नाद वजाऊ रे वहाला ।
इह विध योग-सिंहासन बैठा, मुगतिपुरी कूंध्याऊं;
'आनन्दघन' देवेन्द्र से योगी, बहुरि न कलि में आऊ रे वहाला ।

शुद्ध श्रद्धा और शील से विभूषित होकर प्रिया ने प्रियतम–मिलन की वात सोची है । ज्ञान–दीपक से आतम-रत्न को जगमगाकर वह अपने मन मोहन को निमंत्रण भेजेगी । करुणा में नहाकर, धर्म एवं शुक्ल ध्यान में रमकर वह मुक्ति-महल में प्रिय से भेंट करेगी । उसे यह ज्ञात हो गया है कि उसका प्रिय से वियोग अष्ट-कर्मों के वन्धन के कारण है । राग-द्वेष एवं काम, क्रोध, माया तथा लोभादि अष्ट-कार्मो ६ के प्रवेश-द्वार ७ हैं । इनको शुद्ध चारित्र द्वारा वंद

---

६. अष्टकर्म:—ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य ६. नामकर्म, ७. गोत्र कर्म. ८ अंतराय कर्म ।

७. इन कर्मों के वन्धन होने में कारणभूत हैं मिथ्यात्व, हिंसादि की अविरति, क्रोधादि कषाय वगैरह जिन्हें आस्रव (आश्रव) तत्त्व कहते हैं । (आस्रव = जिससे आत्मा में कार्यो का स्रवण हो । इन आस्रव-द्वारों को ढंकने वाले, आस्रवों को रोक देने वाले सम्यक्त्व-व्रत-उपशम भाव आदि हैं । इनके साधक समितिगुप्ति, परिसह, यतिधर्म, भावना और चारित्र को संवर तत्त्व कहते हैं । इससे नये कर्मवन्ध रुक जाते हैं । प्राचीन कर्म वंधनों का क्षय करने वाले वाह्य–आभ्यन्तर तप को निर्जरा कहते हैं ।

—ललित विस्तरा :
रचयिता: श्रीमद हरिभद्र सूरीश्वरजी
हिंदी अनुवाद: श्रीभानु विजयजी: पृष्ठ ७८

करूंगी। कर्म-बन्धन टूट जाएंगे, फिर प्रिय से भेंट निश्चित है। पवित्र बाइबिल में करुणा एवं शुद्ध जीवन को ईश्वर मिलन का साधन बताया है :—

> Blessed are the merciful: for they shall obtain mercy.
> Blessed are the pure in heart; for they shall obtain mercy.
>
> —The Sermon on the Mount.

करुणामय जीवन में करुणासागर निवास करते हैं। कारण स्पष्ट है—जिसके हृदय में करुणा है वह प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभाव रखता है। करुणा-लता पर विश्व-प्रेम के पुष्प खिलते हैं। करुणा की दिव्य-सुगन्ध से राग–द्वेप की दुर्गन्ध समाप्त हो जाती है, प्रेमधारा बहने लगती है आनन्दघन बरसने लगते हैं। करुणा आनन्दघन को बुलाने की 'प्रेम-पाती' है।

निर्मल प्रेमरंग में रंगी प्रिया (जीवात्मा) शृंगार करती है, अनेक गुण-रत्नों से सजधज कर वह अपने शशिकान्त के दर्शन कर लेती है। मुग्धा नायिका कहती है :

(राग मारु)

मनसा नट नागर सुं जोरी हो, मनसा नट नागर सुं जोरी।
नट नागर सुं जोरी सखि हम, और सबन सें तोरी ॥म०॥१॥

लोक लाज नाहिन काज, कुल मरजादा छोरी।
लोक बटाऊ हसो बिरानों, आपनों कहत न को भोरी ॥न०॥२॥

मात तात सज्जन जात, बात करत सब चोरी।
चाखै रस की क्युं करि छूटै, सुरजन सुरिजन टोरी ॥म०॥३॥

ओरहानों कहा कहावत और पै नाहिन कीनी चोरी।
काछ कछ्यो सो नाचत निवहै, और चाचरि चरि फोरी ॥म०॥४॥

ज्ञान सिन्धु मथित पाई, प्रेम पीयूष कटोरी।
मोदत 'आनंदघन' प्रभु शशिधर, देखत दृष्टि चकोरी ॥म०॥५॥

ज्ञान–समुद्र का मंथन करने से प्रेम-पीयूष की कोटरी प्राप्त हुई, प्रेम-सुधा का पान करने से 'आनन्दघन-चन्द्र' के दर्शन हुए। प्रिया-चकोरी मंत्र-मुग्ध होकर अपने चन्द्र को देख रही हैं।

प्रेम-भक्ति की भूमिका है :

'सेवन कारण पहेली भूमिका रे, अभय अद्वेष अखेद।'[८]

'महामंत्र की अनुप्रेक्षा' में श्रीमद् भद्रंकर विजयजी गणिवर लिखते हैं:–'जहाँ अभेद वहाँ अभय-यह नियम है। भेद से भय एवं अभेद से अभय–यह अनुभव सिद्ध है। भय ही चित्त की चंचलता रूप बहिरात्मदशा रूप आत्मा का परिणाम है। अभेद के भावन से वह चंचलता दोष नष्ट होता है एवं अन्तरात्मदशा रूप निश्चलता गुण उत्पन्न होता है।

अभेद के भावन से अभय की तरह अद्वेष भी साधित होता है। द्वेष अरोचक भाव रूप है, वह अभेद के भावन से चला जाता है। अभेद के भावन से जैसे भय एवं द्वेष टल जाते हैं वैसे ही खेद भी नष्ट होता है। खेद प्रवृत्ति में श्रान्त रूप है। जहाँ भेद वहाँ खेद एवं जहाँ अभेद वहाँ अखेद अपने आप आ जाता है[९]।

आनन्दघनजी महाराज कहते हैं कि स्वामी कितने उदार हैं कि जो उनकी सेवा निर्मल भाव (अभय, अद्वेष, अखेद भाव) से करता है उसको वे अपने समान बना लेते हैं।

वे प्रेममूर्ति है; उनका प्रेम समस्त प्राणियों के लिए है। वे केवल आदर्श रूप ही नहीं हैं अपितु संकट काल में उबारने वाले, भक्त के समीप सदैव रहने वाले भक्तवत्सल दीनबन्धु हैं। वे हैं सुदर्शनचक्रधारी भगवान जो दुःख-दग्ध

---

८. संभव देव ने धुर सेवो सवेरे, लही प्रभु सेवन भेद;
सेवन कारण पहेली भूमिका रे, अभय अद्वेष अखेद।
—श्रीमद् आनन्दघन रचित श्री सभवनाथ जिन स्तवन
राग–सामग्री

९. महामंत्र की अनुप्रेक्षा: पृष्ठ ११.

भक्त की तुरन्त वाह पकड़ लेते हैं। मोह-पंक में फंसे हुए, तृष्णा रूपी ग्राह के दांतों में कराहने वाले दु:खी जीव को अपने सुदर्शनचक्र से वचाने में वे विलम्ब नहीं करते। वे भक्त की प्रेमपुकार शीघ्र सुन लेते हैं उनका सुदर्शनचक्र है-सम्यक् दर्शन। सुदर्शचक्रधारी जिनेश्वर देव की भक्ति से सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है, हिय की आंख खुल जाती है, तृष्णा और मोह के फदे टूट जाते हैं और जीवात्मा का उद्धार हो जाता है। श्रीमद् आनन्दघनजी ने वीतराग स्वामी का तारणहार रूप प्रकट किया है। कुरान शरीफ में तारणहार त्रैलोक्य पूजित प्रभु के विषय में यह वर्णन मिलता है :—

वलम् यकुल्लह
कुफोवन अहद।

(उस सर्वविभूति सम्पन्न, सर्वशक्तिसमर्थ एवं कृपा-करुणा के सागर के समान और दूसरा कोई नहीं है।) उनकी सेवा से जहर अमृत वन जाता है, सर्प-पुष्प माल वन जाती है, वेडियां कट जाती हैं, दरिद्रता मिट जाती है, रोग नष्ट हो जाते हैं, और जीवन के कांटे सुन्दर फूल वनकर महकने लगते है। इसीलिए सत शिरोमणिअखड विश्वास के साथ कहते हैं :—

(राग मल्हार)

दु:ख दोहग दूरे टल्यां रे, सुख-संपदशुं भेट;
धींग धणी माथे कियो रे, कुण गंजे नर खेट।
॥ विमल जिन० ॥१॥

चरणकमल कमला वसे रे, निर्मल थिर पद देख;
समल अथिर पद परिहरे रे, पंकज पामर पेख।
॥ विमल जिन० ॥२॥

मुज मन तुज पद पंकजे रे, लीनो गुणमकरंद;
रंक... गणे मंदर-धरा रे, इंद चांद नागिंद।
विमल जिन० ॥३॥

साहिब समरथ तुं धणी रे, पाम्यो परम उदार;
मन विसरामी वाल्हो रे, आतमचो आधार।
विमल जिन० ॥४॥

दरिसण दीठे जिनतणुं रे, संशय न रहे वेध;
दिनकर करभर पसरतां रे, अंधकार प्रतिषेध।
विमल जिन० ॥५॥

अमिय भरी मूरती रची रे उपमा न घटे कोय;
शांत सुधारस झीलती रे, निरखत तृपति न होय।
विमल जिन० ॥६॥

एक अरज सेवक तणी रे, अवधारो जिन देव;
कृपा करी मुझ दीजिये रे, 'आनन्दघन पद सेव।
विमल जिन० ॥७॥

आनन्दघनजी महाराज कहते हैं कि 'साहेब' समर्थ हैं, ऐसे स्वामी के सम्मुख रहने पर कोई भी दुष्ट नहीं सता सकता। दुःख-दरिद्र्य तो उनके दर्शन मात्र से दूर हो जाते हैं। उनकी सेवा से तृष्णा क्षय हो जाती है, महत्त्वाकांक्षा मिट जाती है; फलस्वरूप मेरुपर्वत की समृद्धि एवं इन्द्र का वैभव भी तृणवत् लगते हैं। प्रभु के ऐश्वर्य के सामने ये सब नाचीज हैं, तुच्छ हैं।

भगवान करुणा सागर, अरिहंत एवं वीतराग हैं। करुणा की कोमलता के कारण ही इन्द्र उनकी स्तुति में कहते हैं, 'पुरिसवरपुंडरीआणं-अर्थात् पुरुषों में पुंडरीक कमल के समान। पुंडरीक कमल कोमलता का प्रतीक है। वे अरिहंत हैं अर्थात् शत्रुओं का नाश करने वाले। अरि कौन? राग-द्वेषादि। उनकी तीक्ष्णता[10] के सामने ये विकट शत्रु टिक नहीं पाते। उनकी कठोरता के सामने दुःख-दारिद्र्य क्षण भर भी नहीं रुकते। वे वीतराग हैं—तटस्थ, माध्यस्थ वृत्तिवाले, समतारस के सागर। आनन्दघनजी महाराज इसीलिए उन्हें 'शान्त-

१०. देवेन्द्र उनकी स्तुति में कहते हैं:—पुरिससीहाणं = पुरुषों में सिंह के समान,
नमत्थुणं—शक्रस्तव सूत्र

सुधारस सागर' कहते हैं। भगवान की कोमलता, तीक्ष्णता तथा उदासीनता के गुणों की 'ललित त्रिभंगी' विचित्र है :

> शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे;
> करुणा कोमलता तीक्ष्णता, उदासीनता सोहे रे।
> सर्वजंतु हितकरणी करुणा, कर्म विदारण तीक्षण रे;
> हानादान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षण रे।

(आनन्दघन कृत श्री शीतलनाथ जिन स्तवन से)

प्रभु की 'सर्वजंतु हितकरणी करुणा' का उल्लेख सकलार्हत् सूत्र में इस प्रकार हुआ है :

कोमलता

प्राणियों के परमसुख रूप अंकुर को प्रकट करने के लिए नवीन मेघ-समान, तथा स्याद्वादरूप अमृत को बरसाने वाले श्री शीतलनाथ भगवान तुम्हारी रक्षा करें।[11]

अपराध किये हुए प्राणियों पर भी दया से झुकी हुई (आंख की) पुतली वाले और थोड़े आंसुओं से भीगे हुए नेत्र वाले श्री महावीर भगवान महामंगलकारी है।[12]

तीक्ष्णता

राग द्वेष आदि भीतर के शत्रुओं को हटाने के लिए किये गये अधिक कोप से मानो लाल ऐसी पद्मप्रभु स्वामी की कान्तियां तुम्हारी लक्ष्मी को बढावें।[13]

---

११. सकलार्हत सूत्र: स्तुति संख्या १२;
१२. स्तुति २७;
१३. स्तुति ८;

उदासीनता

अपना अपना उचित-योग्य कार्य को करते हुए कमठ नाम के दैत्य पर और धरणेन्द्र पर समान भाव वाले श्री पार्श्वनाथ भगवान् तुम्हारा कल्याण करें।[१४]

उदासीनता वीतरागता की प्रतीक है। वीतराग स्वामी का स्वरूप बताते हुए श्रीमद् भद्रंकरविजयजी गणिवर 'महामंत्र की अनुप्रेक्षा में लिखते हैं :—

'वीतराग अर्थात् करुणानिधान एवं माध्यस्थ गुण के भण्डार, तथा वीतराग अर्थात् अनन्तज्ञान, दर्शन स्वरूप केवल ज्ञान एवं केवल-दर्शन के स्वामी सर्ववस्तु को जानने वाले एवं देखने वाले होते हुए भी सभी से अलिप्त रहने वाले, सभी के ऊपर स्वप्रभाव को डालने वाले, पर किसी के भी प्रभाव में कभी भी नहीं आने वाले प्रभु। देवाधिदेव करुणासागर की अभय शरण अघहरणी, दुःख नाशिनी एवं सुख-सम्पत्ति प्रदायिनी है।'[१५] भगवान् का वचन है :—

'न मे भक्तः प्रणश्यति'

मेरे भक्त का कभी नाश नहीं है अर्थात् मेरी दृष्टि से दूर नहीं होता है।

श्रीमद् आनन्दघनजी ने जिनेश्वरदेव का तारणहार स्वरूप जनता के सामने रखकर इस भ्रम का निवारण कर दिया है कि वे केवल मार्गदर्शक एवं आदर्शरूप ही है। उनकी चरण-सेवा सुख-सम्पत्ति एवं सम्पन्नता प्रदान करती है; अनेक मंगल होने लगते हैं और आनन्द के बाजे बजने लगते हैं। इसीलिए आनन्दघनजी ने दीनानाथ को 'धींगधणी'—समर्थ स्वामी कहा है।

श्रीमद् आनन्दघनजी ने समन्वय-दृष्टि से भगवत्स्वरूप को प्रकट किया है। जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन है। अनेकान्त अर्थात् निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर भगवान भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देते हैं। उनके भिन्न-भिन्न नाम उनके विशिष्ट गुणों के कारण हैं। वे निर्गुण होते हुए भी दिव्य गुण-रत्नों से विभू-

---

१४. स्तुति २५;

१५. महामंत्र की अनुप्रेक्षा : पृष्ठ ४६.

पित है; वे निरजन होते हुए भी समस्त प्राणियों से प्रेम-सूत्र से बंधें हुए हैं। प्रभु के विविध नामों की महिमा में श्रीमद् आनन्दघनजी कहते हैं :

श्री सुपास जिन वंदीए सुख सपत्ति नो हेतु। ललना०
शांत सुधारस जलनिधि, भवसायर मां सेतु॥ ललना० श्री सु० ॥१॥
सात महाभय टालटो, सप्तम जिनवर देव। ललना०
सावधान मनसा करी, धारो जिनपद सेव॥ ललना० श्री सु० ॥२॥
अलख निरंजन वच्छलु, सकल जंतु विसराम। ललना०
अभयदान दाता सदा, पूरण आतमराम॥ ललना० श्री सु० ॥३॥
वीतराग मद कल्पना, रतिअरति भय सोग। ललना०
निद्रा तंद्रा दुरदसा, रहित अवाधित योग॥ ललना० श्री सु० ॥४॥
परम पुरुष परमात्मा, परमेश्वर परधान। ललना०
परम पदारथ परमेष्ठी, परमदेव परमान ललना० श्री सु० ॥५॥
विधि विरंचि विश्वंभरु, हृषीकेश जगन्नाथ। ललना०
अघहर अघमोचन धणी, मुक्ति परमपद साथ॥ललना० श्री सु० ॥६॥
इम अनेक अभिधा धरे, अनुभव गम्य विचार। ललना०
जो जाणे तेहने करे, आनन्दघन अवतार॥ ललना० श्री सु० ॥७॥

प्रभु 'सकल जतु विसराम' है। जिस प्रकार मां की गोद में शिशु आनद पूर्वक सोता है, उसी प्रकार भगवान की अभय शरण मे समस्त प्राणी सुख पाते हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश है, वे जगन्नाथ है, वे पाप-क्लेश का नाश करने वाले अघमोचन है।

ई० १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में औरंगजेब का शासन काल था। उस समय धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू-मुसलमानों के बीच अलगाव था। साम्प्रदायिक संकीर्णता ने समाज में विपमता उत्पन्न कर दी थी। आर्थिक पिछड़ेपन के कारण जनता में घोर निराशा थी। पाखडी धर्म के नाम पर भोली भाली जनता को ठगते थे। हरिजनों की दशा दयनीय थी। धार्मिक कर्म-कांडों में धर्म क़ैद था। ऐसे समय में सन्त आनन्दघनजी ने भेद भाव को दूर करने के लिए सत्प्रयास किया। उन्होंने घोपणा की कि राम-रहीम कृष्ण-करीम, महादेव एवं पारसनाथ एक ही भगवान है :

राम कहौ रहेमान कहौ, कोउ कान्ह कहौ महादेव री ।
पारसनाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ।।राम०।।१।।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री ।
तैसे खंड कल्पनारोपित. आप अखंड सरूप री ।।राम०।।२।।
निज पद रमै राम सों कहिये, रहम करै रहमान री ।
करषै करम कान्ह सो कहिये महादेव निरवाण री ।।राम०।।३।।
परसै रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चीन्है सो ब्रह्म री ।
इह विध साधो आप 'आनन्दघन' चेतनमय निःकर्म री ।।राम०। ४।।

मिट्टी के पात्र भिन्न-भिन्न रूपो में बनते हैं, परन्तु मिट्टी एक ही है; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नाम हैं, परन्तु भगवान का स्वरूप एक ही है। रंग-विरंगे लैम्पों में ज्योति रंग-विरंगी दिखाई देती है, पर ज्योति का स्वरूप तो सभी लैम्पों में समान है। निज स्वरूप में रमण करने वाला राम है, जो रहम अथवा दया करता है वह रहमान है; जो कर्मों का कर्षण कर आत्म स्वरूप को प्रकट करता हैं वह कृष्ण है; महादेव वह है जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है। जो निज स्वरूप को परस ले वह पारसनाथहै। आनन्दघन वही है जो शुद्ध चेतनमय है। जैन दर्शन के स्यादवाद (अनेकान्त-दर्शन) के मर्मज्ञ संत आनन्द-घनजी ने भगवान का सर्वव्यापी सहज स्वरूप जन साधारण को बताकर महोपकार किया है। इस महान संत ने धर्मांधता, संकीर्णता, असहिष्णुता, एव दुराग्रह से पीडित मरणोन्मुख मानव को एकता का अमृत पिलाया। उन्होंने समाज में व्याप्त नैराश्य अधंकार को दूर कर आशा का दीपक जलाया। जो धर्म मठाधीशों एवं बगुला भक्तों के आडम्बर रूपी कीचड़ में फंस गया था, उसे मुक्त कर सामान्य जन-मानस में कमल की तरह खिला दिया।

संत आनन्दघनजी ने कर्मकांड का खंडन किया है परन्तु शुद्ध क्रिया का समर्थन किया है क्योंकि यह मोक्ष प्राप्ति का साधन है। वे घोषणा करते हैं :

निज स्वरूप जे क्रिया साधे, तेह अध्यात्म लही रे;
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यात्म कहीए रे।
(श्री श्रेयांस जिन स्तवन)

जिस क्रिया से, जिस चरित्र से, जिस जीवनचर्या से निजस्वरूप की प्राप्ति होती है वही शुद्ध क्रिया है; जिस क्रिया से-आडम्बर युक्त कर्मकाण्ड से चार गतियों (देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी, में भ्रमण करना पड़े, वह आध्यात्मिक क्रिया नहीं कही जा सकती, उस जीवन को कोई भी पवित्र नही कहेगा।

शुद्ध क्रिया की आधार शिला है शुद्ध श्रद्धा-सम्यक्‌दर्शन (Right Faith) शुद्ध श्रद्धा से निर्मल भक्ति उत्पन्न होती है। प्रभु सेवा में उमंग रहती है, आनन्द धारा वहती रहती है। भक्त के सारे कार्य-कलाप सहज हो जाते है। यान्त्रिक नहीं। शुद्ध श्रद्धा आने पर अन्तर्दृष्टि खुल जाती है, प्रभु का शुद्ध स्वरूप समझ में आ जाता है, धर्म-अधर्म का विवेक हो जाता है मोह का पर्दा हट जाता है। शुद्ध श्रद्धा शिव का त्रिनेत्र है जिसकी प्रखर अग्नि-ज्वाला में अज्ञान भस्म हो जाता है। शुद्ध श्रद्धा के बिना मुक्ति-मन्दिर पहुँचना असम्भव है। श्रद्धा हीन क्रियाएँ निष्फल होती हैं :

'शुद्ध श्रद्धान विण सर्व क्रिया करे, छारपर लींपणु तेह जाणो।'[१६] श्रद्धा विहीन भक्त की समस्त क्रियाएँ राख पर लीपन के समान है। राख पर लीपना व्यर्थ है।

शुद्ध श्रद्धा (सम्यक्‌दर्शन) आने पर भक्त का सारा जीवन, उसका समस्त आचरण आनन्दघन के चरणों में चढ़ने वाला पुष्प वन जाता है। देखिये, श्रद्धावान मस्त फकीर का यह रूप :

मेरे प्रान आनन्दघन तान आनन्दघन ॥

मात आनन्दघन तात आनन्दघन।
गात आनन्दघन जात आनन्दघन ॥ मे० ॥१॥
राज आनन्दघन काज आनन्दघन।
साज आनन्दघन लाभ आनन्दघन ॥ मे० ॥२॥
आभ आनन्दघन गाभ आनन्दघन।
नाभ आनन्दघन लाभ आनन्दघन ॥ मे० ॥३॥

---

१६. आनन्दघन कृत श्री अनंतनाथ जिन स्तवन से उद्धृत।

महर्षि अरविंद कहते हैं :

'तुम भगवान के दिव्य रूप को अपने जीवन में प्रकट करो। तुम प्रभु-मय बनो, उसके प्रकाश में चमको, अपने कार्यकलापों में उसकी दिव्य शक्ति प्रदर्शित करो, उसके आनन्द में रमण करो। प्रभु के आनन्द में, उसकी महिमा में, उसके सौंदर्य में, जीवन को रंग दो।'[१७]

संत साईंबाबा विश्वास पूर्वक बताते हैं :

जीवन वृक्ष के समान है। प्रभु के प्रति श्रद्धा वृक्ष की जड़ है। हमारे सारे सम्बन्ध वृक्ष की शाखाएँ हैं। बुद्धि सुगन्धित फूल है। आनन्द फल है। उस फल का रस है चरित्र।[१८]

निर्मल श्रद्धायुक्त भक्त का जीवन प्रभुमय बन जाता है। उसकी समस्त क्रियाएँ विमान की तरह उड़कर उसे आनन्दसागर के पास पहुँचा देती है। इसी-लिए सन्त छोटमजी डंके की चोट कहते हैं :

आनन्दसागर सोई संतो भाई आनन्द-सागर सोई;
जीहां द्वैत रहे नहीं कोई, संतो भाई आनन्दसागर सोई।
सोहं हंस जीहाँ लय पावे अनहद ज्योति समावे;
आनन्दसागर जो जन पावे, सो भव में न आवे॥

---

१७. it is to discover God as thyself and reveal him to thyself in all things. Live in his being, shine with his light, act with his power, rejoice with his bliss. Be that joy and the greatness and that beauty.

—The Hour of God : Shri Arvindo ; Page 11

१८. Our liife is like atree, Faith in God is the root of the tree. Our relations are its branches. The intellect is like a fragrant flower. Its fruit is bliss. The juice of that fruit is caracter.

—Saint Saibaba : The Illustrated Weekfy of India Vol. XC : 21-3-71

निर्मल श्रद्धा से निर्मल जीवन बन जाता है; द्वैतता मिट जाती है; भक्त और भगवान एकाकार हो जाते हैं; भक्त के जीवन की आनन्दधारा आनन्दसागर में मिल जाती है। भक्त को आनन्दघन के चरण-कमलों में स्थान प्राप्त हो जाता है।

ज्ञान-भक्ति योग के समन्वय से निज स्वरूप का बोध हो जाता है। संसारी जीव की तीन अवस्थाएँ हैं : १. वहिरात्मा. २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा वहिरात्मा देह को ही आत्मा मानता है, वह दैहिक सुख में रचा-पचा रहता है। आनन्दघनजी महाराज वहिरात्मा को 'अघरूप' मानते हैं। अपने सुख को जुटाने में व्यस्त वहिरात्मा अनेक कुकर्म करके दुर्गति में गिरता है। अन्तरात्मा वे हैं जो मोह-निद्रा से जागकर निज स्वरूप प्रकट करने के लिए प्रत्यनशील हो जाते हैं। अपनी शुद्ध सावना से आत्माराम परमात्म-पद प्राप्त कर लेते हैं। जव मोह नींद टूट जाती है तव जाग्रत जीव को यह भान हो जाता है कि देह और आत्मा भिन्न हैं।[१९] योग में इस अवस्था को जागृति कहते हैं; जैन दर्शन इसे 'सम्यक्त्व' प्राप्ति कहता है। 'सम्यक्त्व' शुद्ध श्रद्धा को कहते है। जैन दर्शन में 'चौहद गुण स्थानों का वड़ा महत्व है। यह 'मुक्ति-सोपान' है जिस पर जीवात्मा चढ़कर मुक्त मन्दिर में पहुँचती है। मुक्ति-सोपान की १४ पायडियां हैं। प्रथम तीन पायडियाँ मोहावृत्त हैं। इन पर चढ़ते हुए जीवात्मा मायावरण में वेभान रहती है। चौथी पायडी (सम्यक्त्व गुणस्थान) पर पाँव धरते ही उसे अपने मनमोहन के स्वरूप का भान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि चौथे गुणस्थान से जीवात्मा मुक्तिमन्दिर की वास्तविक यात्रा का शुभारम्भ करती है। ग्यारह गुणस्थानों पर पहुँचते-पहुँचते जीवात्मा को मोह-माया जन्य अनेक विघ्न-बाधाओं से जूझना पड़ता है। वारहवीं पाँवड़ी (संक्षीण कपाय गुणस्थान) मुक्ति मन्दिर की प्रवेश पाँवड़ी है। १३ वीं पाँवड़ी (सयोगी केवली गुणस्थान) पर चढ़ते ही अन्त-र्दृष्टि पूर्णतया खुल जाती है। यही है केवल ज्ञान या ब्रह्म दर्शन। मुक्ति सोपान की अन्तिम पाँवड़ी है अयोगी केवली गुणस्थान। यह है सिद्धावस्था। आत्मा

---

१९. अन्नो जीवो अन्नं सरीरं २।१।९ सूत्रकतांगसूत्र
(आत्मा और है, शरीर और है।)

परमात्मा में समा जाती है। जीवात्मा का आनन्दघन के चरणों में चिर निवास हो जाता है। श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज कहते हैं कि वे मनुष्य कभी नहीं फिसलते जो निर्मल प्रेम-भक्ति से प्रभु को भजते हैं। 'साहेव' की भक्ति के लिए न पांडित्य की आवश्यकता है और न पैसों-टकों की। ऊँच-नीच, जांति-पांति का भी कोई भेदभाव नहीं है। उस 'अमोलक रतनधन' को पाने के लिए निरूपाधिक-निस्वार्थ प्रेम चाहिए। भक्त प्रेम-भाव से अपने साहेव को विनती करता है :

अवधू क्या मांगु गुनहीना, वे तो गुनगन गगन प्रवीणा ॥
गाय न जानु बजाय न जानु नै जाणु सुर भेवा।
रीझ न जानु रीजाय न जानु. नै जानु पद सेवा ॥ अवधू०॥१॥
वेद न जानु कतेव न जानु जानु न लच्छन छंदा ।
तरक वाद विवाद न जानु, न जानु कवि फंदा ॥ अवधू० ॥२॥
जा। न जानु जुवाव न जानु, न जानु कथ बाता।
भाव न जानु भगति न जानु. जानु न सीरा ताता ॥अवधू ०॥३॥
ग्यान न जानु विग्यान न जानु, न जानु भजनामा ।
आनन्दघन प्रभु के घर द्वारे, रटन करू गुणधामा ॥ अवधू ० ॥४॥

इस पद में प्रभु सेवा का सरल नुस्खा वताया गया है। भक्ति में विनय भाव का महत्व है। विनय भाव समर्पण की भूमिका है। प्रभु के अभय चरणों में समर्पण से भक्त भगवान के ऐश्वर्य को पा लेता है। सामान्य व्यक्ति के लिए भी यह खजाना खुला हुआ है। भगवान महावीर स्वामी कहते हैं :

धर्म रूपी वृक्ष का मूल विनय है और उस मूल में से प्रकट होने वाला उत्तमोत्तम रस मोक्ष है। विनय से ही मनुष्य कीर्ति, विद्या. श्लाघा-प्रशंसा और कल्याण शीघ्र प्राप्त कर लेता है।[२०]

श्रीमद् आनिन्दघनजी महाराज कहते हैं कि सम्यक् ज्ञान मुक्तिदाता है। ज्ञान प्राप्ति के साधन है : सत्शास्त्र, सुगुरू एवं सत्संगति। सत्शास्त्र को सम-

---

२०. एव धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।
जेण किर्त्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥
(दशवैकालिक सूत्रः अ. ६ उ. २ गा. २)

झने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिये। सुगुरु के विना ज्ञान मिलना सम्भव नहीं। सत्संगति भी इस कलिकाल में दुर्लभ है। इनका अकाल सा पड़ गया है। भाग्य विना इनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसी परिस्थिति में दीनानाथ वीतराग स्वामी की भक्ति ही कल्पतरू के समान है। भक्ति से सब साज-सामान सहज उपलब्ध हो सकते हैं। इसीलिए श्रीमद् आनन्दघनजी निर्मल भाव से (अभय, अद्वेष, अखेद भाव से) प्रभु सेवा का उपदेश देते हैं।

संसार में भ्रमण का कारण है ममता। भव-भ्रमण से मुक्त करने वाली है समता। भगवान समतावंत हैं—रागद्वेष से रहित हैं। समरस में रमण करने वाली वीतराग देव की सेवा-भक्ति से समता प्राप्त होगी। समरस अर्थात् शान्त रस के क्षीर सागर में शेषनाग (सुषुम्ना) की सेज पर सोने वाले लक्ष्मीरमण (मुक्ति लक्ष्मी के स्वामी) सच्चिदानन्द की सेवा-पूजा से ममता मिट जायगी और समता-धार प्रवाहित होगी। आनन्दघनजी महाराज समता-रंग में रमन करने का उपदेश देते हैं:—

(राग—आशावरी)

साधो भाई समता संग रमीजे अवधू ममता संग न कीजै। साधो०॥

संपत्ति नाहीं नाहीं ममता में, रमता माम समेटे।
खाट पाट तजी लाख खटाउ, अन्त खाख में लेटे॥ साधो० ॥१॥
धन धरती में गाडे वौरा, धूरि आप मुख ल्यावे।
मूषक सांप होइगो आखर, तातें अलच्छी कहावे॥ साधो० ॥२॥
समता रत्नागर की जाई, अनुभव चंद सुभाई।
कालकूट तजी भव में श्रेणी, आप अमृत ले जाई॥साधो०॥३॥
लोचन चरन सहस चतुरानन, इनतें बहुत डराई।
आनन्दघन पुरुषोत्तम नायक. हितकरी कंठ लगाई। साधो० ॥४॥

आत्मप्रिया कहती है कि ममता हजारों नेत्रों से, मुझे देख रही थी, हजारों पाँवों से दौड़कर मेरा पीछा कर रही थी, चारों ओर मेरी घात लगाए हुए थी। परन्तु मैंने समतारस धारी प्रभु की अभय शरण पकड़ ली, अतः उसके सारे पासे उल्टे पड़े। इस संसार में नवरस प्रवाहित हैं परन्तु साधुजन समता रंग में अपने को रंगते हैं। नव रसमय संसार की झांकी देखिये:—

१. दुःख दृष्टि से संसार करुणारस से भरपूर है।
२. पाप दृष्टि से संसार रौद्र रस से भरपूर है।
३. अज्ञान दृष्टि से संसार भयानक रस से भरपूर है।
४. मोह दृष्टि से संसार वीभत्स और हास्य रस से भरपूर है।
५. सजातीय दृष्टि में संसार स्नेहरस से भरपूर है।
६. विजातीय दृष्टि से संसार वैराग्य रस से भरपूर है।
७. कर्म दृष्टि से संसार अद्‌भुत रस से भरपूर है।
८. धर्म दृष्टि से संसार वीर और वात्सल्य रस से भरपूर है।
९. आत्मदृष्टि से संसार समतारस से भरपूर है।
१०. परमात्म दृष्टि से संसार भक्तिरस से भरपूर है।
११. पूर्ण दृष्टि से सभी रसों की समाप्ति शान्तरस में होती है।

जैसे सूर्य के श्वेतवर्ण में सप्तरंग होते हैं, वैसे सभी रस तृष्णा क्षय रूप, शमरस रूप, स्थायी भाव, विभावानुभाव, संचारी भाव प्राप्त कर शान्तरस में परिणत हो जाते हैं।[२१]

नवरसमय संसार में भक्तजन समतारस में ही रमते हैं।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। भक्ति-ज्ञान एवं कर्म की साधना से भगवत्स्वरूप प्राप्त हो जाता है। श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज के अनुसार योग ही सम्यक् चारित्र है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने योग को सम्यक् चारित्र माना है। आनन्दघनजी महाराज कलिकाल सर्वज्ञ की परम्परा के पहुँचे हुए महात्मा थे। भगवद् भक्त अपने जीवन को प्रभु का पावन मन्दिर बना लेता है। प्रिय मिलन के लिए प्रिया ने अपने जीवन को अत्यन्त पवित्र बना लिया है। उसका शृंगार देखिये:—

आज सुहागन नारी, अौधू, आज सुहागन नारी। टेक
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी नीज अंग चारी ॥अौधू० ॥१॥
प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जीनी सारी।
महिंदी भक्ति रंग की राची, भाव अंजन सुखकारी ॥अौधू० ॥२॥

---

२१. श्रीमद् भद्रंकर विजयजी महाराज के सदुपदेश से प्राप्त।

सहज स्वभाव चूरी में पेनी, थीरता कंगन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पियगुन माल आधारी ।।औघू० ।।३।।
सूरत सिंदूर मांग रंगराती, निरते वेणी समारी ।
उपजी ज्योत उद्योत घट, त्रिभुवन, आरसी केवल कारी ।।औघू०।।४।।
उपजी धूनी अजपा की अनहद, जीत नगारे वारी।
झडी सदा 'आनन्दघन' वरखत, वन मोर एकनतारी ।।औघू०।५।

प्रेम की रंग-विरंगी चुनरिया ओढ़कर भक्ति की मेंहदी रचाकर, सहज स्वभाव की चूडी पहनकर और प्रिय के गुण-रत्नों की माला (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र—रत्नत्रयी) से सजकर प्रिया-अभिसारिका वनठन कर प्रिय मिलन हेतु उल्लासपूर्वक चल पड़ी है। प्रिया के इस रूप को निहार कर प्रिय क्यों नहीं रीझते? शुद्धआत्मदर्पण में मनमोहन का रूप छलक उठा।

श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज ज्ञानी, प्रेम योगी एवं समदर्शी संत थे। उन्होने प्रभु दर्शन के लिए अष्टांग योग को प्रवल साधन माना है। परन्तु उनकी दृष्टि में योग और सम्यक् चारित्र एक ही है। योग दर्शन के अनुसार योग के आठ अंग हैं: १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७, ध्यान, ८. समाधि। समाधि अवस्था में योगी का ब्रह्मरंध्र खुल जाता है और उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। इस अवस्था में सहस्रदल कमल खुल जाता है और उससे मकरंद विंदु टपकती है। कुंडलिनी मकरंद विंदु (सुधारस) का पान कर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाती है। महाकुंडलिनी नाड़ी शक्ति (Divine Energy) का निवास है अग्निचक्र। व्यक्ति में प्राण के साथ यह शक्ति जन्मना आती है। अग्निचक्र के ऊपर मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धाख्यचक्र, आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र हैं। अंतिम को शून्य चक्र या कैलाश भी कहते हैं। यहाँ सदा अमृत झरता है। योगी का कर्त्तव्य, साधना (सम्यक् चारित्र) द्वारा कुंडलिनी को जगाकर क्रमशः इसी चक्र तक ले जाना और अमृत पिलाना है। कुंडलिनी से ऊपर उठने पर शब्द होता है जिसे नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है जिसके प्रकट रूप को विंदु कहते हैं। यही है नित्यानन्द अवस्था। यही है ब्रह्मदर्शन, केवल ज्ञान

या Eternal Bliss। यही है समतारस, यही है ब्रह्मानंद। योगिराज आनन्द-घनजी का यह पद अष्टांग योग का दिग्दर्शन कराता है:—

आतम अनुभव प्रेम को, अजब सुण्यो विरतंत।
निर्वेदन वेदन करे, वेदन करे अनन्त।
म्हारो बालुडो सन्यासी, देह देवल मठवासी ॥१॥
इडा पिंगला मारग तज जोगी, सुखमना[२२] घर आसी।
ब्रह्मरंध्र मधि आसणपूरी बाबु, अनहद नाद बजासी ॥२॥
जम नियम आसन जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी।
प्रत्याहार धारणाधारी, ध्यान समाधि समासी ॥३॥
मूल उत्तर गुण मुद्राधारी, परयंकासन चारी।
रेचक पूरक कुंभक कारी, मन इन्द्री जयकारी ॥४॥
स्थिरता जोग युगति अनुकारी, आपो आप विचारी।
आतम परमातम अनुसारी, सीजे काज सवारी ॥५॥

इस पद से यह सुविदित हो जाता है कि योगिराज श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज अष्टांग योग के मर्मज्ञ थे। उनका सम्पूर्ण जीवन ज्ञान-भक्ति और योग का त्रिवेणी संगम था।

इस विरले संत के विषय में अनेक चमत्कार-कथाएं प्रचलित हैं। जोध-पुर की महारानी से महाराज रूठ गये। महारानी चिंतत रहने लगी। उसने सुना कि जोधपुर के समीपवर्ती डूंगर में आनन्दघन नामक योगी भगवद् भक्ति में लीन रहते हैं। उनकी कृपा से दुःख-दुविधा मिट जाती है। महारानी ने उनके दर्शन किये। वह प्रति दिन उनके दर्शनार्थ जाने लगी। एक दिन उसने योगिराज को अपनी मनोव्यथा सुनाई। संत ने एक कागज के पर्चे पर लिखा 'राजा-रानी दो मिले उसमें आनन्दघन को क्या'। रानी को वह पुर्जा देकर

---

२२. शरीर में ६२ हजार नाड़ियां हैं, ईडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि। सुषुम्ना शम्भवी शक्ति है।

—हिंदी साहित्य कोश: प्रकाशक ज्ञान मंडल लिमिटेड, बनारस: पृष्ठ ६११.

कहा कि इसे तावीज मे डाल कर बांध लेना। सिद्ध पुरुप की कृपा से राजा रानी प्रसन्न रहने लगे।

इस सिद्ध महात्मा के आशीर्वाद से आसपास आनन्द मंगल होने लगे। उनकी गुफा में सिंह आ जाते थे, सर्प घूमते थे, परन्तु किसी में हिंसक भाव नहीं था। यद्यपि ये चमत्कार लगते हैं परन्तु दिव्य पुरुषों के लिए ये स्वाभाविक घटनाएं हैं। इन चमत्कारों का वैज्ञानिक आधार क्या है ?

रेडियो के सिद्धान्त के अनुसार महात्माओं के चमत्कार सत्य प्रतीत होते हैं। रेडियो केन्द्र से प्रसारित कोई भी कार्यक्रम-भाषण, गीत, नाटक आदि को ब्रह्मांड में व्याप्त शाश्वत रेडियो तरंगें ग्रहण करती हैं। रेडियो सेट उन तरंगों में प्रसारित कार्यक्रम को 'रिसीव' करते हैं। इसी प्रकार योगी-महात्मा रेडियो केन्द्र के समान हैं। उनकी दिव्यता (विद्युत शक्ति) के कारण उनके दिव्य विचार, मन्तव्यादि ब्रह्मांड में व्याप्त रेडियो तरंगों पर तैरते हैं। उन्हें प्रकृति, पशु-पक्षी, मानव अपनी-अपनी विद्युत शक्ति के कारण अनजाने ही ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि जहाँ सिद्ध महात्मा विचरते हैं, वहाँ का वातावरण कोमल एवं प्रेम पूर्ण हो जाता है। पशु-पक्षियों के पारस्परिक वैर भाव लुप्त हो जाते हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीमद् आनन्दघन के मंगलमय आशीर्वाद से राजा के मन के परमाणु बदल गये और रानी के भाग्य खुल गये।

जीवन का विद्युद्गतिक (Elecrto dynamics) सिद्धान्त भी इस मत की पुष्टि करता है। वैज्ञानिकों की यह सम्मत्ति है कि मनुष्य सदा अनेकानेक अदृश्य शक्तियों के (जिनमें विद्युत् शक्ति भी एक है) स्पंदी सागर में तैरता रहता है और उसके शरीर के अंग 'रिसीवरों' और 'ट्रांस्फॉर्मरों' की भूमिका अदा करके इन शक्तियों को अपनी सामर्थ्य और आवश्यकतानुसार ग्रहण करते रहते हैं। जीवन के विद्युद्गतिक सिद्धान्त के अनुसार सारे ब्रह्मांड में व्याप्त विद्युत् क्षेत्र सब जीवों को प्रभावित करता है और जीवन इस विद्युत क्षेत्र से प्रभावित होते हुए स्वयं भी उसे प्रभावित करता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक जीव, प्रत्येक मानव सारे ब्रह्मांड से इस विद्युत्-क्षेत्र से जुडा हुआ है। इस प्रकार वह पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र और उसके माध्यम से सूर्य और चन्द्र के विद्युत् क्षेत्र से भी

संबंधित है। उसके अंग-प्रत्यंग भी रिसीवरों एवं ट्रांस्फार्मरों का काम करते हैं। वह अन्य दिव्यात्माओं की विद्युत् शक्ति से भी प्रभावित रहता है क्यों कि प्रत्येक जीवात्मा दूसरी से विद्युत् शक्ति से जुड़ी हुई है। जिन जीव में विद्युत शक्ति की जितनी प्रबलता होगी वह अन्य जीवों को उतना ही प्रभावित कर सकेगा। महापुरुषों के चमत्कारों का कारण भी यह विद्युत् शक्ति है। उनकी दिव्य शक्ति का क्षेत्र विशाल एवं व्यापक होता है। वे जहाँ विचरते हैं, वहाँ का क्षेत्र अनेक मंगलों से परिपूरित रहता है। प्रकृति सरस बन जाती है एवं जीवात्माओं में कोमल भावों का प्रस्फुटन हो जाता है।

संत-महात्माओं के विचारों को विद्युत् तरंगें दूर-दूर तक ले जाती हैं। प्रचण्ड एवं प्रखर मनोबल के कारण उनका मन्तव्य संबंधित व्यक्ति को अचूक बान के समान बेधता है। विज्ञान के विद्युत्तरंगिक सिद्धान्त के अनुसार चमत्कार महात्माओं की दिव्य विद्युत् एवं चुम्बकीय शक्ति के कारण घटित होते हैं। श्रीमद् आनन्दघनजी पहुँचे हुए योगी थे, अतः ये चमत्कार उनके दिव्य एवं सहज जीवन के परिचायक हैं। आनन्दघनजी के जीवन का सर्वोत्कृष्ट चमत्कार है—समता भाव।

आनन्दघनजी ने विविध राग-रागिनियों में गीतों की रचना की है। ये विभिन्न राग आत्म ललना की जागृति, विरहोन्माद, मिलनोत्कंठा, मिलन की खुमारी एवं दर्शन सुख आदि भाव-दशाओं को प्रकट करते हैं। श्री ऋषभ देव स्वामी का प्रथम स्तवन मारु राग में गाया गया है। मारु राग युद्धोत्साह जगाने के लिए उपयुक्त है। राग-द्वेषादि विकट शत्रुओं से जूझने के लिए अदम्य उत्साह एवं शौर्य चाहिए। श्री अजितनाथ जिन स्तवन में आशावरी राग है। मोह-नींद के पश्चात् जागृति के प्रभात में प्रिय मिलन की आशा का संचार होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार स्तवन गीतों एवं पदों में विविध राग-रागिनियां का प्रयोग सप्रयोजन हुआ है। समस्त गीतों में संगीत की मधुरता आत्म विभोर कर देती है।

श्रीमद् आनन्दघनजी के समस्त गीत अनुभव रसामृत से भीगे हुए हैं। उन्होंने जैन दर्शन का सागर अपने काव्य-कलश में भर लिया है। इनकी शैली सूरज की किरण के समान है। किरण में सप्त रंग हैं, परन्तु वह श्वेत रंग

वाली दिखाई देती है । वैसे ही श्रीमद् आनन्दघनजी ने अपने संक्षिप्त काव्य में जैन दर्शन का समन्वयकारी रूप प्रस्तुत किया है । समस्त धर्म उसमें समाये हुए हैं । उनका काव्य यह प्रकट करता है कि जैन दर्शन किसी वर्ग, सम्प्रदाय या जाति विशेप की सपत्ति नहीं है, यह आत्म दर्शन है जिससे मानव मात्र दु.ख दारिद्रय से मुक्त होकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है । अन्तरंग दृष्टि से देखने पर आनन्दघनजी का काव्य रत्नाकर के समान लगता है । अन्तर्दृष्टि वाला काव्य मर्मज्ञ एवं भक्त हृदय ही इसके रत्नों को पा सकता है । मैं तो इस दिव्य सागर-तट पर खड़ा-खड़ा चन्द्र ज्योत्स्ना में क्रीडा करती उत्फुल्ल लहरों को देख कर ही तृप्त हूँ ।

मैं अल्पज्ञ हूँ । भक्ति वंश कुछ अटपटे शब्द-पुष्पों को भूमिका के रूप में श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज के चरणों में चढ़ा रहा हूँ ।

'आनन्दघन ग्रंथावलि' में 'आनन्दघन चौवीसी' 'आनन्दघन बहोतरी' तथा अन्य पदों के सरलार्थ और सुबोध भाष्य हैं । लेखक ने निष्ठा से कार्य किया है । योगिराज के गीतों में निहित भावों को प्रकट करने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिये; जैन दर्शन का विशद एवं अन्तरंग अध्ययन चाहिये तथा काव्यात्मा में प्रवेश के लिए कवि हृदय चाहिए । साथ ही चाहिये भक्ति रंग में रंगी दृष्टि ।

मेरी दृष्टि में लेखक का प्रयास स्तुत्य है 'आनन्दघन ग्रंथावलि' जनता में अधिकाधिक लोक प्रिय होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

शिवमस्तु सर्व्वजगतः

फालना (राजस्थान)
दिनांक 15, 5, 74

जंवाहरचन्द्र पटनी
एम. ए, (हिन्दी एवं अंग्रेजी)
उप प्राचार्य— श्री पार्श्वनाथ उम्मेद महाविद्यालय, फालना

श्री आनंदघनजी के जीवन प्रसंग

श्री आनंदघनजी १७ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग और अठारहवीं शती के आरम्भिक तीन दशकों में विद्यमान थे। उनके गच्छ, दीक्षागुरु, तथा सहयोगियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती है। किन्तु यह निश्चित है कि इनका उपाध्याय श्रीयशोविजय से मिलाप हुआ। विशिष्ट पुरुषों की जीवन घटनाओं का इतना महत्व नहीं होता जितना महत्व उनकी वाणी का होता है। वाणी द्वारा वे सदा विद्यमान रहते हैं।

श्री आनंदघनजी जैनागमों के मर्मज्ञ, न्याय, तर्क, छन्द, अलंकार और संगीत के उत्कृष्ट विद्वान थे। उनकी जीवनचर्या, विचारधारा और मान्यता के दर्शन स्थान-स्थान पर उनकी वाणी में भरे पड़े हैं। जो व्यक्ति उनकी कृतियों का मनन और अनुशीलन करेगा, वह उनके रहन-सहन, तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति आदि से सुचारु रूप से परिचय पालेगा।

श्री आनंदघनजी जैनागमानुसार साधुचर्या का पालन करते थे। उनके साधुत्व का आदर्श इस आगम वाक्य के अनुसार था —

"लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविये मरणे तहा।
समोनिंदा पसंसासु, तहा मणावमाणओ ॥"

उनकी आत्मध्वनि उनकी वाणी से भी सुन लीजिये—

मान अपमान चित सम गिणे, सम गिणे कनक पाषाण रे।
वंदक निंदक सम गिणे, इश्यो होय तूं जाण रे ॥

सर्व जग जन्तु सम गिणे, गिणे तृण मणि भाव रे।
मुक्ति संसार बेहु सम गिणे, मुणे भव-जलनिधि नाव रे ॥

(श्री शान्तिनाथ स्तवन)

इस प्रकार आत्मा में रमण करते हुये अपने आराध्य के प्रति उनका 'कपट रहित आत्मार्पण था। वे सदा 'अभय, अद्वेष और अखेद' में लीन रहते थे। यही योग की उत्कृष्ट स्थिति है और यही साधना का उच्चतम मार्ग है। पर वस्तु को अपनी समझना ही भय का कारण है। अज्ञान दशा (मोह दशा) ही भय है। अपने स्वरूप का ज्ञान होना अभय है। इस दशा का नाम ही योग है। स्व पर का भेद ज्ञान ही मुख्य है। स्वभाव रमणता ही अभय, अद्वेष और अखेद की द्योतक है।

श्री आनंदघनजी का तत्कालीन समय में साधुओं में फैले हुये शिथिलाचार की ओर ध्यान गया। इस स्थिति की उन्होंने भर्त्सना भी की है—

गच्छना भेद बहु नयण निहालतां, तत्त्वनी बात करता न लाजे ॥
उदरभरणादि निज काज करता थकां, मोह नडिया कलिकाल राजे ॥
पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे अन्धो अन्ध पलाय।
वस्तु विचारे जो आगमे करी रे, चरण धरण नहीं ठाय ॥"

उनका तो स्पष्ट मत था—

'आतम ज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, 'आनदघन' मति संगीरे ॥'

किन्तु इस भर्त्सना आदि का कोई परिणाम न निकलने से वे अध्यात्म ग्रन्थों के स्वाध्याय एवं आत्मध्यान में विशेष आकृष्ट हुये। स्वाध्याय ध्यान द्वारा आत्मानंद में लीन रहने लगे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि राग-द्वेष ही संसार का मूल कारण है। साधु जीवन स्वीकार करने के बाद भी राग-द्वेष के खटराग में ही फंसा रहना तो आत्मा से विमुख होना है, अपने ध्येय से गिरना है। वे इन सबसे उदासीन होकर अपने ध्यान-स्वाध्याय में लीन रहने लगे।

सेठ के लिये व्याख्यान-प्रतिबन्ध

गुजरात के किसी नगर में श्री आनंदघनजी का चतुर्मास था। उस नगर में ऐसी परम्परा चल पड़ी कि अमुक सेठ के आये बिना साधु व्याख्यान आरम्भ नहीं कर सकते थे। पर्वाधिराज पर्यूषण के अवसर पर श्री आनंदघन

जी यथा समय व्याख्यान आरम्भ करने लगे, तब सेठ की माता ने कहा कि मेरे पुत्र के आये विना आप व्याख्यान आरम्भ नहीं कर सकते। कुछ समय श्री आनंदघनजी ने प्रतीक्षा की। लोगों ने सेठ को जल्दी आने के लिये सूचना भिजवाई किन्तु सेठ आया नहीं। पुनः व्याख्यान आरम्भ करने लगे, तब फिर लोगों ने भी कहा सेठजी को आ जाने दीजिये, नहीं तो वे नाराज होंगे। इस पर आनंदघनजी विचार करने लगे कि इस प्रकार श्रावकों के प्रतिवन्ध से आगम विरुद्ध होना योग्य नहीं है। आगम के अनुसार स्वाध्याय काल का साधु को ध्यान रखना ही चाहिये। आगम विरुद्ध मुझे तो नहीं जाना चाहिये, चाहे कोई नाराज हो या खुश हो। ऐसा विचार कर उन्होंने कल्पसूत्र का व्याख्यान आरम्भ कर दिया। सेठ को जब यह समाचार मिला तो वह बहुत क्रोधित हुआ। क्रोध में भरे हुए वह उपाश्रय में आया सेठ आनंदघनजी से कहने लगा, "मेरे आये विना आपने व्याख्यान कैसे आरम्भ कर दिया।" श्री आनदघनजी ने उत्तर में कहा--"आगमों के अनुसार स्वाध्याय काल में ही सूत्र-वाचन होता है, अन्य समय नहीं। इसलिये मैंने व्याख्यान आरम्भ कर दिया।" सेठ ने कहा—"मेरे उपाश्रय में तो परम्परानुसार ही व्याख्यान होगा।" श्री आनंदघन जी ने कहा--"मुझे तो आगमों के अनुसार ही व्यवहार करने की आवश्यकता है, अन्य बातों की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। यह उत्तर सुनकर सेठ और भी क्रोध में भर कर बोला—"मेरे उपाश्रय में रहना हो तो मेरे अनुसार ही चलना होगा, नहीं तो मेरे उपाश्रय में नहीं रह सकते। सेठ के इस प्रकार कहने के पश्चात् और कल्पसूत्र का व्याख्यान पूर्ण होने के बाद श्री आनंदघनजी ने विचार किया कि इस प्रकार के प्रतिवन्ध में मुझे तो आगमों के अनुसार साधुचर्या में तत्पर रहकर विचरना चाहिये। इस निश्चय के अनुसार श्री आनंदघनजी ने समिति-गुप्ति में सजग रहते हुये एकान्त स्थानों में (गिरि कंदराओं और श्मसान में) रहकर साधना आरम्भ कर दी। इस तरह रहते हुये उन्होंने प्रकृति के कोप और सर्प सिंह आदि के उपसर्ग आनन्दपूर्वक वहन किये। इन उपसर्गों से तनिक भी विचलित नहीं हुये। निसंगता बढ़ने लगी। इससे ऐसे योगी महात्मा को विशिष्ट शक्तियां प्राप्त हो गई हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

श्री योगीराज आनंदघनजी के संबंध में कई चमत्कारपूर्ण किंवदंतियां सुनी जाती हैं। इन प्रवादों के सत्यासत्य के विपय में निर्णय होना तो संभव नहीं है किन्तु योगीराज चमत्कारी पुरुप थे. इसमें कोई सदेह नहीं है। हम लोग उनके अनुयायी भक्त अपने श्रद्धेय के प्रति चाहे कितनी भी उच्च कोटि की भावनायें रखें, वह प्रामारिणक नहीं मानी जा सकती हैं किन्तु अन्य धर्मावलबियों के उल्लेख अधिक विश्वमनीय माने जा सकते हैं। परणामी संप्रदाय के संस्थापक श्री प्राणलालजी, आनंदघनजी के समसामयिक थे। उनके जीवन चरित्र में यह उल्लेख मिलता है—

"श्री प्राणलालजी एक समय सं. १७३१ से पूर्व मेड़ता गये थे। उनका मिलन और शास्त्रार्थ श्री आनंदघनजी से हुआ जिसमे उनका (आनंदघनजी) पराभव होने से उन्होने कुछ प्रयोग श्री प्राणलालजी पर किये किन्तु उससे उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ। जब वे दूसरी बार मेड़ते गये तब उनका (आनंदघनजी का) स्वर्गवास हो चुका था।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री आनंदघनजी का स्वर्गवास स. १७३१ में हुआ था तथा वे चमत्कारी योगी थे।

मैं यहां उनके सम्बन्ध की किंवदंतियों का संकलन संक्षिप्त में देना समीचीन समझता हूँ जिससे पाठको को उन्हें समझने का पूरा-पूरा अवसर मिल जावे।

उ. श्रीयशोविजयजी और आनंदघनजी का मिलन

उपाध्याय श्रीयशोविजयजी और श्री आनंदघनजी का मिलन तीन बार हुआ, कहा जाता है। नीचे उनके मिलन की घटनायें दी जा रही है।

(१)

सतरहवीं और अठारहवी शती मे जैन साधुओं में उपाध्याय श्री यशोविजयजी बहुश्रुत, जैन न्याय के प्रसिद्ध व्याख्याता, विवेचन कर्त्ता विद्वान थे। उनकी व्याख्यान शैली अनुपम थी। उनका व्याख्यान सुनने के लिये सैंकडों की संख्या में श्रावक-श्राविका एवं साधु साध्वियां एकत्रित होते थे।

एक समंय की घटना[1] है कि उ. यशोविजयजी का व्याख्यान अध्यात्म विषय पर हो रहा था। उस समय श्रोताओं में सभी प्रकार के व्यक्ति उपस्थित थे। व्याख्यान शैली और विषय विवेचन से श्रोतागण मुग्ध हो रहे थे। एक श्लोक के विवेचन ने तो कमाल ही कर दिया था। श्री आनंदघनजी उन दिनों उसी स्थान पर थे। उन्होंने भी उ. श्री यशोविजयजी की विवेचन शैली की प्रशंसा सुनी थी। उस दिन व्याख्यान में वे भी एक कोने में उपस्थित थे। व्याख्यान समाप्ति पर श्री उपाध्यायजी ने चारों ओर दृष्टि फैलाई। उन्होंने एक कोने में एक वृद्ध और सीधे-सादे साधु को देखा। उन्हें ऐसा लगा कि इस साधु पर व्याख्यान का कोई प्रभाव नहीं हुआ। श्री उपाध्यायजी ने इस सीधे-सादे साधु की ओर दृष्टिकर पूछा – 'मुनिराज ! आपने व्याख्यान ठीक ढंग से सुना या नहीं ? आध्यात्म ज्ञान के इस व्याख्यान में आपको कुछ समझ पड़ी या नहीं ?" इस प्रश्न के उत्तर में वह सरल सत बोला – "आप श्री के आध्यात्मिक व्याख्यान में उत्तम विवेचन-दक्षता प्रगट हुई है।" श्री उपाध्यायजी उस सत के मुख की ओर वरावर दृष्टि किये हुये थे। उन्हें ऐसा लगा कि यह साधु विशेष ज्ञानी और योगी होना चाहिये। उन्होंने साधु से नाम पूछा। उत्तर में जब "आनंदघन" सुना तो वे तत्काल ही अपने स्थान से उठकर श्री आनंदघनजी के पास आये। उनका वहुत सम्मान किया। आदर सहित उन्हें वहां से उठाकर जहां वे वैठे थे वहां ले आये और उनको उच्चासन पर वैठाया। श्री उपाध्यायजी ने श्री आनंदघनजी की प्रसिद्धि पहिले से ही सुन रखी थी किन्तु उनसे साक्षात्कार का अवसर कभी नहीं मिला था। आज अवसर मिलते ही अपना हृदय खोल कर उनके चरणों में रख दिया। और वार-वार जिस श्लोक का उपाध्यायजी विवेचन कर रहे थे उसका विवेचन करने के लिये प्रार्थना की। इस पर आनंदघनजी ने तीन घंटे तक उस श्लोक का विशद विवेचन किया। श्रोतागण मुग्ध भाव से वैठे सुन रहे थे। किसी को समय का भान ही न रहा। सब के हृदय में ज्ञान व वैराग्य की धारा वह निकली। इसी अवसर

---

१. इस घटना के लिये कोई इसे आबू में हुई कहते हैं, कोई मेड़ता हुई कहते हैं।

पर उपाध्यायजी ने अष्ट पदी स्तुति श्री आनदघनजी के सम्मुख उपस्थित की। ऐसे थे अध्यात्म ज्ञानी और योगी आनदघनजी।

(२)

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि श्री आनंदघनजी अपनी साधना में लीन थे और आबू के आसपास विचरण कर रहे थे। उस समय यह 'अष्टपदी' बनाई गई थी। घटना इस प्रकार बताई जाती है कि एक समय श्री उपाध्यायजी एक दो अन्य साधुओं सहित श्री आनंदघनजी के दर्शनार्थ उन्हे ढूंढते हुये आबू के पास के मन्दिरों में गये। इनको श्री आनंदघनजी एक मन्दिर में चौवीस तीर्थंकरों की स्तवना में मस्त दिखाई पड़े। वे लोग चुपचाप एक ओर खड़े होकर स्तवना सुनने लगे। श्री उपाध्यायजी की स्मरण शक्ति इतनी तेज थी कि एक दफा सुनी हुई बात कभी भूलते नहीं थे। बावीस तीर्थंकरों की स्तवना पूर्ण हो गई। तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की स्तवना आरम्भ करने वाले थे कि उन्हें अपने पीछे कुछ खटका हुआ सुनाई दिया। वे पीछे की ओर देखने लगे। इन्हें एक कोन मे उपाध्यायजी नजर आये। वे तत्काल ही वहां से उठकर उनके पास आये। कुछ लोग यह भी कहते है कि वे वहां से उठकर बाहर चले गये। इसके पश्चात् उनका आपस मे वार्त्तालाप हुआ और अष्टपदी की रचना हुई।

(३)

और भी दो घटनायें श्री आनंदघनजी और श्री उपाध्यायजी के सम्बन्ध में कही जाती हैं। श्री आनदघनजी ने अपनी वृद्धावस्था जानकर उ. यशोविजयजी को योग सम्बन्धी कुछ रहस्य की बातें बताने के लिये बुलाया। श्री उपाध्यायजी आये। उन्हें आये कुछ समय व्यतीत हो गया किन्तु श्री आनंदघनजी ने कुछ कहा नहीं। श्री उपाध्यायजी ने विचार किया कि शायद मुझे बुलाने की बात विस्मर्ण हो गई है। अतः प्रातः काल उन्होंने श्री आनंदघनजी को को स्मर्ण कराया। तब आपने उत्तर में कहा—"अब मुझे कहने जैसा कुछ है नहीं। मुझे इस बात का खेद है कि आप में अभी तक धैर्य और स्थिरता की कमी है। यह तो आपको ध्यान रखना ही चाहिये था। मैंने जब आपको कुछ कहने के लिये बुलाया था तो अवसर देखकर ही कहता। जब तक आप में

स्थिरता और धैर्य की पूर्णता न हो तब तक योग के गूढ़ रहस्य बताने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। अभी तो यह सब मेरे साथ ही जावेंगे।

(४)

दूसरी घटना इस प्रकार कही जाती है कि एक बार उ. श्री यशोविजय जी श्री आनंदघनजी के निकट 'स्वर्ण सिद्धि' लेने गये। इस योग विद्या को बताने के लिये श्री आनंदघनजी किसी भी प्रकार तैयार नहीं हुये। कारण यह था कि वे उपाध्याय जी को इसके योग्य नहीं समझते थे।

मेरे समझ में यह बात नहीं आती है कि उपाध्यायजी जैसे महान् स्थिति प्रज्ञ और चारित्र में सजग रहने वाले के लिये स्वर्ण सिद्धि की इच्छा करना कहां तक उचित है। यह बात किसी भक्त की कल्पना ही ज्ञात होती है।

ज्वर को वस्त्र में प्रवेश करके वार्तालाप करना

एक समय की घटना है कि श्री आनंदघनजी जोधपुर राज्यान्तर्गत किसी गांव के बाहर ठहरे हुये थे। एक व्यक्ति अथवा जोधपुर नरेश उनके दर्शनार्थ वहां आया। उस समय श्री आनंदघनजी तीव्र ज्वर से पीड़ित थे। उन्होंने ज्वर को एक वस्त्र में छोड़कर, उस वस्त्र को अपने निकट ही रख दिया और आगन्तुक से बातचीत कर उसे उपदेश दिया। उपदेश श्रवण करते समय आगन्तुक की दृष्टि उस कम्पित वस्त्र की ओर गई। उसे आश्चर्य हुआ कि यह वस्त्र कैसे कम्पित हो रहा है! वह अपनी उत्सुकता दबा नहीं सका और श्री आनंदघनजी से प्रश्न कर ही बैठा। स्वामीनाथ! यह वस्त्र कम्पित क्यों हो रहा है? प्रथम तो उन्होंने उत्तर नहीं दिया। वे मुस्कराते रहे, फिर उन्होंने कहा—"मैं तीव्र ज्वर से पीड़ित था। बातचीत का अवसर जान मैंने अपने ज्वर को इस वस्त्र में त्याग कर अलग रख दिया। यह वस्त्र ज्वर के प्रभाव से कम्पित हो रहा है। यह उत्तर सुनकर योगिराज के प्रति उसके हृदय में विशेष श्रद्धा भक्ति उत्पन्न हुई। वह विनयवन्त हो वन्दन नमस्कार कर फिर दर्शनार्थ आने के लिये कह कर चला गया।[१]

---

१. श्री कापडियाजी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि श्रीमान् हेमचन्द्राचार्य, श्री हरिभद्र सूरि और श्री हीरविजय सूरि के विषय में भी उक्त प्रवाद सुनने में आया है। (प्रथम संस्करण की भूमिका पृ. ३६)

मृतपति के साथ सती होने वाली स्त्री को बोध

एक समय विहार करते हुये श्री आनंदघनजी मेड़ते आ रहे थे। उन्होंने मेड़ते के बाहर श्मसान के निकट एक स्त्री को 'सती' होने के लिये उद्यत देखा। जैसे ही उस स्त्री की दृष्टि उन पर पड़ी वह उनके निकट आकार चरणों में झुककर कहने लगी--"बाबाजी महाराज ! मैं अपने पति के साथ सती हो रही हूँ, मुझे आशीर्वाद दीजिये।" इतने में ही उस स्त्री के सम्बन्धियो ने आकर कहा--"महाराज: ! इसे समझाइये हमने तो इसे बहुत ही समझाया किन्तु यह मानती ही नहीं है। सती होने के लिये हठ कर रही है।" इस पर श्री आनंदघनजी ने इस स्त्री को समझाने के लिये कई तरह से उपदेश दिये। संसार का स्वरूप और सम्बन्ध समझाया शरीर और आत्मा का सम्बन्ध बताया। श्री ऋषभदेव जिनेश्वर का स्तवन बड़े ही सरस स्वर से गाकर सुनाया। स्त्री के और सुनने वालों के अन्तर चक्षु खुल गये। स्त्री शान्त और प्रसन्न चित्त से लौट गई। ऐसे थे मार्मिक उपदेशक श्री आनंदघनजी।

राजा-राणी दो मिले उसमें आनंदघन को क्या ?

इस घटना के लिये भिन्न भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न स्थानों का उल्लेख किया है। किसी ने मेड़ते शहर का, किसी ने आबू पर्वत का और किसी ने जोधपुर के निकट की पहाड़ी गुफाओं का।

कहा जाता है कि एक समय श्री आनंदघनजी आत्मस्थ बैठे हुये थे। एक स्त्री उनके पास आकर प्रणाम कर कहने लगी--'महाराज मैं जोधपुर की महाराणी हूँ। महाराज जोधपुर मुझ से रुष्ठ होकर मेरे महलों में नहीं पधारते हैं। कोई ऐसा मन्त्र-यन्त्र बताइये, आशीर्वाद दीजिये जिससे महाराजा प्रसन्न होकर मेरे महलों में आने लगे" श्री आनंदघनजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। वैसे के वैसे बैठे रहे। कुछ देर पश्चात् एक कागज का टुकड़ा उठाकर उसमें कुछ लिखकर और मोडकर राणी को दे दिया। राणी ने समझा कि महात्मा ने प्रसन्न होकर मुझे तावीज दिया है। राणी ने कागज को आदर से ग्रहण किया। प्रणाम कर वहां से चली गई। महलों में आकर उसने एक सोने के यन्त्र में रखकर गले में पहिन लिया। संयोग की बात कि इसके पश्चात् राजा प्रसन्न होकर, राणी के महलों में आने लगे। इससे राजा

की अन्य राणियां ईर्षा रखने लगी और राजा के कान भरने लगी। एक दिन राजा ने भी इस स्थिति पर विचार किया और राणी के महलों में जाकर राणी के गले से तावीज निकाला और खोलकर पढ़ा, पढ़ते ही राजा को स्थिति स्पष्ट हो गई। वह खिल खिलाकर हंसने लगा। तावीज में लिखा था—"राजा राणी दोउ मिले, उसमें आनंदघन को क्या।" इन शब्दों को देखकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। साथ ही श्री आनंदघनजी की निसंगता या आत्ममग्नता पर श्रद्धा हुई।

स्वर्ण सिद्धी रसायण

एक समय श्री आनंदघनजी आबू के पहाड़ पर योग साधना में तल्लीन होकर विचरण कर रहे थे। एक दिन अकस्मात् एक व्यक्ति हाथ में शीशी लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। वह उस शीशी को उनके चरणों में रख कर कहने लगा—"आपके साथ साधना करने वाले आपके बाल मित्र इब्राहिम साहब ने यह रसायणिक सिद्धि भरी शीशी भेजी है। इस शीशी के रसायण की एक बूंद मात्र, यदि पत्थर पर डाली जावे तो पत्थर सोना बन जाता है। इससे सम्पूर्ण संसार आपके वश में हो जावेगा। यह कह कर उस आगत व्यक्ति ने शीशी मे एक बूंद पत्थर पर डाली जिसके प्रभाव से वह पत्थर स्वर्ण हो गया। स्वर्ण और पाषाण में एक वृत्ति रखने वाले श्री आनंदघनजी के हृदय में एक बड़ा विचार आया। उन्होने शीशी को पाषाण शिला पर पटक कर तोड़ डाला। यह देखकर उस शीशी वाहक व्यक्ति के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने श्री आनंदघनजी को अनुचित कठोर शब्द कहे। वे शान्त मुद्रा से खड़े रहे फिर एक ओर होकर उन्होने लघु शंका की। जिस शिला पट्ट पर उन्होंने लघुशंका की थी वह स्वर्ण बन चुकी थी। यह देखकर वह व्यक्ति चकित रह गया। लज्जित होता हुआ श्री आनंदघनजी के चरणों में गिर कर बार-बार क्षमा मांगने लगा। जाता जाता कह गया—"जिसके पेशाब में स्वर्ण रसायण है उसे और रसायण की क्या आवश्यकता है। आप धन्य हैं।"

राजा को पुत्र प्राप्ति

कहा जाता है कि जोधपुर के राजा को लंबे समय तक कोई पुत्र

उत्पन्न नहीं हुआ । इसलिये उसे उत्तराधिकारी के विषय में चिन्ता रहने लगी । उनके प्रधान मन्त्री ने उन्हें चिन्तित देखकर, कहा--पुत्र होना, पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्म पर निर्भर है । फिर भी एक जैन साधु महायोगी और चमत्कारी है । उनका नाम आनन्दघनजी है । वे आज कल यहीं आस-पास हैं । महाराज, प्रधान मंत्री के कथन पर विश्वास कर शुद्ध अन्तः करण से श्री आनन्दघन जी की श्रद्धापूर्वक सेवा-भक्ति करने लगे । नित्य दर्शनार्थ आना, उपदेश सुनना और उस पर आचरण करने लगे । संयोग की बात कुछ ही दिनों में महाराज को विश्वास हो गया कि अब पुत्र रत्न की प्राप्ति में देर नहीं हैं । यथा समय उन्होंने पुत्र का मुख देख लिया । ऐसे थे श्रीआनन्दघनजी जिनकी सेवा-भक्ति से मनोकामनायें पूर्ण होती थी ।

राज की दो विधवा पुत्रियों को बोध

एक राजा की दो पुत्रियां थी । संयोग से वे दोनों ही विधवा हो गईं । वे वैधव्य से दुखी पुत्रियां हर समय रुदन करती रहती थीं । राजा को इससे बहुत ही कष्ट होता था । उसने कई प्रकार के उपाय किये किन्तु उन पुत्रियों का शोक हल्का नहीं हुआ । राजा ने किसी विश्वस्त कर्मचारी से सुना कि श्री आनन्दघनजी सिद्ध पुरुष है । वे इनके शोक दूर करने में समर्थ हैं । राजा ने उनसे प्रार्थना की और उन दोनों पुत्रियों को उनके पास ले गया श्री आनन्दघन जी ने उन्हें 'संसार की क्षण भंगुरता मार्मिक शब्दों में समझाई । आत्मा का असली स्वरूप बताया । संसार के आपसी सम्बन्धों के विषय में अनेक उपदेश दिये । उनका शोक दूर हुआ और रुदन बंद हो गया । अब तो वे नित्य ही उपदेश सुनने के लिये आने लगी । कुछ ही दिनों में उनकी चित वृत्तियां शांत हो गईं और वे उन उपदेशों के अनुसार अपना जीवन सुधारने में लग गईं ।

शाहजादे का स्तंभन

एक समय श्रीआनन्दघनजी बीकानेर में थे । उन्हीं दिनों दिल्ली के बादशाह का शाहजादा वहां आया हुआ था । बीकानेर में उस समय अन्य जैन साधु भी थे । जब वे कहीं जाते आते तो मार्ग में जब शाहजादा उन्हें मिल जाता तो वह उनकी हंसी-मजाक किया करता था । इस से वे साधु लोग बहुत

ही खिन्न मना हो गये थे । एक दिन उन सबने मिलकर श्री आनन्दघन जी को प्रार्थना की कि इस विपत्ति से छुटकारा दिलाइये । तब श्रीआनन्दघनजी बीकानेर के बाहर जहां वह शाहजादा घोड़े पर बैठकर कर घूमने जाता था गये। शाहजादे ने जैसे ही उन्हें देखा वैसे ही अपनी आदत के अनुसार उनकी भी मजाक उड़ाई । इस पर श्रीआनन्दघनजी ने उस से कहा—"बादशाह का बेटा खड़ा रहे ।" इतना कहते ही शाहजादे का घोड़ा खड़ा रह गया । अनेक प्रयत्न करने पर भी वह चल नहीं सका । (टस से मस नहीं हुआ) इतने में ही शाहजादे के साथ के घुडसवार वहां आ पहुँचे । घोड़ा स्तंभित खड़ा था । उन्होंने भी घोड़े को चलाने के प्रयत्न किये, किन्तु असफल ही रहे । शाहजादा भी घोड़े से उतर नहीं सका । इधर आनन्दघनजी अपने स्थान पर आ गये । शाहजादे के उन साथियों ने शहजादे साहब से पूछा कि यह कैसे हो गया । आप कोई बात हुई हो तो फरमाइये । शाहजादे ने उत्तर दिया—"मुझे तो घोड़े के न चलने का कोई सबब नजर नहीं आता, लेकिन एक बात अवश्य हुई है । मैंने एक श्वेत वस्त्र धारी साधु की मजाक जरूर उड़ाई थी ।" उसने कहा था—"बादशाह का बेटा खड़ा रहे ।" शाहजादे के उन साथियों की समझ में आया कि हो न हो, उस साधु ने ही कुछ कर दिया है । शाहजादे के साथियों के कहने से बीकानेर के राजा ने साधुओं से पुछवाया । अन्त में पता लगा कि यह काम श्री आनन्दघन जी का लगता है । आप लोग उनके पास जाइये । तब वे खोजते हुए श्री आनन्दघनजी के पास आये । उन लोगों ने उनकी बहुत ही आजीजी की तब तब श्री आनन्दघन जी ने कहा—"बादशाह का बेटा, साधु संतों को सताता है और उन की हंसी मजाक करता है उसका फल उसे मिले तो आश्चर्य ही क्या ?" अन्त में श्री आनन्दघनजी ने बादशाह के बेटे से कहलवाया—"बादशाह का बेटा चलेगा ।" शाहजादे ने जैसे ही यह शब्द लोगों के मुख से सुने वैसे ही उनका घोड़ा चलने लगा शाहजादे ने यह चमत्कार देखकर, तत्काल वह उनके दर्शनार्थ वहां आया । विनय भक्ति प्रदर्शित कर उसने कहा—"आप तो ओलिया हैं, मेरा कसूर मुआफ फरमावें ।"

पत्थर के सेर का स्वर्ण खंड

एक समय मारवाड़ में विहार करते हुये किसी ग्राम में किसी दीन व्यक्ति के घरश्रीआनंदघनजी कुछ दिन ठहरे। एक दिन वह दीन व्यक्ति चिन्तातुर होता हुआ उनकी सेवा में वंदन कर आ बैठा। वह दुखी तो था ही, उसकी आंखें डवडबा आई। श्री योगीराज ने उसे रोने का कारण पूछा। उसने रोते हुये अपनी गरीवी की सम्पूर्ण कथा उसको सुना दी। उन्होंने उसे सांत्वना देते हुये समझाया कि अपने कृतकर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। खैर, तुम्हारे पास कोई पत्थर का लोढ़ा हो तो लाओ। उस व्यक्ति ने एक सेर वाला पत्थर लाकर उनके सम्मुख रख दिया। दूसरे दिन प्रातः काल वह वहां आया। श्रीआनंदघनजी उसे वहां दिखाई नहीं दिये। उसने उन्हें इधर-उधर देखा, फिर भी वे दृष्टिगत नहीं हुये। जहां वे पहिले दिन बैठे हुये थे, वहां उसे पत्थर के सेर के स्थान पर सोने का डला देखा। उसे वहुत ही आश्चर्य हुआ। जव उसने उस स्वर्ण के डले (खंड) को उठाकर देखा तो उसे बहुत ही पश्चात्ताप हुआ क्योंकि वह स्वर्ण खंड तो वही पत्थर का सेर था, जो उसने उनके (योगीराज के) सामने लाकर रखा था। वह विचारने लगा, यदि मैं इससे वड़ा पत्थर लाकर रखता तो कितना अच्छा होता। अव तो रमते राम योगीराज कहीं के कहीं पहुँच चुके थे।

अक्षय लब्धि

१७वीं और १८वीं शती में राजस्थान में मेडता नगर व्यापार का वड़ा केन्द्र था। वहां कई लक्षाधीश सेठ थे। एक समय श्रीआनंदघनजी का वहां पदार्पण हुआ। वहां की जनता ने उनके उपदेशों का वहुत लाभ उठाया। एक विधवा सेठानी---जिसके पति का कुछ समय पूर्व देहान्त हो गया था—श्री आनंदघनजी की परम भक्त थी। उनके प्रति उसका धर्मानुराग अनुकरणीय था। उसके पुत्र थे। घर में करोड़ों की सम्पत्ति थी। उन्हीं दिनों जोधपुर नरेश को किसी कारणवश द्रव्य की अत्यन्त आवश्यकता हुई। धन एकत्रित करने के लिये जोधपुर नरेश के उच्चाधिकारी और सिपाही मेड़ता नगर आये। उन लोगों ने धनपतियों से द्रव्य की मांग की और उनकी कोठियों पर

सिपाहियों को बैठा दिया। उस विधवा की कोठी पर भी सिपाही आ बैठे। यह देखकर उस विधवा स्त्री का हृदय बैठने लगा। जब वह श्री आनन्दघनजी के दर्शन करने आई तब उसने श्रीआनंदघनजी को अपनी विपत्ति की सम्पूर्ण गाथा कह सुनाई और उसकी निवृत्ति का उपाय पूछा। उन्होंने कुछ देर मौन रहकर उस स्त्री से कहा—"तुम्हारे घर में जितने प्रकार के सिक्के हों उनको अलग-अलग घड़ों में रखकर यहां ले आवो। वह स्त्री घर आई। उसने स्वर्ण का सिक्का एक अलग घड़े में रक्खा और रजत का सिक्का अलग घड़े में रखा। उन दोनों घड़ों के मुंह कपड़े से ढक कर और उन्हें बांधकर श्रीआनंदघनजी के पास ले आई। श्रीआनंदघनजी ने कुछ बोलकर अपना हाथ उन घड़ों के ऊपर फिराया और कहा—"इनको ले जावो, इनमें से सिक्के निकाल-निकाल कर देती जावो।" घर आकर उसने आदेशानुसार आचरण किया। सिपाही लोग जितने गाड़े लाये थे वे सब एक ही स्थान से भर गये। वे पुष्कल धन पाकर वहां से विदा हो गये। उनके जाने के पश्चात् उस स्त्री ने घड़ों में हाथ डालकर देखा तो घड़ों में एक-एक ही सिक्का था। अब तो उसके आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा। यह चमत्कार देखकर श्रीआनंदघनजी के प्रति उसका पूर्व की अपेक्षा हजार गुना श्रद्धा-भक्ति भाव बढ़ गया। इस चमत्कार की बात सम्पूर्ण नगर में फैल गई। लोगों के कुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनार्थ आने लगे और दर्शनकर अपने आपको धन्य समझने लगे। ऐसे थे धर्म प्रभावना करने वाले आनंदघनजी।

इन प्रवादों के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता है किन्तु धर्म प्रभावना के लिये योगीराज श्रीआनन्दघनजी ने कुछ चमत्कार दिखाये हों या हो हो गये हों तो इन्हें प्रमाणाभाव में अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। इन से पूर्व के जैनाचार्यों ने भी समयोचित चमत्कार पूर्ण कार्य धर्म प्रभावना के लिये किये थे।[१] जय आनन्दघन

महताब चन्द खारैड

---

१. ये चमत्कारपूर्ण घटनाएँ श्रीकापड़ियाजी, श्री बुद्धिसागरजी, श्रीवसंतलालजी, श्रीकांतिलालजी और श्रीईश्वरलालजी की पुस्तकों से ली गई हैं। मैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ।

पद-क्रम दर्शक

विवरण-पत्र

विवरण-पत्र भिन्न भिन्न

क्रम संख्या 1	पदो का अकारादि क्रम 2		क्रम संख्या प्रस्तुत ग्रंथावली 3	क्र.म श्रीभीम सिंह माणेक श्री कापड़िया श्री आ. बुद्धि सागर 4	क्रम संख्या अ प्रति 5
1.	अण जोवंता लाख	साखी	71	90	71
2.	अनन्त अरूपी अविगत सासतो		13	71	12
3.	अनुभौ (अनुभव) तू है हितु हमारो		40	14	46
4.	अनुभौ (अनुभव) नाथ को क्यूं न जगावे		28	8	32
5.	अनुभौ (अनुभव) प्रीतम कैसे मानसी		29	50	33
6.	अनुभौ (अनुभव) हम तो रावरी दासी		43	13	50
7.	अपना रूप जब देखा		7	66	2
8.	अब चलों संग हमारे काया		119	—	—
9.	अब मेरे पति गति देव निरंजन		8	60	3
10.	अब हम अमर भये न मरेंगे		100	42	—
11.	अरी मेरो नाहेरी अति बारो		92	96	—
12.	अवधू अनुभव कलिका जागी		60	23	70
13.	अवधू ऐसो ज्ञान विचारी		101	49	—
14.	अवधू क्या मांगूं गुणहीना		10	26	5

प्रतियों में पदों का क्रम

क्रम संख्या आ प्रति	क्रम संख्या इ प्रति	क्रम संख्या उ प्रति	श्री जिनदत्त पुस्तकालय जयपुर की प्रति की क्रम संख्या	श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर के प्रतियों की क्र. सं.			
				मुख्य प्र. 44 पद सं. 1756	ए, 45 पद	बी. 34 पद सं. 1762	सी. 38 प सं. 1798
6	7	8	9	10	11	12	13
62	54	59	52	—	23	—	—
12	72	30	70	—	30	31	—
45	29'	50	27	21	—	25	—
34	26	—	—	20	—	24	—
74	5	5	5	—	27	—	29
36	28	51	28	22	—	26	—
53	45	77	—	—	16	—	22
—	—	—	—	—	—	—	—
75	6	6	6	—	28	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
21	23	46	23	1	—	18	36
—	—	—	—	—	—	—	—
29	21	14	21	10	45	16	37

6	7	8	9	10	11	12	13
26	18	11	18	14	—	13	16
30	22	15	22	40	—	17	35
32	24	47	26	2	—	19	—
28	20	13	20	9	—	15	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	34	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
5	7	16	—	12 के. साखी	—	—	—
34	26	29	26	12, 20	—	24	—
—	—	19	—	12 के. साखी	—	—	—
38	30	53	30	12,29 „	1	—	24
19	11	19	11	7	—	—	9
27	19	12	19	13	—	14	1
—	—	—	—	—	—	—	—
66	58	63	56	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
50	42	45	41	—	13	—	26
—	—	—	—	39	43	—	17
18	—	—	—	—	—	—	—
8	10	18	10	44	—	8	8

1	2	3	4	5
36.	क्यां रे मुनै मिलसे म्हारो संत सनेही	5	25	23
37.	क्या सोवे उठ जाग बाउरे	1	1	76
38.	चेतन आपा कैसे लहोई	—	55	—
39.	चेतन ऐसा ज्ञान विचारो	106	81	—
40.	चेतन चतुर चौगान लरी री	52	46	65
41.	चेतन पुद्गलन को प्यारो	105	80	—
42.	चेतन सकल वियापक होई	82	89	86
43.	छबीले लालन नरम कहे	35	70	39
44.	छोरा नै क्यूं मारै छै रे ढैन	67	17	60
45.	जग आशा जंजीर की	साखी 57	7	83
46.	जगत गुरु मेरा मैं जगत का चेरा	6	78	1
47.	जिन चरणे चित ल्याऊं रे मना	81	95	80
48.	जिय जाने मेरी सफल घरी	3	3	77
49.	ठगोरी भगोरी लगोरी जगोरी	17	45	18
50.	तज मन हरि विमुखन को संग	109	108	—
51.	तरस कीनइ दइ को दई की सवारी री	76	39	53
52.	ता जोगे चित ल्याओ रे व्हाला	104	37	—
53.	तुम ज्ञान विभो फूली वसंत	108	107	—
54.	तेरी हूं तेरी हूं एती कहूं री	14	44	15
55.	दाझो छू म्हा मोह-दावानल	111	—	—
56.	दरसण प्राण जीवन मोहि दीजै	24	92	25

6	7	8	9	10	11	12	13
7	9	17	9	6	—	7	7
1	1	1	1	41	40	1	2
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
20	12	20	12	—	—	9	10
—	—	—	—	—	24	—	—
71	63	68	61	24	82	—	—
38	30	53	30	29	1	—	24
—	—	—	—	—	—	—	—
26	18	11	18	14	—	13	16
70	62	67	60	—	23	12	—
—	—	—	—	—	—	—	—
3	3	3	3	43	41	3	3
23	15	23	15	—	—	11	13
—	—	—	—	—	—	—	—
67	59	64	57	—	—	—	20
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
24	16	24	16	—	—	—	14
17	—	—	—	—	—	—	—
54	46	32	44	—	17	—	—

1	2	3	4	5
57.	दुलहन री तू वड़ी वावरी	85	19	—
58.	देखो आली नटनागर के सांग	21	34	22
59.	देख्यो एक अपूरव खेला	55	57	69
60.	नाथ निहारो आप मता सी	46	9	58
61.	निरंजन यार मोय कैसे मिलेंगे	119	—	—
62.	निराधार केम मूकी, श्याम	88	94	—
63.	निसाणी कहा वताऊं रे	61	21	89
64.	निसि दिन जोऊँ वाटडी	31	16	35
65.	निस्पृह देश सुहामणों	75	83	66
66.	परम नरम मति और न भावै	15	10	16
67.	पिय विन कौन मिटावे रे	27	65	31
68.	पिय माहरो जोसी हूँ पिय री जोसण	110	—	—
69.	पिया तुम निठुर भये क्यों ऐसे	44	32	51
70	पिया विन निसि दिन झूरूं खरी री	16	47	17
71.	पिया विन सुध-बुध भूली हो	26	41	30
72.	पिय विन सुध-बुधमूंदी हो	32	62	36
73.	पूछीइ आली खबर नई	37	88	43
74.	प्यारे अब जागो परम गुरु	83	64	52
75.	प्यारे आइ मिलो कहा ऐते (ऐंठे) जात	78	58	42
76.	प्यारे प्रान जीवन यह सांच जान	79	76	55
77.	प्यारे लालन विन मेरो कोण हवाल	68	75	41

6	6	8	9	10	11	12	13
—	—	—	—	—	—	—	—
48	40	43	39	—	11	—	—
51	43	74	42	—	14	—	—
37	29	52	29	—	—	27	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	28	—
46	38	41	77	24	9	—	—
58	50	40	48	19	19	—	27
11	71	29	69	—	38	30	—
22	14	22	14	—	—	—	12
43	35	35	35	25	6	—	—
16	—	—	—	—	—	—	—
55	47	33	45	—	18	—	—
21	13	21	13	—	—	10	11
61	53	76	51	—	22	—	—
60	52	57	50	—	21	—	—
41	33	56	33	33	4	—	32
—	—	—	—	28	—	—	—
—	—	—	—	31	—	—	—
—	—	—	—	35	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—

1	2	3	4	5
78.	प्रभु तो सम अवर न कोइ खलक में	89	82	—
79.	प्रभु भजले मेरा दिल राजी रे	94	103	—
80.	प्राणी मेरो खेले चतुर गति चौपर	56	·12	85
81.	प्रीति की रीति नई हो प्रीतम	48	69	61
82.	बालूडी अबला जोर किसों करे	41	56	50
83.	बेहर बेहर नहि आवे अवसर	84	100	—
84.	भमरा किन गुण भयो रे उदासी	99	106	28
85.	भादु की रात काती सी वहइ	34	51	38
86.	भोरे लोगा कहूं हूं तुम मत हासा	19	73	20
87.	मगरा ऊपर कउआ बैठा	120	—	—
88.	मनसा नटनागर सुं जोरी हो	49	38	62
89.	मनु प्यारा मनु प्यारा रिखभदेव मनु प्यारा	93	101	—
90.	मावडी मूनैं निरपख किण ही न मूकी	66	48	—
91.	माहरो वालूडो सन्यासी	74	6	74
92.	माहरो मौनि कब मिलसी मन मेलू	12	24	8
93.	मिलण रो बानक आज बन्यो छै जी	113	—	—
94.	मिलापी जान मिलाओ रे	30	33	34
95.	मीठो लागै कंतडो नै खाटो लागै लोक	50	40	63
96.	मुनैं माहरा माधविया नैं मिलवानो कोड	23	93	24
97.	मुदत थोडी रे भाई व्याजडो घणेरो	64	54	84
98.	मेरी तुं मेरी तुं काहे डरे री	42	43	49

6	7	8	9	10	11	12	13
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
8	10	18	10	44	—	8	8
49	41	4	40	—	12	—	25
13	73	7	71	—	31	32	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	7	81	75	—	—	—	—
42	34	73	34	36	5	—	33
57	49	39	47	27	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
59	51	31	49	—	20	—	21
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	82	76	—	—	29	—
5	7	16	7	4	—	5	5
6	8	—	8	5	—	6	6
80	—	—	—	—	—	—	—
45	37	37	37	38	8	—	—
69	61	66	59	—	—	—	—
65	57	62	55	18	—	—	—
79	68	10	66	—	35	23	—
25	17	25	17	—	—	—	15

1	2		3	4	5
99.	मेरी सूं मेरी सुं मेरी सुं मेरी सौं मेरी री		51	61	64
100.	मेरे ए प्रभु चाहिये		117	108व्रु	—
101.	मेरे घट ज्ञान भानु भयो भोर		73	15	73
102.	मेरे प्राण आनन्दघन तान आनन्दघन		72	52	7
103.	मेरे मांभी मजीठी सुण इक वाता		20	72	21
104.	मोको कोऊ कैसई हू तको		9	59	4
105.	मौने कोई मिलावो रे कंचन वरणो नाह		22	49	23
106.	या पुद्गल का क्या विसवासा		107	97	—
107.	राम कहो रहिमान कहो		65	67	79
108.	राश शशी तारा कला	साखी	27	65	31
109.	रिसानी आप मनाओ रे		36	18	40
110.	रे घरियाली बाउरे मत घरिय वजावें		2	2	72
111.	रे परदेशी भ्रमरा		1:6	—	29
112.	लागी लगन हमारी जिनराज		91	84	—
113.	वारी हूँ वोलडे मीठडे		18	85	19
114.	वारुं रे नान्ही वहू ग्रे मन गमतुं कीधूं		71	90	71
115.	वारे नाह संग मेरो		90	36	—
116.	वारो रे कोई पर घर रमवानो ढाल		47	91	59
117.	विचारी कहा विचारे रे		62	22	87
118.	विवेकी वीरा सह्यो न परे		39	87	45
119.	व्रजनाथ से सुनाथ विण		95	63	11

6	7	8	9	10	11	12	13
68	60	65	58	—	—	—	19
—	—	—	—	—	—	—	38
72	64	69	62	—	25	—	28
—	—	71	—	—	44	—	23
56	48	38	46	26	—	—	—
15	75	34	73	—	33	34	—
64	56	60	54	17	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
78	69	9	67	—	—	22	—
43	35	35	35	25	6	—	—
44	36	36	36	23	7	—	—
2	2	2	2	42	39	2	—
—	76	80	74	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
14	74	26	72	11	32	33	18
62	54	73	52	15	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
63	55	61	53	16	—	—	—
47	39	42	38	—	10	—	—
40	32	54	32	32	3	—	31
9	—	28	—	—	36	—	—

नोट—(1) ग्रंथावली में सम्पूर्ण पद 121 ही हैं, किन्तु यहां 131 संख्या होने का कारण यह है कि इसमें 8 साखियां और 2 परिवर्तित पद भी सम्मिलित हैं।

6	7	8	9	10	11	12	13
—	—	—	—	—	—	—	—
39	31	54	31	30	2	—	30
52	44	74	—	—	15	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
77	67	8	65	—	34	21	—
33	25	48	25	3	—	20	34
—	—	—	—	—	—	—	—
4	4	4	4	8	42	4	4
76	66	27	64	—	29	—	—
73	65	70	63	—	26	—	—
10	70	78	68	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—

टिप्पणी :—

(2) क्रम सख्या 7 का पद मुद्रित प्रतियों में "साधो भाई" शब्द से आरम्भ होता है।

(3) क्रम संख्या 11, 22, 47, 52, 115 के पद श्री नाहटा जी की सं० 1857 की प्रति में भी प्राप्त हैं।

(4) क्रम संख्या 8 का पद केवल आचार्य श्री बुद्धिसागर जी के "आनन्दघन पद संग्रह" की भूमिका पृष्ठ 158 पर ही है।

(5) क्रम संख्या 27 पद के साथ 'अ' और 'उ' प्रतियों में क्रम संख्या 25 की साखा है।

(6) क्रम संख्या 38 और 42 के पद थोड़े से अन्तर से एक ही पद हैं।

(7) क्रम संख्या 44 का पद "ज्ञान सारजी" कृत टब्बे में भी प्राप्त है।

(8) क्रम संख्या 61 का पद केवल आचार्य श्री बुद्धिसागर जी के "आनन्दघन पद संग्रह" की भूमिका पृष्ठ 173 पर ही है।

(9) क्रम संख्या 119 का पद "हरि पतितन के उद्धार" के साथ हैं।

(10) क्रम संख्या 122 का पद इस ग्रन्थावली के "देखो एक अपूरब खेला" पद का उत्तरार्द्ध है।

(11) क्रम संख्या 130 का पद "व्रजनाथ से सुनाथ विण" पद के साथ है।

(12) क्रम संख्या 131 का पद श्री साराभाई मणिलाल नवाब द्वारा सम्पादित "श्री आनन्दघन पद्य रत्नावली" से साभार लिया गया है।

संकेताक्षर :—क, का = मोतीलाल गिरधर कापडिया, वि = विश्वनाथ, ब, बु = आचार्य श्री बुद्धिसागर जी, द्य = द्यानतराय, मं = मंगल जी उद्धव जी, मा = माणेकलाल घेलाभाई।

—x—

❋ आनन्दघन ग्रन्थावली ❋

* कहाँ क्या *

* आनन्दघन बहुत्तरी *

चेतावनी　　　　१　　　　राग—वेलावल

क्या सोवै उठि जाग बाउरे ।
अंजलि जल ज्यूं आउ घटतु है, देत पहुरिया घरी घाउरे ।
॥ क्या० ॥ १ ॥

इन्द्र चन्द्र नागिंद मुनिंद चले, कौन राजा पतिसाह राउरे ।
भ्रमत भ्रमत भव जलधि पाई तैं, भगवंत भगति सुभाव नाउरे ॥
॥ क्या० ॥ २ ॥

कहा विलंब करै अब बौरे, तरि भव-जल-निधि पार पाउरे ।
'आनन्दघन' चेतनमय मूरति, सुद्ध निरंजन देव ध्याउरे ॥
॥ क्या० ॥ ३ ॥

पाठान्तर—जाग = (अ) जागि । (उ) बाउरे = बावरे । अंजलि = (इ) अंजरि । आउ, पहुरियां, घरी, घाउरे = (इ, उ) । आयु । पोहरिया । घरिय । घाव । कौंन (इ) कुण । पाई तै = (उ) पायकै । तरि = (इ) तर । ध्याउरे = (अ, इ) गाउरे । इन्द्र चन्द्र नागिन्द मुनिन्द चले = (क वि) इन्द, चन्द, नागिन्द, मुंनि चले । (ब) इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनीन्द्र चले । भगवंत भगति सुभाव नाउरे = भगवंत भजन विन भाउ नाउरे । बोरे = (क, ब, वि) बाउरे ।

शब्दार्थ—बाउरे = भोले, पागल । अंजलि = चुल्लू, हाथ से बना हुआ सुम्पुट । आउ = आयु, उम्र । पहुरिया = पहरायती, घड़ियाल बजाने वाला । घरी = घरियाल, घड़ावल, पीतल या कांसे की एक गोल वस्तु विशेष जिस पर डण्डे से चोट मार कर समय सूचित किया जाता है । घाउ = चोट । नागिन्द्र = नागेन्द्र, नाग नामक देवों का इन्द्र, धरणेन्द्र । मुनिन्द = मुनियों के इन्द्र, तीर्थंकर । कौन = किस गणना में है । पतिसाह = बादशाह । राउ = राजा, राणा । भ्रमत भ्रमत = भ्रमण करते हुये, डोलते डोलते । भव-जलधि = संसार समुद्र । पाई उँ = तूने पाकर । सुभाउ = स्वभाव । नाउ = नाव, नौका । विलंब = देर । तरि = तैर कर । भव-जलनिधि = संसार समुद्र । पार पाउरे = दूसरा किनारा प्राप्त कर । निरंजन = मल रहित, शुद्ध, निर्दोष, परमात्मा ।

उक्त पद के अर्थ से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जीव का ह्रास विकास क्रम क्या है ? जैन दर्शन के अनुसार अनादि काल से यह जीव संसार-समुद्र में बस रहा है । सर्वप्रथम यह अव्यवहार राशि में होता है, वहाँ कोई पुरुषार्थ नहीं करता । जिस प्रकार नदी के जल प्रवाह में कुछ पत्थर काल प्रभाव से गोल हो जाते हैं, वैसे ही काललब्धि प्राप्त कर यह जीव व्यवहार राशि में आता है और विकास करते करते मानव जीवन प्राप्त करता है । किन्तु यह जीव इस दुर्लभ मानव जीवन को अनंती बार प्राप्त कर खो चुका है । अब पुनः मानव जन्म मिला, तो फिर यह ऐसे ही व्यर्थ न चला जाये, अतः श्री योगीराज आनन्दघन जी सचेत कर रहे है :—

अरे भोले मानव ! मोह निन्द्रा में क्या पड़ा है ? उठ, सचेत हो, प्रमाद त्याग कर जागृत हो, तेरी आयुष्य अंजलि के पानी के समान घटती जा रही है । पहरेदार घड़ियाल पर टंकार मार-मार कर तुझे सचेत कर रहा है । इस प्रकार घड़ियाल पर चोट करते

करते उस स्थान पर घाव-सा दिखाई पड़ने लग गया है परन्तु तेरे हृदय पर जरा भी इसका असर नहीं हुआ है। तू सचेत (सावधान) नहीं होता है ॥१॥

देवताओं का राजा इन्द्र, चन्द्रलोक का स्वामी चन्द्र, नागलोक का स्वामी धरणेन्द्र और मुनियों के स्वामी तीर्थङ्कर भगवान भी जब इस देह को त्याग कर चले गये तब राजा, बादशाह और चक्रवर्ती की बात ही क्या है ? फिर तेरी तो बिसात (सामर्थ्य) ही क्या है। संसार-समुद्र में भटकते भटकते यह मानव शरीर मिलकर भगवान की भक्ति रूप स्वाभाविक नाव प्राप्त हुई है। भवसागर से पार पाने के लिये उस स्वभाव रूपी नाव का प्रयोग करके अपने लक्ष स्थान पर जा पहुँच ॥२॥

नोट—"भगवंत भजन बिन भाउ नाउरे" पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ होगा—भगवान के भजन के अतिरिक्त (सिवाय) अन्य कौनसी भाव-नौका तुझे प्राप्त होगी जिससे तू इस संसार समुद्र का उल्लंघन कर सकेगा।

अरे बावले ! अब देर क्यों करता है। विषय-वासना, राग द्वेष रूपी समुद्र से तैर कर पार होजा। आनन्दघन जी कहते हैं— घनीभूत आनन्द के घर, चैतन्य स्वरूप, कर्म मल विहीन, राग-द्वेष रहित शुद्ध देव का ध्यान कर, उसी का गुणगान कर, जिससे तू भी वैसा ही हो जाय ॥३॥

विशेष—जीव (आत्मा) का चैतन्य स्वरूप व प्रभु (भगवान) का चैतन्य स्वरूप एकसा (समान) ही है। जीव जब प्रभु-भक्ति करता है—उसके गुणगान करता है तो उसे निज गुणों से गाढ़ परिचय होता है इसलिये प्रभु-भक्ति से बढ़ कर संसार समुद्र से पार पाने का अन्य कोई साधन नहीं है। संसार के सारे धर्म इसमें एकमत

हैं। इसमें कोई मतभेद नहीं है। इसलिये हे आत्मन्! तू भगवान को स्मरण कर, इसमें जरा भी देर न कर। उमर का कुछ भी भरोसा नहीं है। कोई भी अमर पट्टा लिखाकर नहीं आया है। तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती ही नहीं रहे तो अन्य प्राणियों की क्या गिनती है, इसलिये तनिक भी विलम्ब किये बिना भगवान का भजन-स्मरण कर। अर्थात् चैतन्य स्वरूप, कर्म-मल रहित, शुद्ध आत्म स्वरूप का ध्यान कर, जिससे तू अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो सके।

ज्ञान घड़ी * राग विलावल इकतारी

रे घरिआरे बाउरे, मत घरीय बजावै।
नर सिर बांधे पाघरी, तू क्यों घरीय बजावै॥ रे घरि० ॥ १॥
केवल काल कला कलै, पै तू अकल न पावै।
अकल कला घट में धरी, मुझ सो घरी भावै॥ रे घरि० ॥ २॥
आतम अनुभव रस भरी, यामें और न मावै।
'आनन्दघन' अविचल कला, विरला कोई पावै॥ रे घरि० ॥ ३॥

पाठान्तर—घरिआरे = घरीआरे (इ, उ)। बाउरे = बावरे (उ)। मत = मति (आ)। बजावै = बजावै (इ)। कलै = करे (अ, इ)। पावै = कहावै (इ)। मुझ = मुहि (इ)। पावै = गावै (अ)।

शब्दार्थ—घरिआरे = घड़ीबजानेवाला। पाघरी = पगड़ी, पाव घड़ी। काल कला कलै = समय जानने की युक्ति। पै = परन्तु। अकल = सब कलाओं से अलग (भिन्न शक्ति)। भावै = पसन्द है। आतम = स्वरूपानुभव रूपी ज्ञानानन्द रस से भरी हुई। मावै = समाता है। अविचल=अचल, स्थिर।

प्रथम पद में प्रमाद त्याग कर जागृत होने की चेतावनी के

पश्चात इस पद में घड़ी बजाने वाले को उद्देश कर श्री आनंदघनजी ज्ञानघडी के उपयोग के संबंध में कहते हैं :—

अर्थ—हे नादान ! पगले ! घडी बजाने वाले ! तू* घडी मत बजा, अर्थात् तू क्यों घडी बजा बजा कर समय सूचित करता है ? तेरा यह प्रयास व्यर्थ है। देख, मनुष्य ने तो स्वयं ही अपने मस्तक पर पा घडो (पगडी) अर्थात पा (पाव) घडी बांध रखी है जिससे समय की उपयोगिता पर वह बराबर हर समय सचेत रह सके। मस्तक पर पा घडी (पगडी) बांधने का मतलब ही उसका यह है कि वह हर दम यह जानता है कि समय (काल) मेरे मस्तक पर है। फिर अब तू उसे बार बार समय क्या बता रहा है। (यहां श्री आनंदघनजी ने पाघडी पर बहुत बडा व्यंग किया है) ॥१॥

हे घडियाल बजाने वाले ! तू तो केवल समय बताने की ही युक्ति जानता है। परन्तु तुझे जरा भी ऐसी बुद्धि नही है जिससे तू

---

*प्राचीन काल में आजकल जैसी घड़ियाँ नहीं थी। उस समय, समय की जानकारी के लिये इस प्रकार के साधन थे :—

(१) धूप घड़ी—जिससे धूप की परछाई से समय जाना जाता था।

(२) जल घड़ी—पानी से भरे बड़े बरतन मे एक छोटी कटोरी में बारीक छेद कर पानी में रख दिया जाता था, कटोरी के पानी में डूब जाने पर निर्धारित समय जान लिया जाता था।

(३) रेत (बालू) घड़ी—काँच के दो जुड़े हुये लट्टुओं में बालू भर दी जाती थी। इन दोनों लट्टुओं के मुँह छिद्र सहित जुड़े होते थे। बालू वाले भाग को ऊपर करके रख दिया जाता था। बालू धीरे धीरे नीचे के लट्टू में एक घड़ी अर्थात् चौबीस मिनिट में आ जाती थी। दुबारा फिर इसी प्रकार यह क्रिया की जाती थी, जिससे समय जाना जाता था।

उस-सब कलाओं से अलग, समय के सदुपयोग कराने वाली ज्ञानघडी को–जो हृदय में ही है–बता सके। मुझे तो वही घडी (ज्ञान घडी) अच्छी लगती है अर्थात प्रिय है।।२।।

यह घडी आत्मानुभव रस से (निज स्वरूप को बताने वाले गुणों से) पूर्ण-लबालब भरी हुई है। इसमें और कोई वस्तु (विजातीय द्रव्य-रागद्वेषादि) नहीं आ सकती है—नहीं समा सकती है। यही घडी सचेतक है। श्री आनंदघनजी कहते हैं कि इस अचल, अबाधित, आनंददायिनी घडी की कला को विरला भाग्यवान मानव ही–लाखों में से एक–प्राप्त कर सकता है।

वैराग्य ३ राग-विलावल

जीउ जानै मेरी सफल घरी।
सुत वनिता धन यौवन मातो, गरभ तणी वेदन विसरी ।।जीउ०।।१।।
अति अचेत कछु चेतत नाही, पकरी टेक हारिल लकरी।
आइ अचानक काल तोपची, गहैगो ज्यूं नाहर बकरी ।।जीउ०।।२।।
सुपन राज साँच करि राचत. माचत छांह गगन बदरी।
'आनंदघन' हीरो जन छारै, नर मोह्यो माया कँकरी ।।जीउ०।।३।।

पाठान्तर – जीउ = जीय (अ), जिय (इ) जीया (उ)। जानै = जाणै (उ)। यौवन = जोवन (अ इ, उ)। अति = अतहि (इ), अतिहि (उ)। अचेत = चेत (अ)। अति अचेत = अजहु अचेत (क)। आइ = आई (अ), आय (इ, उ) अचानक = अचान (इ)। तोपची = तोवचाही (उ)। ज्यूं = यूं (इ, उ)। राज = राजि (अ)। जन = जव (अ)। छारै = छारी (इ, उ), छारंत (क), छांडी (ब)।

नोट—क, ब, ब प्रतियों में प्रत्येक पंक्ति के अन्त में "री" है।

शब्दार्थ – जीउ = जीव । मातो = मस्त होकर । विसरी = भूल कर । अचेत = असावधान, वेसुध । टेक = हठ । हारिल = अपने चंगुल में लकड़ी का टुकड़ा लिये रहने वाला पक्षी और टेढ़े (तिरछा) चलते हुये लकड़ी कहीं अटक जाती है तो वह पक्षी उल्टा लटक जाता है, पीड़ा से चिल्लाता है पर लकड़ी नहीं छोड़ता है । तोपची = तोप चलाने वाला, तोप में वत्ती लगाने वाला । गहैगा = पकड़ेगा । नाहर = सिंह । माचत = मग्न होता हैं । छाँह = छाया । वदरी = वादल । छारैं = छोड़कर । ककरी = कंकड़ ।

नोट—दूसरे पद की प्रथम पंक्ति किसी किसी प्रति में "अति अचेत········ लकरी" तीसरे पद की प्रथम पंक्ति के साथ है और तीसरे पद की प्रथम पंक्ति "सुपन राज ···········वदरी" दूसरे पद की प्रथम पंक्ति के साथ है ।

अर्थ—धन यौवन पाकर यह जीव (मानव) अपने आज के समय को अर्थात मनुष्य जन्म को सफल समझने लगता है। गर्भावस्था की सव वेदना (दुख) को भूलकर, स्त्री, पुत्र, धन और यौवन में मग्न रहता है, और अपने आपको सुखी मानने लगता है ॥१॥

हे भोले मानव !, तू अत्यन्त असावधान है, जरा भी सचेत नहीं होता, तूने तो हारिल पक्षी की लकडी पकड़ने के हठ (जिद) के समान मोह माया में रच पच रहने की टेक (हठ) पकडली है। जिस प्रकार सिंह एकाएक (अचानक) आकर वकरी को पकड लेता है, उसी प्रकार कालरूपी तोपची तुझे आ पकडेगा, इसकी भी तुझे कुछ खवर है ? ॥२॥

हे मूढ़ ! तू स्वप्न में मिले हुये राज्य को सत्य समझ कर उसी में मग्न हो रहा है। अरे भोले मानव ! तू तो आकाश में छाई हुई वदली की छाया में ही प्रसन्न हो रहा है। क्या तुझे मालुम नहीं कि

1	2	3	4	5
57.	दुलहन री तू वड़ी वावरी	85	19	—
58.	देखो आली नटनागर के सांग	21	34	22
59.	देख्यो एक अपूरव खेला	55	57	69
60.	नाथ निहारो आप मता सी	46	9	58
61.	निरंजन यार मोय कैसे मिलेंगे	119	—	—
62.	निराधार केम मूकी, श्याम	88	94	—
63.	निसाणी कहा वताऊं रे	61	21	89
64.	निसि दिन जोऊँ वाटडी	31	16	35
65.	निस्पृह देश सुहामणों	75	83	66
66.	परम नरम मति और न भावै	15	10	16
67.	पिय विन कौन मिटावे रे	27	65	31
68.	पिय माहरो जोसी हूँ पिय री जोसण	110	—	—
69.	पिया तुम निठुर भये क्यों ऐसे	44	32	51
70	पिया विन निसि दिन झूरूं खरी री	16	47	17
71.	पिया विन सुध-वुध भूली हो	26	41	30
72.	पिय विन सुध-वुधमूंदी हो	32	62	36
73.	पूछीइ आली खवर नई	37	88	43
74.	प्यारे अव जागो परम गुरू	83	64	52
75.	प्यारे आइ मिलो कहा ऐते (ऍंठे) जात	78	58	42
76.	प्यारे प्रान जीवन यह सांच जान	79	76	55
77.	प्यारे लालन विन मेरो कोण हवाल	68	75	41

और कौन है ? इसी मस्ती में भूल जाता है कि मुझे भी मरना है। यह सब कुछ छोड़ कर मुझे भी खाली हाथ जाना है। मैं किस समय चला जाऊं, इसका जरा भी ध्यान नहीं रखता है। इस जीवन में जो कुछ सुख सौभाग्य मिला है, वह स्थिर नहीं है, वादल की छांह के समान है फिर भी हारिल पक्षी के लकडी की तरह इनको छोडने को तत्पर नहीं है। इन अस्थिर वस्तुओं में ही लुब्ध है। ऐसे भ्रमित विलुब्ध मानव को श्री आनंदघनजी वैराग्य भाव की ओर उन्मुख करते हुये कहते है कि परमानंदरूप हीरे को त्याग कर मानव मोह माया रूप कंकर-पत्थर में मोहित हो रहा है अर्थात अनंत सुखदाता हीरे को छोड दुखदाई पत्थर ग्रहण करता है। इसलिये सावधान करते है—परभावरूप कंकरों को त्याग कर स्वभाव रूप हीरे को ग्रहण करो।

समता भाव ४ राग-आसावरी

साधो भाई समता संग रमीजै, अवधु ममता रंग न कीजै ।।
संपति नाहि नाहि ममता में, रमतां माम समेटै ।
खाट पाट तजि लाख खटाऊ, अंत खाक में लेटै ।।अवधु०।।१।।
धन धरती में गाडै वौरा, धूरि आप मुख लावै ।
मूषक सांप होइगो आखर, तातै अलच्छि कहावै ।।अवधु०।।२।।
समता रतनागर की जाई, अनुभव चंद सु भाई ।
काल कूट तजि भव में सेणी, आप अमृत ले जाई ।।अवधु०।।३।।
लोचन चरण सहस चतुरानन, इन ते वहुत डराई ।
'आनंदघन' पुरुषोत्तम नायक, हितकरि कंठ लगाई ।।अवधु०।।४।

पाठान्तर—संग = संगि (अ), रंग (ड, उ)। रंग=संग (इ, उ)। कीजै = कीजइ (अ)। रमतां माम समेटे = ममता मां मिसमेटे, (क, व), रमता राम समेटे (वि), ममता मांम सव मेटे (अ)। (इ प्रति में 'माम' शब्द नहीं है) खटाऊ = पटाऊ (उ)। अंत = अंति (आ), अंते (उ)। खाक = खाख (अ, इ, उ)। धरती = धरनी (उ)। धूरि = धूलि (उ)। मुखि = मुखक (अ)। सांप = साप (आ, इ, उ)। होइगो = होयगो (इ), होइजो (उ)। तातैं = तायें (इ), तामें (उ)। कहावैं = कहावइ (आ)। रतनागर=रतनाकर (क, वि), रतनागर (व)। कालकूट = काल कूटि (अ)। भव = भाव (इ)। ले = लेई (इ, उ)। चरण = वरण (अ)। सहस = सहिस (इ)। तह = तें (अ, इ, उ)। हितकरि = हितकर (इ)।

शब्दार्थ—समता= राग-द्वेष रहित भाव। रमीजै=रमण करो, आनन्द करना, घूमना-फिरना साथ रहना। ममता = ममत्व, प्रिय वस्तु पर राग। माम = ममत्व। समेटे = लपेट लेता है, एकत्रित करता है। खाट = पलंग। पाट = चौकी, तख्त आदि बैठने की वस्तु। लाख खटाऊ = लाखों रुपया पैदा करने वाला। खाक = मिट्टी। वोरा = बावला, पागल। अलछि = अलक्ष्मी। रतनागर = रत्नों का खजाना, समुद्र। काल-कूट = हलाहल विष। भव में सेणी = शुद्ध भाव रूप श्रेणी (पंक्ति), शुद्ध परिणाम की धारा। लोचन चरण सहस = लोचन (नेत्र) सहस (हजार) इन्द्र; चरण सहस = सूर्य। चतुरानन = चार मुख वाला ब्रह्मा।

अर्थ—हे साधु पुरुषों! समता के साथ रम जावो—राग-द्वेष को छोड़कर समभावी बन जावो। हे अवधु आत्मा! ममता के रंग न पड़ो। स्त्री पुत्रादि, धन आदि-वैभव और यौवन में लुब्ध न हो। ममता से किसी भी प्रकार की उन्नति संभव नहीं है। इसमें रमने से (साथ रहने से) तो अपनी आत्म संपत्ति सिमट कर बहुत थोड़ी हो जाती है। समता भाव से लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की

उन्नति होती है और ममत्व भाव से यह ज्ञाता-दृष्टा आत्मा अपने अहं में संकुचित हो जाता है।* लाखों के कमाने वाले अपनी रत्न जटित सोने की शैय्या और बैठने के सिंहासन को यहीं छोड़कर अंत में खाक (मिट्टी) में जा लेटे अर्थात् जिस मिट्टी से पैदा हुये थे उसी में समा गये ॥१॥

भोले लोग धन को मिट्टी में गाडते हैं—गड्ढा खोदकर उसमें धन दौलत रखकर ऊपर से मिट्टी डालते हैं। यह धन-पर मिट्टी डालना नहीं है, अपने ही मुख पर मिट्टी उडेलना है क्योंकि जिनकी धन-दौलत पर अत्यन्त आसक्ति होती है, वे ही धन-दौलत को जमीन में गाडते है। इस दृढ़ आसक्ति से मर कर वहीं सर्प या मूषक (चूहे) होते हैं। शकुन शास्त्रवेत्ता सांप व मूषक को अलक्ष्मी कारक कहते हैं, अत: जमीन में धन गाडना अपने मुख पर धूल डालना है। वास्तव में यह धन-दौलत लक्ष्मी नहीं है, अलक्ष्मी है। यदि यह लक्ष्मी होते तो सर्प-मूषक जन्म क्यों प्राप्त होता। असली लक्ष्मी तो आत्मिक गुण है, जिससे वास्तविक सुख प्राप्त होता है ॥२॥

वैदिक मतानुसार समुद्र से चौदह रत्न निकले थे इसलिये उसे रत्नाकर कहा जाता है। मोती, मूंगा आदि अनेक रत्न अब भी उसमें से निकलते है। इन रत्नों से जीव का आत्मिक उत्थान नहीं हो सकता है, इसलिये ये द्रव्य रत्न हैं। भाव रत्न तो क्षमा, सन्तोष, ऋजुतादि—जो मनुष्य के अन्तर से प्रकट होते हैं। इसलिये मनुष्य का हृदय ही भाव रत्नाकर है। श्री आनन्दघनजी कहते हैं—

* एक प्रति में 'रमता राम सनेटे' पाठ है, जिसका अर्थ—इस रमते राम आत्मा की शक्तियां सीमित हो जाती हैं।

समता हृदय रूपी रत्नाकर (समुद्र) की पुत्री है। अनुभव रूपी चन्द्रमा इसका श्रेष्ठ भाई है। यह समता आर्त रौद्र ध्यान रूपी हलाहल विष को त्याग कर शुभ परिणाम—धर्म-शुक्ल रूपी अमृत को स्वय ले आती है ॥३॥

समता रूपी लक्ष्मी हजार चरण, हजार नेत्र व चार मुख वाले व्यक्ति को देख कर भयभीत होती है। अर्थात् मोह रूपी महा-राक्षस—जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी चार मुख हैं; जिसके हजार नेत्र और पाँव हैं जिनसे वह समता का नाश करता रहता है—को देख कर डर जाती है। श्री आनन्दघन जी कहते है, आनन्द स्वरूप राग-द्वेष रहित पुरुषों में श्रेष्ठ वीतरागदेव ने प्रेमपूर्वक समता को गले से लगा लिया, अर्थात् समता से जो व्यक्ति स्नेह रखते है वे ही परमपद के अधिकारी होते है ॥४॥

विशेष—उक्त पद के चोथे पद में एक वैदिक रूपक वहुत ही परिष्कृत रूप में है। वह इस प्रकार है—अमृत प्राप्त करने के लिये देव और दानवों ने मिलकर समुद्र का मंथन किया। सुमेरू पर्वत को 'रई' (झेरना) वनाया गया, शेष नाग से रस्सी का कार्य साधा गया। समुद्र मथ गया। समुद्र से चौदह रत्न प्राप्त हुये। वे चौदह अनुपम वस्तुयें इस प्रकार हैं—(१) लक्ष्मी, (२) कौतुभ रत्न, (३) पारिजातक पुष्प, (४) सुरा, (५) धन्वतरि वैद्य, (६) चन्द्रमा, (७) कामधेनु, (८) ऐरावत हाथी, (९) रंभा देवांगना, (१०) सात मुख वाला उच्चैश्रवा अश्व, (११) काल-कूट [जहर], (१२) धनुष, (१३) पांचजन्य शंख और (१४) अमृत।

योगीराज ने श्रद्धा से मानी जाने वाली इस कथा का अत्यन्त बुद्धिगम्य सुन्दर रूपक दिया है। कवि की कल्पना अद्भुत, प्रकृत, बुद्धिगम्य व अत्यन्त उपदेशप्रद है। कविराज कहते हैं कि हृदय में अनेक भाव उत्पन्न होते हैं और विलय होते है, इसलिये यह समुद्र तुल्य हैं।

बुद्धि द्वारा हृदय का मंथन होता है। सद् असद् वृत्तियां इसे इधर उधर खेंचती हैं। सद् वृतियां देव रूप है; असद् वृत्तियां असुर रूप हैं। इस हृदय-मंथन से ही समता रूपी लक्ष्मी प्रकट होती है। हृदय मंथन से ही अनुभव रूपी चंद्रमा प्रकट होता है, जिसके प्रकाश में यह जीव जड़ भाव व चेतन भाव को समझ कर देहाध्यास त्यागता है। समता, आर्त्त रौद्र परिणाम रूप कालकूट विष को त्याग कर ज्ञानरूप अमृतरस को ग्रहण करती है।

स्व० श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने "कल्पवृक्ष" नामक पुस्तक में इस रूपक का भाव इस प्रकार दिया है :—समुद्र मंथन का यह उपाख्यान आध्यात्मिक पक्ष में मनुष्य की दैवी और आसुरी वृत्तियों के संघर्ष का विवेचन करता है। मनुष्य का मन उसकी सर्व श्रेष्ठ निधि है, मननात्मक अंश ही मनुष्य में दैवी अंश है। शरीर का भाग पार्थिव और मन का भाग स्वर्गीय है। अथवा यों कहें कि शरीर मृत्यु और मन अमृत है। शरीर का सम्बन्ध नश्वर है, मन का कल्पान्त स्थायी। किसी भी क्षेत्र में देखें, मन की शक्ति शरीर की अपेक्षा बहुत विशिष्ट है। (कल्पवृक्ष पृ० १०,११)

सतसंग विरह   ५   राग–रामगिरि

क्यां रे मोनइ मिलस्यै संत सनेही ।

संत सनेही सुरजन पाखै, राखै न धीरज देही ॥ क्यां०॥१॥

जण जण आगलि अंतरगतिनी, वातड़ी करिये केही ।

"आनंदघन" प्रभु वैद वियोगे, किम जीवै मधुमेही ॥ क्यां०॥२॥

पाठान्तर—मोनइं = मोनें (अ, इ, उ) । आगलि = आगल (इ, उ) । करियै = कीजें (अ), कहिये (उ),

शब्दार्थ—क्यांरे = कब, किस समय । सुरजन = सगा सम्बन्धी, स्वजन । पाखैं = पक्ष में, लगाव में, विना, विरह में । देही = देह (शरीर) धारण करने वाला, आत्मा । जण जण आगलि = प्रत्येक के आगे । अन्तरगतिनी = मन की । वातडी = वात । मधु मेही = मधु प्रमेह वाला रोगी जिसके मूत्र में शक्कर निकलती है ।

अर्थ—संत पुरुषों से स्नेह करने वाला आत्मस्वरूप मुझे कब प्राप्त होगा । अर्थात् मुझे आत्म बोध कब होगा । संतजन से स्नेह रखने वाले स्वजन के लिये शरीर का धारण करने वाला देही (आत्मा) को अब जरा भी धैर्य नहीं है । अब विरह को सहन करने की शक्ति नहीं है । मिलन की उत्कट इच्छा बढ़ती ही जाती है ॥१॥

हरेक के सामने अपने हृदय की वात कैसे कहूं ? कैसे बताऊं ? आनंदघन जी कहते हैं कि किस प्रकार मधु प्रमेह वाला व्यक्ति विना वैद्य के जीवन यापन नहीं कर सकता है, अर्थात् नहीं जी सकता है, उसी प्रकार आनंद के समूह (आत्म स्वरूप) के वियोग में अब मैं कैसे जी सकता हूं, अर्थात् यह जीवन व्यर्थ है । मुझे तो आत्मस्वरूप प्राप्त करने की उत्कट इच्छा है ॥२॥

इस पद का अर्थ इस प्रकार से भी हो सकता है—

सुमति अनुभव से कहती है कि संत पुरुषों का स्नेही मेरा आत्म स्वरुप मुझे कब प्राप्त होगा ? उसके बिना सब सूना सूना है, मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता है। उसके बिना मैं बेचैन हो रही हूं। अत्यन्त ही दुख पा रही हूं। संतों से स्नेह करने वाले मेरे स्वजन (संबंधी) के लिये शरीर धारण करने वाले मेरे प्राण धीरज नहीं रख पाते है अब वियोग सहन नहीं किया जाता है ॥१॥

हे अनुभव ! हर व्यक्ति के सामाने अपने मन के दुख को कैसे प्रकट किया। जिस प्रकार मधु प्रमेह से दुखित व्यक्ति वैद्य के बिना नहीं जी सकता है, उसी प्रकार आनंद के समूह आत्मस्वरूप स्वामी के बिना मै कैसे जीवन चला सकती हूं। इस लिये मुझे बता कि मेरे आत्म रूप स्वामी मुझे कैसे प्राप्त होंगे ॥२॥

कहते है कि श्री आनंदघनजी से उक्त पद सुनकर जन समुदाय भक्ति विभोर होकर उनका परिचय जानने के लिये, उनकी परम्परा के विषय में प्रश्न करता है। उत्तर में योगीराज आगे का पद कहते मालूम होते है।

परिचय ६ राग–आसाउरी (रामगिरि)

जगत गुरु मेरा, मैं जगत का चेला,
मिट गया वाद विवाद का घेरा ॥ ज०॥१॥
गुरु के रिधि सिधि सम्पति सारी,
चेरे के घर में खपर अंधारी ॥ ज०॥२॥

गुरु कै घर सब जरित जरावा,
चेरे की मढिया मैं छप्पर छावा ।। ज०।।३।।

गुरु मोहिं मारै सबद की लाठी,
चेरे की मति अपराधनि कांठी ।। जं०।।४।।

गुरु के घर का मरम न पावा,
अकथ कहाणी 'आनंदघन' बावा ।। जं०।।५।।

पाठान्तर—चेला = चेरा (अ, इ) । मिट = मिटि (आ) । गया = गइ (उ) । घेरा = गेरा (ई), फेरा (उ) । रिधि सिधि = रिध सिध (इ), ऋद्धि सिद्धि (उ) । खपर = खवर (इ) । छावा = छाया (इ), "चेरे……… छावा" = चेरे के घर में काया में छपर छाया (उ) । खपर = निपट (बु, वि), न = मै (अ), मौ (उ) । बावा = पाया (वु), भाया (वि) ।

शब्दार्थ—वाद विवाद=तर्क, शास्त्रार्थ, कहा-सुनी । घेरा=सीमा । रिधि= ऋद्धि, समृद्धि, सफलता । खपर = मिट्टी का भिक्षा पात्र । मढिया = रहने का स्थान, झोंपड़ी । जरित जरावा = जड़ाव जड़े हुए । सबद = शब्द, वचन, शास्त्र वचन । काठी = कठिन, मजबूत । अकथ = जो कही नहीं जा सके ।

अर्थ—यह संसार सद्गुणों की शाला भूत है। इस ससार से मुझे कुछ न कुछ शिक्षा सदा मिलती रहती है। इसलिये सम्पूर्ण संसार ही को मैं अपना गुरु मानता हूं और अपने को उसका शिष्य। इस प्रकार करने से तर्क वितर्क या वाद विवाद की सारी परिधि ही समाप्त हो जाती हैं ।।१।।

जगत रूपी गुरु के घर में सब प्रकार की ऋद्धि सिद्धि और समृद्धि विद्यमान है। वह सद् गुणों व ज्ञान का भंडार है, उसमें कोई कमी नहीं है। लेकिन मुझ शिष्य की कुटिया में अंधकार (अज्ञान) छाया हुआ है तथा मेरे पास मिट्टी का भिक्षापात्र है ।।२।।

गुरु के घर में (संसार में) सब प्रकार के रत्न जटित आभूषण है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप आभूषण किन्तु मेरी (शिष्य की) कुटिया में तो मात्र छप्पर ही छाया हुआ है। (मेरे तो कर्मों का आवरण ही आवरण है) ॥३॥

(इस पद में कवि ने सामूहिक शक्ति—संघ शक्ति का वर्णन किया है एवं व्यक्तिगत शक्ति का वर्णन कर निरभिमानता का पाठ पढ़ाया है)

गुरू मुझे शब्द रूप (उपदेश) लाठी से ताड़ना करते हैं किन्तु मेरी बुद्धि तो घोर अपराधिनी है व कुण्ठित है। मुझ पर तो उन सदुपदेशों का प्रभाव पडता ही नहीं है ॥४॥

आनन्दघन जी कहते हैं कि गुरू के घर का भेद पाना कठिन है अर्थात् उनके ज्ञान, उपदेश आदि का मर्म प्राप्त करना कठिन है उसकी तो कथा ही अकथनीय है ॥५॥

(इस पद को सुनकर जनता की उत्कण्ठा और बढ़ती है और उनका विशेष परिचय (सम्प्रदाय आदि) जानने के लिये प्रश्न करती है। उसके उत्तर में आगे का पद कहते विदित होते हैं)

७ राग आसाउरी

(साधो भाई) अपना रूप जब देखा।
करता कौन करनी फुनि कैसी, कौन मांगेगो लेखा ॥अपना ॥१॥
साधु संगति और गुरु की, क्रिपा ते मिटि गइ कुल की रेखा।
'आनंदघन' प्रभु परचो पायो, उतर गयो दिल भेखा ॥अपना०॥२॥

पाठान्तर—अपना = सावो भाई अपना (उ)। देखा = देख्या (अ, आ)। करणी फुनि कैसी = कौन फुनि करणी (आ)। किपा = कृपा (अ, उ)। परचो = परची (अ, इ, उ)। उतर = उत्तर (इ, उ)।

शब्दार्थ—फुनि = पुनः, फिर। लेखा = हिसाब। रेखा = लकीर, चिन्ह, मर्यादा। परचो = परिचय। उतर गयो = दूर हट गया। भेखा = वेष, रूप।

अर्थ—(हे सज्जनो!) जब मैंने अपने आप का स्वरूप देखा, अपने को पहिचाना अर्थात् अपने चैतन्य स्वरूप को जाना तो प्रश्न हुआ, कर्त्ता कौन है? करणी (कर्म) क्या है? और इसका हिसाब (अच्छे बुरे कार्य का हिसाब) मांगने वाला कौन है? मैं स्वयं ही कर्त्ता हूं, मेरे कार्य ही करणी है, और इनका लेखा मांगने वाला भी मैं ही हूं। जैसी करणी (कर्म) की है, उसका भोक्ता मैं ही हूं। कोई दूसरा मेरी करणी का हिसाब मांगने वाला नहीं है बल्कि मैं स्वयं ही हूं। उस मेरी करणी के अनुसार ही मुझे फल मिलता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—परमार्थ से यह जीव (आत्मा) स्वभाव परिणति की अपेक्षा निज स्वरूप का कर्त्ता है, व्यवहार में द्रव्य कर्म का कर्त्ता है और उपचार से घर नगर आदि का कर्त्ता है।

मन तो कभी निश्चल रहता नहीं है, कुछ न कुछ (संकल्प, विकल्प) करता ही रहता है किन्तु इन कार्यों में जब तक राग-द्वेष है तब तक बन्ध है। राग-द्वेष रहित करणी इस जीव को बन्धन में नहीं फँसा सकती। जिस प्रकार विष खाने से विष का फल और अमृत पीने से अमृत का फल मिलता है, इसमें हिसाब रखने वाले की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार शुभाशुभ करणी के हिसाब की आवश्यकता नहीं है ॥१॥

शुद्ध साधुओं की संगति करने से, उनके वचनामृत पान करने से, अर्थात् उनके सदुपदेशों के अनुसार आचरण करने से और गुरु की कृपा से दीर्घ काल के जमे हुये संस्कार नष्ट हो गये। अर्थात् जाति, कुल (वंश), वेष आदि का अभिमान नष्ट हो गया। आनन्द के समूह (आत्मा) से मेरा परिचय हो गया—जान-पहिचान हो गई,—आत्मा को जान लिया, अनुभव कर लिया तो मेरे हृदय से बाह्य रूप का मोह दूर हो गया।

"जाति वेषनो भेद नहिं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ती लहे, एमां भेद न कोय॥"

(श्रीमद् राजचन्द्र)

८ राग—धन्यासी (सारंग)

अब मेरे पति गति देव निरंजन।
भटकूं कहां कहां सिर पटकूं, कहा करूं जन रंजन ॥अब०॥१॥
खंजन दृग दृग नांहि लगावुं, चाहुं न चित वित अंजन।
संजन घट अंतर परमातम, सकल दुरित भय भंजन ॥अब०॥२॥
एहि काम-गवि, एहि काम घट, एहि सुधारस मंजन।
'आनंदघन' घटवन केहरि, काम मतंगज गंजन ॥अब०॥३॥

पाठान्तर—अब = अवर (आ)। भटकूं = भटकों (अ)। पटकूं = पटकों (अ)। करूं = करौं (अ)। दृग दृग = दृगन दृग (इ, उ), दृग डिग (अ)। नांहि = न (इ), नहि (उ)। लगावुं = लगावौं (अ)। चाहुं = चाहौं (अ), चाउ (उ)। चितवित = चितवन (ब), चितवन (वि)। संजन

घट अन्तर = संजन अन्तर (आ)। एहि = एह (इ)। घट = घट घट (अ), प्रभु घट (इ), घटे (उ)।

शब्दार्थ—गति = अवलंब, सहारा। निरंजन = दोष रहित। रंजन = प्रसन्न। दृग = नेत्र, दृष्टि। चितवित = चित्त (मन) का धन। संजन = सज्जित। घट अन्तर = अंतःकरण, हृदय। दुरित = पाप। काम गवि = कामधेनु गाय। काम घट = काम कुंभ। मंजन = स्नान। केहरि = सिंह। मतंगज = मस्त हाथी।

अपने शुद्ध स्वरूप को पहिचानने के पश्चात् कवि के उद्‌गार—

अर्थ—ज्ञान सारजी महाराज ने इस पद पर टब्बा लिखा है, उन्हीं के आशय अनुसार इसका अर्थ किया जाता है कि कविराज लाभानन्द जी उपनाम आनन्दघन जी कहते है—निश्चय नय से कर्म मल रहित मेरा निरंजन आत्मा ही मेरा आराध्यदेव है, यह आत्मा ही मेरा स्वामी है। इसका ही मुझे अवलंबन है। इसलिये तीर्थादिक में किस लिये भटकूं, कहाँ कहाँ मस्तक झुकाऊँ, किस किस व्यक्ति को प्रसन्न करता फिरूँ ॥१॥

वन्ध मोख नहि हमरै कवही, नहि उत्पात बिनासा।
सुद्ध सरूपी हम सव कालै, ज्ञान सार पदवासा ॥
(ज्ञानसार जी)

परमात्म स्वरूप को प्रत्यक्ष करने के लिये (देखने के लिये) खंजन पक्षी के नेत्र समान लम्बे सुन्दर नेत्र मुझे नहीं चाहिये और न मुझे उन नेत्रों को सुन्दर वनाने के लिये जो उनका धन है, ऐसे अंजन की आवश्यकता है क्योंकि समस्त पापों व भयों को दूर

करने वाला परमात्मा तो मेरे घट में (हृदय में) ही सुशोभित है, बैठा है ॥२॥

यह परमात्मा ही मेरे लिये मनवंच्छित फल देने वाली कामधेनु है, यही मेरे लिये कामकुंभ है, यही अमृतरस का स्नान है। (मुझे अन्य वस्तुओं की इच्छा क्यों हो ? अर्थात् नहीं है।) आनन्द-धाम आत्मा मेरे शरीर रूपी वन के केसरी सिंह है जो काम रूपी मदोन्मत्त हाथी का गंजन (नाश) (चूर चूर) करने वाला है।

९ राग—कल्याण

मोकुं कोऊ कैसइहु तको।
मेरे काम इक प्रान जीवन सुं, और भावै सो चको ॥ ॥मोकुं॥१॥
हूँ आयो प्रभु शरण तुम्हारी, लागत नाहिं धको।
भुजनि उठाइ कहुं ओरनिसों, करहो जुकरहि सकौ ॥मोकुं॥२॥
अपराधी चितठानि जगत जन, कोरिक भांति चकौ।
'आनन्दघन' प्रभु निहचै मानो, यह जन रावरो थकौ ॥मोकुं॥३॥

पाठान्तर -- कैसइ = कैसे (अ. ड), कैहसे (उ)। हु तको = हि ककौ (अ)। सो = सु (आ)। तुम्हारी = तुहारी (अ), तुम्हारे (इ), तिहारे (उ)।

नोट—योगिराज जब सर्वसंघ परित्याग कर अकेले रहने लगे (विशेष साधना के लिये) तो इनके विषय में लोग शंका करने लगे और तरह तरह की बातें फैलाने लगे। यह समाचार इनके कानों तक भी पहुँचे। वे विचार करते है कि संसार की भी क्या विचित्र गति है ! उसे दूसरों की बातें घनाना (निन्दा करना) ही आता है। यह कुछ भी कहें, कुछ भी समझें, मुझे तो अपने आराध्य से काम है। मुझे आन्तरिक शांति चाहिये, वह संसार की ओर लक्ष्य देने से नहीं मिलेगी, प्रभु को सर्वस्व अर्पण से ही मिलेगी। इस ही भाव को इस पद में व्यक्त किया है।

भुजनि = भुजन (इ), भुवजन (उ)। ओरनि = ओरन (अ), औरनि (इ. उ)। सों = सु (आ)। करहोजु = करहुजु (अ), करहुज (आ)

शब्दार्थ—तको = देखो, समझो। भावै = जो दिल में आवे, इच्छानुसार। बको = कहो। धको = धक्का। चको = देखो, आशंका करो। रावरो= आपका। थको = हो चुका।

अर्थ—मुझे कोई कैसी ही दृष्टि से देखो, मुझे तो मेरे जीवन प्राण प्रभु (आराध्य) से काम है, संसार के लोग भले ही मेरे लिये कुछ ही कहा करे ॥१॥

हे प्रभो ! हे स्वामी ! मैं आपकी शरण में आ गया हूं। संसार की निन्दा–स्तुति मुझे धक्का नहीं दे सकती हैं। मुझे मेरे ध्येय से हटा नही सकती है। मैं तो हाथ उठाकर (पुकार पुकार कर) और लोगों से कहता हूं कि अपनी शक्ति भर जो कर सकते हो, करो ॥२॥

संसार के लोग मुझे अपराधी समझकर भले ही नाना प्रकार की दृष्टि से देखें, मन में करोड़ों तरह की आशंकायें करें, मुझे इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है। हे आनन्दधाम प्रभो ! आप यह निश्चय मानो कि यह सेवक तो आपही का हो चुका है ॥३॥

इस पद का अर्थ सर्वस्व समर्पण करने वाले भक्त की उक्ति के ऊपर किया गया है। किन्तु यदि यह उक्ति सुमति अथवा चेतना की मानें तो भी अर्थ संगत ही रहता है।

आत्म निवेदन **१०** **राग–आशावरी**

अवधू क्या मांगुं गुन-हीना, वै तो गुन गगन प्रवीना॥

गाइ न जानुं बजाइ न जानूं, नै जाणु सुर भेवा रे।

रींझ न जानुं रींझाइ न जाणु, नै जाणु पद सेवा ॥अ०॥१॥

वेद न जाणु कतेव न जाणु, जाणु न लक्षण छन्दा ।
तरकवाद विवाद न जाणु, न जाणु कवि फंदा ॥ अ० ॥२॥
जाप न जाणु जुश्राव न जाणु, न जाणु कथ वाता रे ।
भाव न जाणु भगति न जाणु, जाणु न सीरा ताता ॥ अ० ॥३॥
ग्यान न जाणु विग्यान न जाणु, न जाणु भजनामा ।
'आनंदघन' प्रभु के घरि द्वारें, रटन करूं गुन धामा ॥ अ० ॥४॥

पाठान्तर—'तो' 'इ' प्रति में नहीं है । गुन गगन = गुन गनन (आ, का), गुण गगन (उ), गुन गनिन (च), सुर = स्वर (इ.उ) । भेवा = देवा (उ) रींझ = रीझ (आ), रीझाइ = रीभाइ (उ) रिझाइ (अ. इ.) । लक्षण = लछन (इ), लच्छन (उ) । जाप = आप (आ), जुआव = जुआप (आ), जवाव (इ), जवाप (उ) । कथवातारे = कथावातारे (आ), कथवात (इ), कथावतारे (उ) । सीरा = सीला (उ) । ग्यान = ज्ञान (अ) । विग्यान = विज्ञान (अ) । न = नइं (आ), नै (अ) भज = भजि (अ) । घरि = घर (इ. उ) ।

शब्दार्थ—गगन = आकाश । प्रवीन = चतुर । भेवा = भेद । रींझ = प्रसन्नता । रींझाइ = प्रसन्न करना । पद सेवा = चरणसेवा, चारित्रसेवा, स्वरूप सेवा । तरकवाद = न्यायशास्त्र । विवाद = उत्तर प्रत्युत्तर करना, झगडना । कवि फन्दा = कवित्वकला, कविता बनाना । सीरा ताता = ठण्डा गरम । विग्यान = अनुभव जन्य ज्ञान । भजिनामा = भजन की रीति । गुणधामा = गुणों के घर ।

अर्थ—इस पद में कवि आत्म निवेदन में अपनी लघुता दिखाते हुये, अपने अहंभाव का निराकरण करते हुये कहते हैं—हे अवधू ! मैं गुणहीन क्या मांगू ? वे प्रभु तो आकाश के समान अनंत गुण वाले चतुर हैं । मांगने के लिये, मैं न तो गायन जानता, न (प्रसन्न करने के लिये) अनेक वाद्यन्त्र वजाना जानता, न मैं षडज, ऋषभ,

गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद आदि स्वरों के भेदों को जानता, न अपनी प्रसन्नता प्रकट करना जानता, न प्रभु को हाव भाव व वचन चातुरी से प्रसन्न करना जानता और न प्रभु के चरणों की सेवा विधि ही जानता ॥१॥

चारों वेदों को—(ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद), मैं नहीं जानता, शास्त्र ज्ञान मुझे नहीं है। न पिंगल शास्त्रानुसार छंदों के लक्षण जानता, न्याय शास्त्र व वादविवाद (शास्त्रार्थ) करना भी मैं नहीं जानता, न कवियों जैसी वाक चातुरी मुझ में है ॥२॥

न मैं जाप करने के भेदों को जानता, (शब्द व मानस दो प्रकार के जाप हैं)। इनमें नंदावर्त, शंखावर्त, ॐ वृत्त, ह्रीं वृत्त आदि अनेक भेद हैं। योग की विधियें जानने वाले शरीर के विविध भागों में कमलों की कल्पना कर, उन पर अनेक अक्षर व पद स्थापित कर जाप किया करते हैं। किसको किस भांति कहना चाहिये— जवाब देना चाहिये, यह विद्या भी मुझ में नहीं है। न उत्तमोत्तम मनोरंजक कथा-वार्ता कहना ही मुझे आता है। भावों को उल्लसित करने की शक्ति भी मुझे नहीं है। न मैं भक्तिभाव करना ही जानता हूं। क्या बात किसको शांत कर देगी, कौनसा व्यवहार उत्तेजित कर देगा—यह भी मैं नहीं जानता ॥३॥

न मुझे सामान्यज्ञान है, न विशेष ज्ञान है और न भजन कीर्तन की रीति ही का ज्ञान है। आनन्दघन जी कहते हैं—मैं तो केवल मात्र आनन्द स्वरूप गुणों के निधान प्रभु के घर के दरवाजे

पर (राग-द्वेष रहित, इच्छा रहित होना ही प्रभु का घर द्वार है) उनके गुणों का स्मरण करता हूं ॥४॥

सारांश यह है कि मांगने वाले में भी योग्यता होनी चाहिये। कवि कहते हैं—उक्त प्रत्येक बात में मुझसे अधिक सैकड़ों ही व्यक्ति हैं फिर मैं मांगने का कैसे साहस करूं। वह प्रभु तो घट घट को जानने वाला है। योग्यता होने पर प्राप्ति में देर नहीं लगती। इसलिए प्रभु से याचना क्या करूं। उसका स्मरण करते हुये अपना कर्तव्य पालन करते रहना ही श्रेष्ठ साधन है। इस ही में सिद्धि है। प्रभु से योग्यता के बल पर कुछ भी मांग न करने से फलाशा बढ़ती है और सफलता फल की आशा त्यागने में है। योगीराज ने निस्वार्थ भाव से प्रभु का स्मरण करते हुये अपने आचरण द्वारा कार्य करने का मार्गदर्शन किया है।

आत्म निरूपण **११** **राग–आशावरी**

अवधू नाम हमारा राखै, सोइ परम महारस चाखै ॥
ना हम पुरुष ना हम नारी, वरनन भांति हमारी।
जाति न पांति न साधु न साधक, ना हम लघु नहि भारी
॥ अव० ॥१॥

ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीरघ ना छोटा।
न हम भाई, न हम भगनी, ना हम बाप न धोटा ॥ अव० ॥२॥
ना हम मनसा ना हम सबदा, ना हम तन की धरणी।
न हम भेष भेषधर नाहीं, ना हम करता करणी ॥ अव० ॥३॥
न हम दरसन ना हम फरसन, रस न गंध कछु नाहीं।
'आनन्दघन' चेतन मय मूरति, सेवक जन बलि जाहीं ॥ अव० ॥४॥

पाठान्तर—सोइ = सोई (अ), सो सो (इ)। यहा शब्द 'इ' प्रति में नहीं है। ना = नहि (इ)। भांति = भांत (इ)। जाति न पांति न साधु न साधक = जाति न पांति न साध न साधक, ना हम लघु नहि भारी (अ) जात न पांत न साधक नाहीं, नहि हैं लघु नहि भारी (इ), जाति न पांति न्याद नहि साधुक, ना हम लघु ना हम भारी (उ) जाति न पांति न साधन साधक, नहीं हम लघु नहीं भारी (क. ब. वि), साधु न साधक = सिद्ध नहीं साधक (देहरागलीवालों की प्रति)। ना = नहि (इ)। ना हम दीरघ न छोटा = न हम दीरघ—छोटा (अ), नहीं दीरघ नहीं छोटा (इ), ना हम दीरघ ना हम छोटा (उ)। ना = नहि। माई = भगनी (इ)। भगनी = माई (इ)। ना = नहीं (इ)। बाप = बाद (उ)। बोटा = बेटा (उ)। ना = नहीं (इ), तन की = तरस (इ)। धरणी = धरनी (इ)। ना = नहीं (इ)। न = ना (उ), नहीं (इ)। ना = नहीं (इ)। फरसन = परसण (अ), परसन (इ)। बलि जाहीं = बल जाइ (इ)।

शब्दार्थ—अवधू = आत्मा, चेतन। परम महारस = आत्मानन्द। बरन = रंग, वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र)। भांति = भेद। पांति = पंक्ति। साधु न साधक = साधु न श्रावक (साधना करने वाला गृहस्थ)। बोटा = पुत्र, बेटा। मनसा = मन, कामना, इच्छा। तन की = शरीर की। धरणी = धारण करने वाली भूमि। भेषधर = वेश को धारण करने वाला। दरसन = दृश्य वस्तु।

अर्थ—अवधू (आत्मा) के नाम से जो हमें पहिचानेगा, यह नाम जो हमारा रखेगा, वही अमृत रस का स्वाद प्राप्त करेगा, मुझको शरीर समझने वाले तो अनेक विपत्तियाँ सहन करेंगे, मुझे आत्मा समझने वाले इन सबसे (विपत्तियों से) मुक्त रहेंगे क्योंकि आत्मा आनन्द स्वरूप है, अविनाशी व अनन्त शक्ति सम्पन्न है।

मैं (आत्मा) न पुरुष हूं, न स्त्री। इसका लाल, पीला आदि कोई रंग नहीं है। रंग तो इन्द्रिय गोचर पदार्थों में होता है, यह

(आत्मा) इन्द्रिय अगोचर है। अथवा आत्मा का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में से कोई वर्ण नहीं है। न छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का ही भेद है। इसकी न कोई जाति है, न पंक्ति है, अर्थात् एकेंद्रिय, द्वेंद्रिय आदि जाति की पंक्ति में यह नहीं है। न मैं (आत्मा) साधु हूं, न साधना करने वाला हूं। न मैं (आत्मा) छोटा हूं और न मैं भारी हूं ॥१॥

मैं (आत्मा) न गरम हूं न ठंडा, न मैं (आत्मा) बड़ा हूं न छोटा, न मैं (आत्मा) किसी का भाई हूं न किसी की बहिन, न मैं बाप हूं और बेटा हूं। (आत्मा) नित्य है—न यह कभी उत्पन्न हुआ, न किसी को उत्पन्न कर सकता है, इसलिये किसी का भाई-बहिन, पिता-पुत्र नहीं हो सकता है। यह शरीर ही उत्पन्न होता है, इसलिए इसही के संग यह सब सम्बन्ध घटित होते हैं ॥२॥

न मैं (आत्मा) मन से उत्पन्न हूं, न शब्द से। न मैं मन हूं, न शब्द हूं। न मैं (आत्मा) शरीर के धारण करने वाले पंच महाभूत से उत्पन्न हूं। न मेरा (आत्मा का) कोई वेष है, जिससे मैं वेष-धारी कहलाऊँ। न मैं (आत्मा) कर्त्ता हूं, न मैं करणी हूं। जिस करणी (कर्म) को करता हुआ यह जीव दिखाई पड़ता है, परमार्थ से यह उसका कर्त्ता नही है, उपचार से कर्त्ता है ॥३॥

न मैं (आत्मा) देखा जा सकता हूं, न स्पर्श किया जा सकता हूं। न मेरा (आत्मा का) स्वाद लिया जा सकता है, न मेरी गंध ली जा सकती है। अर्थात् आत्मा के रूप, रस, गंध, स्पर्श कुछ भी नहीं है। आनन्दघन जी कहते हैं—चैतन्य गुण युक्त यह आत्मा (मैं) है, अनंत ज्ञान, दर्शन, आनन्द व वीर्य युक्त आत्मा है, सत्, चित

पाठान्तर—अपना = साधो भाई अपना (उ)। देखा = देख्या (अ, आ)। करणी फुनि कैसी = कौन फुनि करणी (आ)। क्रिपा = कृपा (अ, उ)। परचो = परचौ (अ, इ, उ)। उतर = उत्तर (इ, उ)।

शब्दार्थ—फुनि = पुनः, फिर। लेखा = हिसाब। रेखा = लकीर, चिन्ह, मर्यादा। परचो = परिचय। उतर गयो = दूर हट गया। भेखा = वेष, रूप।

अर्थ—(हे सज्जनो!) जब मैंने अपने आप का स्वरूप देखा, अपने को पहिचाना अर्थात् अपने चैतन्य स्वरूप को जाना तो प्रश्न हुआ, कर्त्ता कौन है? करणी (कर्म) क्या है? और इसका हिसाब (अच्छे बुरे कार्य का हिसाब) मांगने वाला कौन है? मैं स्वयं ही कर्त्ता हूं, मेरे कार्य ही करणी है, और इनका लेखा मांगने वाला भी मैं ही हूं। जैसी करणी (कर्म) की है, उसका भोक्ता मैं ही हूं। कोई दूसरा मेरी करणी का हिसाब मांगने वाला नहीं है बल्कि मैं स्वयं ही हूं। उस मेरी करणी के अनुसार ही मुझे फल मिलता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—परमार्थ से यह जीव (आत्मा) स्वभाव परिणति की अपेक्षा निज स्वरूप का कर्त्ता है, व्यवहार में द्रव्य कर्म का कर्त्ता है और उपचार से घर नगर आदि का कर्त्ता है।

मन तो कभी निश्चल रहता नहीं है, कुछ न कुछ (संकल्प, विकल्प) करता ही रहता है किन्तु इन कार्यों में जब तक राग-द्वेष है तब तक बन्ध है। राग-द्वेष रहित करणी इस जीव को बन्धन में नहीं फँसा सकती। जिस प्रकार विष खाने से विष का फल और अमृत पीने से अमृत का फल मिलता है, इसमें हिसाब रखने वाले की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार शुभाशुभ करणी के हिसाब की आवश्यकता नहीं है॥१॥

आनन्दघन जी कहते हैं—हे प्रभो ! मन मिले विना तो कोई चेला—शिष्य भी पास नहीं आता है ॥२॥

विशेष—सम्भव है किसी के प्रश्न करने पर कि आप शिष्य करेंगे या नहीं ? योगीराज को इस पद की स्फुरणा हुई हो । तात्पर्य यह है कि जब तक मन के अनुसार योग्यता वाला कोई न मिले, तब तक योगीराज उसे दीक्षित करने की इच्छा नहीं रखते । शिष्य बना कर उसे योग्य न बनाना तो बुरा है और शिष्य बन कर गुरु में श्रद्धा भाव न रखना और भी बुरा है । परस्पर का सम्बन्ध ही फलदायक है ।

यदि इस पद को चेतना या सुमति की उक्ति मानें तो चेतना कहती है कि जिससे मेरा मन मिल जावे ऐसा मन मिलापी प्रिय मुझे कब प्राप्त होगा अर्थात् मुझे शुद्ध स्वरूप आत्म-दर्शन कब प्राप्त होगा ? (आगे पद का भी इसी प्रकार अर्थ होगा)

सिद्ध स्वरूप उनके ३१ गुण १३ राग—आशावरी

अनन्त अरूपी अविगत सासतो हो वासतो वस्तु विचार ।
सहज विलासी हासी नवि करै, अविनाशी अविकार ॥अनंत०।१॥
ज्ञानावरणी पंच प्रकार नी, दरसण रा नव भेद ।
वेदनी मोहनी दोइ दोइ जाणीइ रे, आउखो चार विच्छेद ॥अ०।२॥
शुभ अशुभ दोउ नाउँ वखाणीयै, ऊँच नीच दोय गोत ।
विघन पंचक निवारी आप थी, पंचम गति पति होत ॥अ०।३॥
जुग पद भावी गुण जगदीसना रे, एकत्रीस मति आणि ।
अवर अनन्ता परमागम थकी, अविरोधी गुण जाणि ॥अ०।४॥

सुन्दर सरूपी सुभग सिरोमणी, सुणि मुझ आतम राम।
तनमय तल्लय तसु भजने करी, 'आनन्दघन' पद पाम ॥अ० ।५॥

पाठान्तर—वस्तु = वसत (आ)। दरसण रा = दरसण ना (इ)। जाणीइ रे = जाणियै रे (अ, इ)। विछेद = विच्छेद (अ)। दोउ नाउ' = दोऊ नांव (इ), दोऊ नाम (उ)। ऊँच = उँच (आ)। दोइ = दोय (इ)। निवारी = निरवारी (आ), निरवार्‌या (उ)। आप थी = आपथी रे (इ, उ)। जुग पद = युग पद (अ, उ)। मति = मनि (आ), मन (इ, उ)। आणि = आण (अ)। अविरोधी=अहिरोधी (अ)। सिरोमणि=सिरोमणि रे (अ), सिरोमणी रे (इ, उ)। सुणि = सण (इ, उ)। भजनै = भजनइ (अ), भक्ते (ब. वि.)।

शब्दार्थ—अरूपी = रूप-रंग रहित, जो इन्द्रियों द्वारा न जाना न देखा जा सके। अविगत = अनिर्वचनीय, जिसका वर्णन न हो सके। सासतो = शाश्वत, नित्य, अविनाशी। वासतो = निवास करते हैं, रहते हैं। सहज विलासी = स्वभाव सुख में रमण करते हैं। अविनाशी = विनाश रहित। अविकार = विकार रहित। आउखो = आयुष्य कर्म। विछेद = भेद, प्रकार। विघन = अन्तराय कर्म। पंचम गति = मोक्ष। जुग पद = एक ही क्षण में उत्पन्न ज्ञान, दर्शन। सरूपी = स्वरूप वाला। सुभग = सुन्दर, सुखद। तन्मय = तदाकार, एकाग्र। तल्लय = तल्लीन, निमग्न।

अर्थ—योगीराज आनन्दघन जी कहते हैं—सिद्ध परमात्मा अनन्त है, अरूपी है—इन्द्रियों द्वारा जाने नहीं जा सकते, इनके स्वरूप का पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता। वह शाश्वत है। सिद्ध शिला पर निवास करते हैं। सम्पूर्ण वस्तुओं के तथा उनके भावों के ज्ञाता है। सहज सुख में विलास करते हैं। किन्तु कभी किसी से हँसी नहीं करते अर्थात् गम्भीर हैं क्योंकि विकार रहित और अविनाशी है ॥१॥

मति, श्रुति, अवधि, मनपर्यव तथा केवल—इन पाँच प्रकार

के ज्ञान पर आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानवरणी कर्म कहते हैं। दर्शनावरणी के नौ भेद हैं—चक्षु दर्शनावरणी, अचक्षु दर्शनावरणी, अवधि दर्शनावरणी, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला तथा स्त्यानगृद्धि। साता, असाता वेदनी से, वेदनी कर्म के दो प्रकार, दर्शन मोह और चारित्र मोह—ये मोहनी कर्म के दो भेद हैं। आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ॥२॥

शुभाशुभ प्रकार से नाम कर्म के दो भेद, उच्च गोत्र और नीच गोत्र—ये गोत्र कर्म के दो भेद हैं। दान, भोग, उपभोग, लाभ व वीर्य में विघ्न पहुँचाने वाले पाँचों अन्तराय कर्मों को अपने से दूर कर, हटा कर पंचम गति मोक्ष के स्वामी होते है ॥३॥

जगत के स्वामी सिद्ध भगवान् में एकसाथ एक ही समय में इकतीस गुण होते है। सिद्ध परमात्मा में और भी अनन्त अविरोधी गुण है जिन्हें परमागम से जानना चाहिये। (१) ज्ञानावरण के नाश से अनन्त ज्ञान प्रगट होता है, (२) दर्शनावरण के नाश से अनन्त दर्शन, (३) वेदनीय कर्म के नाश से अव्यावाध सुख-अनन्त सुख, (४) दर्शन मोह कर्म के नाश से क्षायिक सम्यकत्व तथा चारित्र मोह के नाश से स्वरूप रमणता रूप क्षायिक चारित्र प्रकट होता है, (५) नाम कर्म के नाश से अरूपीपन, (६) गोत्रकर्म के नाश से अगुरु लघु गुण प्रकट होता है, (७) अन्तराय कर्म के नाश से अनंतवीर्य शक्ति प्रकट होती है, (८) आयु कर्म के नाश से अक्षय स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार ये इकतीस गुण सिद्धों में प्रकट होते हैं ॥४॥

हे सुन्दर व सुखद वस्तुओं के सिरताज ! शिरोमणी ! मेरे आतम राम सुन, तू भी एकाग्र भाव और तल्लीनता से सिद्ध भगवान् के गुणगान कर जिससे आनन्ददायक परमानन्द प्राप्त हो, तदाकार वृत्ति से सिद्ध भगवान् में तल्लीन होकर भजन कर, जिससे परमानंद दायक परमपद प्राप्त होवे ।।५।।

प्रिया प्रलाप   १४   राग—तोड़ी (टोड़ी)

तेरी हूँ तेरी हूँ एतो कहूँ री ।
इन वातन कू दरेग तू जानै, तो करवत कासी जायं गहूँ री ।।
।। तेरी० ।। १ ।।
वेद पुराण कतेव कुरान मैं, आगम निगम कछु न लहूँ री ।
चाचरि फोरि सिखाइ सव निकी, मैं तेरे रस रंग रहूँ री ।।
।। तेरी० ।। २ ।।
मेरे तो तूं राजी चहीयै, और के बोल मैं लाख सहूँ री ।
'आनन्दघन' प्रभु वेगि मिलो प्यारे, नहिं तो गंग तरंग वहूँ री ।।
।। तेरी० ।। ३ ।।

पाठान्तर—तेरी हूँ तेरी हूँ एती कहूँ री = तेरी हूँ एती कहूँ री (आ), तेरी हूँ तेरी हूँ तेरी हूँ तेरी हूँ तेरी हूँ तेरी हूँ (अ, उ) । कू = मैं (अ, इ) । दरेग = दगो (अ, इ) । जानै = ज्यनै (अ, इ) । कतेव = कितेब (उ) । चाचरि = वाचरि (इ), चाचर (उ) । फोरि = कोरी (उ) । सिखाइ = सिखाय (उ) । सव निकी = सवन की (इ, उ), सेवन की (क, व) । नहिं = नांहीं (अ, आ) ।

शब्दार्थ—दरेग = कमी फर्क, । कतेव = किताव, धर्मग्रंथ । आगम = जैन धर्म शास्त्र । निगम = अर्थ निर्धारण करने वाले ग्रंथ, वेद । चाचरि =

फाल्गुन में गाया जाने वाला गीत, एक राग। सब निकी = सबने भली भाँति। रस-रंग = प्रेम के रंग में, आनन्द में।

अर्थ—सद्‌बुद्धि कहती है—हे चेतन! तू निश्चयपूर्वक जान कि मैं तेरी ही हूं। मैं अनेक बार कह चुकी हूं कि मैं तेरी हूं, मैं तेरी ही हूं, अब फिर कहती हूं कि मैं तेरी हूं। इस मेरी बात में कुछ कमी या फर्क समझता हो तो मैं काशी जाकर करवत ले सकती हूं ॥१॥

हे चेतन! चारों वेदों, अठारह पुराणों, कुरान, जैनागमों, उपनिषदों में तेरे वर्णन के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाती हूं। वाणी के हेर-फेर से, भाषा परिवर्तन से, वचन चातुरी से गा गा कर इन सब ने भले प्रकार से तेरी ही सेवा के विषय में कहा है। हे चेतन! मैं तो तेरे ही रस-रंग (प्रेम) में रहती हूं ॥२॥

मुझे तो तेरी प्रसन्नता चाहिये (तू मेरे उन्मुख रहे) फिर तो मैं लोगों के लाख लाख ताने, अपशब्द भी सहलूँगी। हे प्रिय आनन्दधाम प्रभो! तुम्हारा विरह अब सहा नहीं जाता है अतः आप शीघ्र आकर मिलो। देखो, मैं विचार रूपी गंगा के प्रवाह में वही जा रही हूं ॥३॥

प्रिया प्रलाप १५ राग–तोड़ी (टोड़ी)

परम नरम मति और न भावै।
मोहन गुन रोहन गति सोहन, मेरी बेर अैसे निठुर लखावै ॥
॥ परम० ॥ १ ॥

चेतन गात मनात न एते, मूल वशात जगात वढ़ावै।
कोऊ न दूती दलाल वसीठी, पारखी पेम खरीद वणावै॥
॥ परम० ॥ २ ॥
जाँघि उघारि अपनी कही एती, विरह जार निसि मोहि सतावै।
एती सुन 'आनन्दघन' नावत, और कहा कोऊ डूंड वजावै॥
॥ परम० ॥ ३ ॥

पाठान्तर—और = अउर (अ)। भावै = आवै (इ)। वेर = वैरन (इ), विर्यां (उ)। जगात = लगान (उ)। पेम = प्रेम (इ, उ)। खरीद = खरादि (आ), खरीदि (अ)। जांघ उघार अपनी कही एती = जाँघ उघारि प्रणत कहै ऐती (उ), जांघ उघार आपनी कही एतो (इ)। डूंड = डूंडि (इ, उ)।

शब्दार्थ—और = अन्य, माया ममता आदि। गुन रोहन = गुणों में पर्वत के समान। गति = चाल। सोहन = शोभायमान, सुन्दर। वेर = समय, वार, दफा, मरतवा। लखावै = देखने में आता है। गात = गायन कर। मूल वशात = मूल वस्तु से जगात—महसूल (कर, टैक्स) वढ़ा लेता है। वसीठी = सन्देश वाहक। विरह जार = वियोग की ज्वाला। नावत = नहीं आता है। डूंड = डोंडी, ढोल।

अर्थ—हे गुणधाम! सुन्दर गति वाले मनमोहन चेतन! माया, ममता, विभाव, धन, वैभव, कुटुम्ब परिवार आदि सांसारिक भोगों का प्रसंग जब उपस्थित होता है तब तो अत्यन्त नम्रता से उन सब में रस लेने लगते हो—रच-पच जाते हो और मेरी वार—सम; दम, सन्तोष, समता आदि के समय आप ऐसे निष्ठुर बन जाते हो कि मेरे से आपका कोई सम्बन्ध ही नहीं है॥१॥

समुति श्रद्धा से कहती है—हे सखि! मैं चेतन देव को अत्यन्त मधुर शब्दों में विनती करती हूं, गा-गा कर प्रसन्न करने की चेष्टा करती हूं कि आप मूल वस्तु से हांसिल (टैक्स) क्यों वढ़ाते हो।

कोई ऐसा दूत नहीं है, न कोई ऐसा दलाल है, न कोई ऐसा सन्देश वाहक है जो उन्हें समझा कर परीक्षा पूर्वक प्रेम का सौदा बना देवे ।।२।।

जंघा उघाड़ कर, लज्जा त्याग कर, बेपर्दा होकर अपनी कथा इसलिये कह रही हूं कि मुझे आत्म-विरह की ज्वाला रातों सताती रहती है। इतना सुनकर, समझ कर भी आनन्ददायक, स्वरूपानन्द के स्वामी (चेतन) मेरे पास नहीं आवें तो क्या डोंडी पिटाऊँ ? ।।३।।

विरह दशा **१६** **राग–तोड़ी (टोड़ी)**

पिया विण निस दिन झूरूँ खरी री ।
लहुड़ी बड़ी की कानि मिटाई, द्वार ते आँखें कब न टरी री ।।
।। पिया० ।। १ ।।

पट भूषण तन भौकन उठै, भावै न चोकी जराव जरी री ।
सिव कमला आली सुख न उपावत, कौन गिनत नारी अमरी री ।।
।। पिया० ।। २ ।।

सास विसास उसास न राखै, नणद निगोरी भोरै लरी री ।
और तबीब न तपति बुझावै, 'आनन्दघन' पीयूष झरी री ।।
।। पिया० ।। ३ ।।

पाठान्तर—पिया = प्रिय (अ) । लहुडी = लहुरी (इ) । द्वार = द्वारि कब न = कबहु न (उ) । उठै = उठई (अ), ओढ़ै (इ), उठइ (उ) । भावै = भावइ (आ) । सुख न उपावत = सुभ उपावत (अ) । भोरै = भोर (इ) । पीयूष = पीऊष (इ) ।

शब्दार्थ—झूंरू = अत्यन्त सन्तप्त । लहुडी = छोटी । कानि = मर्यादा । टरी = हटना, टलना । पट = वस्त्र । भूषण = गहने, आभूषण, जेवर । भौकन = भभका । भावै न = अच्छी नहीं लगती । जरी = जड़ी हुई । सिव कमला = मोक्ष लक्ष्मी । उपावत = पैदा करती है । अमरी = देवांगना, अप्सरा, सुरबाला । विसास = विश्वास । उसास = श्वासोश्वास जितना । निगोरी = निगोड़ी, दुष्ट । भोर = सवेरे । तबीब = हकीम, वैद्य । तपति = दाह, जलन । पीयूष = अमृत । झरी = झड़ी, वर्षा ।

अर्थ—सुमति कह रही है—प्राण प्यारे चेतन के बिना दिन-रात मैं संतप्त रहती हूं । छोटी बड़ी सबकी मर्यादा त्याग कर मेरी आंखें द्वार से कभी हटती ही नहीं । प्रीतम की (चेतन की) प्रतीक्षा में द्वार की ओर टकटकी लगाये रहती हूं । अपने स्वामी का इन्तजार कर रही हूं । कब मेरे स्वामी मेरे घर आवें ॥१॥

(इस वियोगावस्था में) वस्त्र आभूषणों और शरीर से भभका उठता है । बहुमूल्य जड़ाऊ चौकी भी अच्छी नहीं लगती है । चेतना कहती है कि हे सखि श्रद्धा ! मोक्ष लक्ष्मी से भी मुझे सुख नहीं है । जब मोक्ष लक्ष्मी से ही मुझे सुख नहीं हो सका तो स्वर्ग की देवांगनायें तो किस गिनती में हैं । उसकी इच्छा कौन करेगा ? चेतना कहती है कि मुझे न स्वर्ग चाहिये, न मोक्ष सुख चाहिये, मुझे तो अपने स्वामी शुद्धात्मा चेतन्य देव से मिलना है ॥२॥

सासू एक क्षण का भी विश्वास नहीं करती है और निगोड़ी ननद सवेरे से ही लड़ना आरम्भ कर देती है । अर्थात् ज्ञानी गुरुजन कहते हैं कि हे सुमते ! आयु का एक पल का भी विश्वास नहीं है । तू पूर्ण प्रयत्न कर चेतन से मिल क्यों नहीं लेती ? बराबर वाली भी प्रभात में यही स्मरण कराती है कि प्रत्येक प्रभात के संग जीवन

का एक दिन कम होता है। इस दुर्लभ मनुष्य भव में ही तू नहीं मिल सकी तो फिर चेतन से कहां मिलाप होगा। अतिशय आनन्द-मय मेरे स्वामी चेतन देव के मिलने से ही मेरे तन की तपत दूर हो सकेगी क्योंकि मेरे तन का ताप तो उनके मिलाप रूप अमृत झरणे (वर्षा) के अतिरिक्त किसी भी हकीम-वैद्य की औषधि से जाने वाला नहीं है ॥८॥

प्रिया प्रलाप, ललकार १७ राग-तोड़ी (टोड़ी)

ठगोरी, भगोरी, लगोरी, जगोरी ।
ममता माया आतम लै मति, अनुभव मेरी ओर दगोरी ॥ १ ॥
भ्रात न मात न तात न गात न, जात न वात न लागत गोरी ।
मेरे सब दिन दरसन परसन, तान सुधारस पान पगोरी ॥ २ ॥
प्राननाथ विछुरे की वेदन, पार न पावुँ पावुँ थगोरी ।
'आनन्दघन' प्रभु दरसन औघट, घाट उतारन नाव मगोरी ॥ ३ ॥

पाठान्तर—गात न जात न = जात न गात न (इ, उ)। मेरे = मेरइ (अ)। तान = तात (इ)। पार न पावुं पावुं = पांउ न पावुं न पावुं (अ, इ)। पार न पाऊं अथाग (वि)। मगोरी = न गोरी (अ), मरोरी (उ)।

शब्दार्थ—ठगोरी = ठगने वाली। भगोरी = भाग जावो। लगोरी = पीछे लगी हुई। जगोरी = जागृत हो। ओर = तरफ, पक्ष। दगोरी = दगा, धोखा। जात = सजातीय। गात = शरीर, सगोत्रिय। परसण = स्पर्श, चरण छूना, वंदना, नमस्कार। तान = मधुर स्वर। पगोरी = मस्त, तन्मय रहना। थगोरी = शिथिल, थकना। औघट = विषम, ऊबड़-खाबड़। मगोरी = मँगाती हूँ।

अर्थ—आत्मा के पीछे अनादि काल से लगे हुये माया, ममता, विभाव रूप परिणामों ! हे धोखा देने वालो ! अब भाग जावो, दूर

हटो। हे ठगो ! तुम्हारी शिक्षा से अब तक यह चेतन (मेरे स्वामी) मेरे (सुमति के) और अनुभव के संग दगा—धोखा करते आये हैं किन्तु अब मैंने तुम्हारे सब प्रपंचों को जान लिया है। अब तुम्हारी दाल यहां नहीं गलेगी, इसलिये तुम सब यहां से चलते बनो ॥१॥

भाई, मां-बाप, पुत्र तथा अपने शरीर की भी बात अच्छी नहीं लगती है। अब तो निशि-दिन चेतन पति के दर्शन और उसके स्पर्श की धुन लग रही है। मुझे तो उसी अनुभव—अमृत रस के पान में (पीने में) मग्न रहना है ॥२॥

प्रियतम चेतन के वियोग की वेदना का कोई पार नहीं है। वह वेदना थका देने वाली है। योगीराज कहते हैं कि हे आनन्दघन प्रभु ! आपकी प्राप्ति का मार्ग बड़ा विषम है, इसलिए पार उतरने के लिये ध्यान रूप नौका मांगती हूं। अर्थात् सतत नाम स्मरण की योग्यता प्राप्त हो, जिससे गुण स्मरण सदैव बना रहे ॥३॥

प्रिया प्रलाप—विरह वेदना १८ राग—मालवी गौडी (काफ़ी)

वारी हुं बोलडे मीठडें।
तुझ वाजू मुझ ना सरै, सुरिजन, लागत और अनीठडे। वा०॥१॥
मेरे जीय कुं कल न परत है, विन तेरे मुख दीठडे।
प्रेम पीयाला पीवत पीवत, लालन सब दिन नीठडे॥ वा०॥२॥

पूछूं कौन कहां धुं ढूंढू, किसकूं भेजूं चीठडे।
'आनन्दघन' प्रभु सेजडी पावुं, भागे आन वसीठडे ॥वा०॥३॥*

पाठान्तर—तुझ वाजू मुझ ना सरै = तुझ वाजू मुझ ना सरइ (अ), तुझ वोजे नहिं वीसरै (इ), तुझ वातु मुझ ना सरे (उ i), तुझ वोलें नहिं वीसरे रे (उ ii), तुअ विन मज नहिं सरे रे (व)। मेरे जीय कुंकल = मेरे कुं जीय जक (उ i), मेरे मन कुं जंक (व), मेर मनवा जक (वि)। दीठड़े = मीठड़े (आ)। 'पीवत' आ प्रति में एक ही वार। 'लालन' उ ii में यह शब्द नहीं है। कहाँ धुं = कहां लूं (इ ,उii), कहीं (उ i)। पावुं = पायो (उ ii), पयै (इ)। भागे = भागइ (आ), भांगे (उ i)।

शब्दार्थ - वोलड़े = वोल, वचन। मीठड़े = मीठे। वाजू = प्रत्येक कार्य में सहायक, वाहु, भुजा। सरै = पार पाना, जिसके विना कार्य न चले। सुग्जिन = साधु, आचार्य, सम्वन्धी। अनीठड़े = अनिच्छित, खराव, अनिष्ट। कल = चैन, आराम। दीठड़े = देखें। नीठड़े = कठिनाई से, मुश्किल से। कहाँ धुं = कहां तक। चीठड़े = पत्र, चिट्ठी। सेजड़ी = शय्या। आन = आने वाले, अन्य। वसीठड़े = दूत।

अर्थ—सुमति कहती है—हे मिष्ठ भाषी! मैं तेरे पर व तेरे मीठे वचनों पर वलिहारी हूं। हे ज्ञानघन! तू ज्ञान स्वरूप है, इस लिये तेरा प्रत्येक वचन अत्यन्त मीठा होता है। तेरा यथार्थ स्वरूप जानने के पश्चात्, उसे पूर्णतया अनावरण किये विना चैन नहीं पड़ता। हे स्वजन! तेरी सहायता के विना मेरा कार्य नहीं चल सकता। तेरे वीतराग भाव के अतिरिक्त अन्य रागादि भाव मुझे अनिष्ठकारक लगते हैं ॥१॥

---

*'उ' प्रति में यह पद दो स्थानों पर लिखा हुआ है। प्रथम पत्र पांच पर २६वां पद है, फिर पत्र १५ पर ७६वां पद है। यहां दोनों ही पदों के पाठ दिये गये हैं। २६वाँ पद (उ i), और ७६वां पद (उ ii) है।

हे आत्म स्वामिन् ! तेरा मुख देखे विना मन को चैन नहीं पड़ता है। तेरे प्रेम का प्याला पी-पीकर ही बड़ी कठिनाई से विरह वे सब दिन निकलते हैं, अर्थात् तेरे मिलन की आशा ही आशा में विरह के दिन विताये हैं ॥२॥

सुमति फिर कहती है—वहुतों से पूछ-पूछ कर थक चुकी हूं, अब कहां तक पूछती (प्रश्न करती) रहूं, किस ठिकाने (स्थान पर) तलाश करूं, किसके द्वारा पत्र भेजकर खोज करूं ? हे आनन्द के घन स्वामी आत्म प्रभु ! आपकी असंख्यात प्रदेश रूप शय्या प्राप्त हो जावे तो अन्य दूतों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी ॥३॥

विशेष—योगीराज ने इस पद में वहुत वड़े रहस्य का उद्-घाटन कर दिया है। उनका कहना है कि शुद्धात्म स्वरूप प्रकट करने के लिए शुद्ध स्वरूप के प्रति अथवा जिसने शुद्ध स्वरूप प्रकट कर लिया है उससे अत्यन्त प्रेम (लगाव) होना चाहिए। इस उत्कृष्ट प्रेम द्वारा ही निज स्वरूप प्रकट होता है। जैन परिभाषा में इसे प्रशस्त राग कहते हैं। इस मार्ग पर चलने वाले विरले ही हुए हैं। जैन साधु संस्था के नियम वहुत कठोर हैं। वे पतन की ओर जाते हुए व्यक्ति को वचा लेते हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इसीलिए आनन्दघनजी की साधना को कवीर प्रभृति सहजवादी मरमियों की साधना कहा है। वे नवम्वर सन् १९३८ की वीणा मासिक के पृष्ठ १० में आनन्दघन के अनेक भाव कवीर और उनके अनुरागी दादु रज्जव प्रभृति के भावों से मिलते हैं। प्रियतम कह कर प्रेम के जोर से उन पर अपना अधिकार वताना, यति और सन्यासी की वात तो नहीं है। यह सव मरमी सन्तों की वात है

इसी लेख में वे फिर लिखते हैं--"३८वें पद में लोक-लाज छोड़ कर वे नटनागर के साथ मिलना चाहते है। यह भाव भी मरमिया भक्तों का है। ४६वें पद में जो वीर रस की खड्ग-हस्त साधना का रूपक है वह कबीर, दादू आदि के सुरातम (Heroic) अङ्ग के पदों की साधना के साथ खूब मिलता जुलता है। ये बातें अहिंसा परा-यण जैन साधुओं की नहीं हैं," इत्यादि बहुत से विचार उन्होंने व्यक्त किये हैं।

इस मार्ग का सर्वप्रथम दर्शन गणधर गौतम के चरित्र से होता है। उन्हें सहजात्म-स्वरूप परम गुरु भगवान् महावीर के शरीर पर अत्यन्त मोह था। भगवान् उन्हें बार बार चेतावनी देते थे, देह के प्रेम से विलग रहने का उपदेश करते थे। गौतम उस प्रेम के आगे मुक्ति की भी अवगणना करते थे। सारे जैन वाङ्मय में यह प्रसंग अद्भुत व अद्वितीय है। भागवतकार ने गोपी प्रेम को खूब विस्तृत किया पर जैन वाङ्मय में यह गौतम स्वामी के अद्भुत प्रेम की चेष्टा दिखाई नही पड़ती। जैन साधु संस्था के नियम अत्यन्त कठोर हैं। मनुष्य का पतन होते देर नहीं लगती, इसी दृष्टि को मुख्य रख कर सब नियम बनाये जाने की कल्पना बहुत से करते हैं। जैन साधु संस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अधिक स्थान नहीं मिला है। इसी कारण सन्त परम्परा अधिक पनप न सकी। आनन्दघन जी, चिदानन्द जी आदि सन्त साधु संस्था से प्रायः दूर ही रहे। जैनियों में अनेक सम्प्रदाय हो चुके। सन्त-मानस वाड़े बन्दी के घेरे में न रहकर लोक कल्याण ही की भावना भाते है। इसलिए साम्प्रदायिक लोगों का सहयोग उन्हें

नहीं मिलता या कम मिलता है। आजकल जैन जनता या तो वाह्य क्रिया काण्डों में लगी हुई है या कुछ व्यक्ति शुष्क ज्ञान में लीन हैं। महान् तत्त्ववेत्ता श्री देवचन्द्र जी लिखते है :—

"द्रव्य क्रिया रुचि जीव डारे, भाव धर्म रुचि हीन।
उपदेशक पण तेहवारे, स्यूँ करे जीव नवीन॥"

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम लक्षणा भक्ति जैनियों में विरल हो गई है। योगीराज आनन्दघन जी ने सब पदों में उसी प्रेम लक्षणा भक्ति का गुणगान किया है।

प्रिया प्रलाप (विरह व्याकुलता) १६ राग—केदारो

भोरे लोगा झूरूं हुं तुम भल हासा।
सलुणे साहब बिन कैसा घर बासा॥भो०। १॥
सेज सुहाली चांदणी राता, फूलड़ी बाड़ी सीतल वाता।
सयल सहेली करै सुख हाता, मेरा मन ताता मुआ विरहा माता॥
॥ भो० ॥ २॥
फिरि फिरि जोवों धरणी अगासा, तेरा छिपना प्यारे लोक तमासा।
उचले तन तइ लोहू मांसा, सांइडा न आवे, धण छोडी निसासा॥
॥ भो० । ३॥
विरह कुं भावै सो मुझ कीया, खबर न पावूं धिग मेरा जीया।
हदीया देवूं बतावै कोइ पीया, आवै 'आनन्दघन' करूं घर दीया॥

पाठान्तर—भोरे लोगा = भोरि लगा (उ)। तुम = तुम्ह (आ)। सलूणे = सलुने (अ, इ)। साजन = साजण (आ)। विन = विण (आ)। कैसा = केहा (इ)। सेजं = सेझ (इ)। सुहाली = सुंहाली (इ, उ)। फूलडी= फूलनी (अ, इ), फूलरे (उ)। सयल = सयली (आ)। सुखहाता = सुहातां इ), सुखहीता (उ)। ताता = तांता (आ)। मुआ = मुया (उ)। जोवों = जोवुं (इ, उ)। तेरा = तेरे (अ)। छिपना = छिपणी (इ)। उचले = नवले

(इ, उ)। तइ = ने (अ), ते (इ, उ)। लोहू = लोही न (इ, उ)। आवै = आवो (अ)। छोडी = तजी (अ)। निसासा = निरासा (आ)।

नोट - 'उ' प्रति में तीसरे पद का अन्तिम चरण इस प्रकार है—(i) सांई नावे धण छोड़ि निरासा, (ii) सांईडा न आवै घरणी छोडी निरासां। विरह = विरहा (अ)। खबर = खबरि (आ)। पावूं = पावों (आ), पावो (अ), पावां (इ)। मेरा = मोरा (उ)। हदीया = दहीवा (इ), देवों (आ)। नोट—'उ' प्रति में 'घर' शब्द नहीं है।

शब्दार्थ—झूरूं = दुख से व्याकुल होना, सूखना। हासा = हँसो। घरवासा = गृह वास, गृहस्थी। सुहाली = सुहावनी। फूलडी = फूलों की। वाडी = बगीचा, बाग। सयल = सब। सुख हाता = सुख हाथ में करना। तता = तप्त गरम। मुआ = मुर्दा, एक गाली। माता = मतवाला, मोटा। जोवों = देखती हूँ। धरणी = धरती। उचले = उबलते हैं, औटते हैं। सांइडा = स्वामी। धण = स्त्री। धिग = धिक्कार है। जीया = जी, मन, हृदय। हृदया देवूं = हृदय से लगाऊं, छाती से चिपकाऊं। घर दीया = घर में दीपक जलाऊं, खुशी मनाऊं।

अर्थ—शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा के विरह में सुमति कहती है हे भोले लोगो! स्वजन स्नेहीओ! तुम भले ही मेरी हंसी (मजाक) करो, मै तो दुःख से व्याकुल हूं। सलोने साजन (चेतन) बिना घर में रहना किस काम का? मेरी गृहस्थी किस काम की? बिना स्वामी के भी गृहस्थी होती है क्या? ॥१॥

उद्दीपन साधन सब मौजूद है—चांदनी रात है, पुष्प वाटिका है, मंद-मंद शीतल पवन बह रही है, सुन्दर सुहावनी शय्या बिछी हुई है, सब सखियें मन बहलाव (मनोरंजन) तथा स्वस्थ करने का प्रयास कर रही हैं। चेतनजी के आने के लिए सब आकर्षक सामग्री है। लेकिन उनके न आने से उनके विरह में मतवाला मेरा मन तप्त हो रहा है, जल रहा है ॥२॥

वारंबार पृथ्वी और आकाश को देख रही हूं। हे प्रिय स्वामी ! तेरा नेत्रों से ओझल रहना मेरे लिए दुखदाई हो गया है तथा लोक में मैं हँसी मजाक का कारण बन गई हूं। स्वामी के न आने से लोग यह कहकर हँसी उडाते है कि इस स्त्री को पति ने छोड़ दी है, इससे शरीर में रक्त, मांस उबलता है और निश्वासा उठती है ॥३॥

विरह को जो अच्छा लागा, वैसी दशा उसने मेरी करदी। मेरी इस अवस्था की आपको खबर भी न पहुँचे तो मेरे जीवन को धिक्कार है। मेरे प्रियतम का कोई पता ठिकाना बता देवे तो मै उसे छाती से लगा लूँ। अत्यन्त आनन्द के समूह रूप मेरे स्वामी (चेतन) आवे तो घर में दीपावली जगाऊँ ॥४॥

प्रिया प्रलाप–विरह व्याकुलता २० राग–केदारो

मेरे मांझी मजीठी सुण इक वाता, मीठडे लालन विन न रहुं रलियाता ॥ मेरे० ॥ १ ॥

रंगत चूनडी दुलडी चीडा, काथ सुपारीरु पान का वीडा।
मांग सिंदूर संदल करै पीडा, तन कठडा कोरे विरहा कीडा ॥मेरे०॥ ॥२॥

जहां तहां ढूंढूं ढोलन मीता, पण भोगी भंवर विन सब जग रीता।
रयण विहाणी दीहाडा बीता, अजहुं न आये मुझे छेहा दीता ॥मेरे०॥ ॥ ३ ॥

नवरंगी फूंदे भमरली खाटा, चुन चुन कलियां विछावो वाटा।
रंग रंगोली पहिनुंगी नाठां, आवै 'आनन्द घन' रहै घर घाटा ॥मेरे०॥ ॥ ४ ॥

पाठान्तर– मेरे = मारी (इ), मेरो (उ)। मांझी मजीठी = माझीठी (आ) माझ मजेठी (इ), मांझ मझीती (उ)। इक वाता = ए वाता (अ), इक वात (इ), एक वाता (उ)। रलियाता = रलियात (इ)। रंगत = रंगित (आ)। चीडा = वीडा (अ)। काथ = काथा (उ)। सुपारी = सोपारी (इ.उ)। रु =

अरु (इ.उ) । मांग = माग (आ), मांगि (अ.इ)। संदल = सदल (अ.इ)। करै = करइ (आ) । विरहा = विरह का (उ) । जहाँ तहाँ = जिहाँ तिहाँ (उ) । ढूंढू = ढुंढु (आ), ढूंढ ढंढ़ोलन (अ), ढूंढु ढोलन (उ)। पण = पाणि(आ), पिण (इ,उ) । भंवर = भमर (इ.उं) । जग रीता = जुंग वरीता (आ) । रयण विहाणी = रयनी विहानी (अ.इ) । दिहाडा = दिहाडी (उ) । आये = आवइ (आ), आए (अ), आवै (इ) । मुझ = मुहि (इ) । नवरंगी = नवरंग (इ. उ) फूदे = फूंदे(आ) । भमरली = भमरीली (आ) । खाटा = खाट (इ) । विछावो = विछावुं (इ), विछाउं (उ) । वाटा = वाट (इ), वाटां (उ) । पहिनुंगी = पहिनुंचुंगी (अ), हूँ पहिरुंगी (उ, । नाठां = वाटां (अ), वाट - (इ) नाटा (आ) । आवै = आवड (आ), आवें (अ) । रहै = रहइ (आ), रहे (उ) । घाटा = घाट (इ), थाट (उं) खाटा (उ।।) ।

शब्दार्थ- मांझी = केवट, नाव खेने वाला, मध्यस्थ । मजीठी = मजीठ के समान पक्का लाल रंग, परिपक्व । रलियाता = प्रसन्नता पूर्वक । चीडा = रंगत विशेष । काथ = कत्था । संदल = चंदन । काठडा = काष्ठ, कठहरा । कोरे = कुरेदत है, छेदता है । पण = पर, परन्तु । भंवर = पौत्र का प्यार का नाम यहाँ पति के अर्थ में प्रयुक्त है । रयण = रैन, रात्री । रीता = शून्य, खाली । विहाणी = वीत गई, समाप्त हो गई । दिहाडा = दिन । वीता = व्यतीत हो गये, समाप्त हो गये । छेहा = वियोग । दीता = देने वाले । नवरंगी = नो रंग की । फूंदे = फूंदे लगी हुई । भमरली = खाट की बनावट विशेष । वाटा = आंगन, मार्ग । नाठां = कठिनता से प्राप्त । घर घाटा = ठोर ठिकाना ।

अर्थ—समता अनुभव से कहती है—मेरी जीवन नौका को खेने वाले, पक्के सुन्दर लाल वर्ण वाले अनुभव मित्र ! यह वात अच्छी तरह से सुनले, मैं अत्यन्त प्रिय प्रीतम (चेतन) के विना प्रसन्न नहीं रह सकती ॥ १ ॥

यह चूनड़ी व दुलड़ी रंगत के वस्त्र, कत्था, सुपारी और पान का वीड़ा, मांग की सिंदूर और चन्दन का लेप—ये सव मुझे पीडा (दुख), देते है क्योंकि शरीर रूपी काठ को विरह रूपी कीड़ा कुरेदता है । (चेतन के वियोग में सव दुखदाई है) ॥ २ ॥

मित्र की खोज में इधर उधर जाती हूं किंतु आनन्द भोगने वाले स्वामी के विना सब संसार सूना लगता है। अनेक रात्रियें वीत गई और दिन पर दिन वीत गये किन्तु मुझे छेह देने वाले–वियोग देने वाले आत्म-भरतार अभी नहीं आये हैं। (अभी तक चेतन से मेरा मिलाप नहीं हो रहा है) ॥ ३ ॥

नोरंगी फूंदे लगी हुई भरमली खाट बिछी हुई है। फूल की कलियें चुन चुन कर आंगन व मार्ग में विछा रखी है। यदि मेरे अनन्दघन स्वामी आ जावें और अपने स्थान पर रहें तो में रंग विरंगे वस्त्र पहिरूंगी अर्थात आनन्द में रहूंगी ॥ ४ ॥

विशेष—इस पद में योगीराज आनन्दघन जी ने यह प्रतिपादन किया है कि जीव वहिरात्म भाव व अन्तरात्म भाव को समझ कर अपनी कषाय परिणती से सावधान रहते हुए कभी कभी अन्तरात्म भाव भावे तो वह सुधर सकता है। यह स्थिति भी कोई निराशाजनक नहीं है।

प्रिया प्रलाप, सखि के प्रति २१ राग–गौडी

देखौ आली नटनागर के सांग।
औरही और रंग खेलत ताते फीकी लागत मांग ॥दे०॥१॥
उरहानौ कहा दीजै बहुत करि, जीवत है इहि ढांग।
मोहि और बिच अन्तर एतो, जेतो रूपै रांग ॥दे०॥ ॥२॥
तन सुधि खोइ घूमत मन ऐसे, मानु कछु खांई भांग।
ऐते पर "आनन्दघन" नावत, कहा और दीजै बांग ॥दे०॥३॥

पाठान्तर—के सांग = को संग (इ), को रंग (उ)। और ही = अे रही (आ) ओरही ओर ही (इ), ओरही ओर (उ)। 'इ' प्रति में रंग शब्द नहीं है। ताते = ताते इ (आ), तात (उ)। मांग = अंग (इ), सांग (उ)। उरहानौ = ओरहनो (इ), उरहानो (उ)। जीवत = जीजत (आ), जीते (अ), जीयत (उ)। ढांग = ढंग (इ)। मोहि = मोरे (इ)। विच = विचि (आ) चित (अ)।

रूपै = रूपइ (उ) रांग = रंग (आ,इ, उ)। सुधि = सुध (इ, उ)। खोइ = खोय (इ) घूमत = घुमत (आ)। अैसे = अइसै (अ)। मांनु = मानुक (उ)। नावत = रावत (उ)। कहा''''वांग = कहा और दीजइ वांग (आ), और कहा कोउ दीजै वांग (इ), कहो ओर दीजै वांग (उ)।

शब्दार्थ—नट = गा बजाकर और नाना प्रकार के भेष बनाकर खेल तमाशा दिखाने वाला। नागर = नागरिक, शहरी, चतुर। सांग = स्वाँग, वेशभूषा, भेप। मांग = इच्छा, स्त्री के मस्तक में केशों के बीच का स्थान। उरहानी = उपालम्व। ढांग = ढंग। रूपै = चांदी। रांग = कलई, रांगा। वाँग = पुकार।

अर्थ—सुमति अपनी सखि (श्रद्धा) से कहती है–हे सखि! मेरे स्वामी चेतन की नागरिक वेशभूषा तो देखो, उस चतुर नट ने नगर निवासी का भेप बनाकर और ही और रंग (विभाव दशा) में वह रम रहा है, अपने स्वरूप की ओर नहीं देखता, इसलिये इसकी (चेतन की) सब माँगे-इच्छायें फीकी लगती हैं अर्थात खराव है ॥१॥

यह मेरा स्वामी सबका मालिक होकर भी इच्छाओं का दास बना हुआ है। इसको वार-बार कहां तक उपालम्व देती रहूं—कहां तक सावधान–सचेत करती रहूं। यह इसी भाँति जीवन यापन करता है। इसने तो इच्छाओं के ढेर लगा रखे है, जो कैसे पूर्ण होंगे? इसीलिये तो मैं कहती हूं कि मेरे और अन्य (माया) के मध्य इतना अन्तर है जितना चांदी और रांगा में है ॥२॥

मुझको किसी सांसारिक भोग की आवश्यकता नहीं, मैं तो चेतन को कामना रहित निज स्थान की ओर लेजाने वाली हूं किंतु यह (चेतन) माया के चक्कर में शरीर की सुध-बुध खोकर घूमता है–

मस्त होकर फिरता है मानों भांग पीकर मतवाला (पागल) बन गया हो। (जीवात्मा ने अनादि काल से मोह रूपी भांग पी रखी है जिससे चारों ओर संसार में भटक रहा है) इतना समझाने पर भी यह नटनागर (चेतन) अपने स्वभाव में नहीं आता है तो फिर इसे जागृत करने के लिए किस प्रकार से बांग दी जावे – किस प्रकार पुरजोर सचेत किया जावे।

प्रिया प्रलाप, मिलनोत्कंठा २२ राग–सोरठ

मौने मिलावोरे कोइ कंचन वरणो नाह।
अंजन रेख न आंखड़ी भावै, मंजन सिर पड़ो दाह ॥मौ०॥१॥
कोण सयण जाणे पर मननी वेदन विरह अथाह।
थर थर देहड़ी धूजै म्हारी, जिम वानर भरमाह ॥मौ०॥२॥
कोइ देह न गेह न नेह न रेह न, भावै न दुहड़ा गाह।
'आनन्दघन' वाल्हा बाहड़ी साहवा निस दिन धरू उमाह ॥मौ०॥३॥

पाठान्तर—मौने = मोनइ (आ), मुने (उ)। 'इ', 'उ', प्रतियों में 'मिलाओ' के आगे 'रे' नहीं है। अन्तिम शब्द नाह के आगे 'रे' है। कोइ = कोई (अ); 'इ', 'उ' प्रतियों में इस स्थान पर 'कोई' शब्द नहीं है। वलिक 'मौने' शब्द के आगे 'कोय' शब्द है। रेख = रेखा (इ,उ)। 'न' शब्द 'अ' प्रति में नहीं है। आँखड़ी = आंख न (इ), आंखड़ी न (उ)। 'भावै' शब्द के आगें 'आ' प्रति में 'मोनइ' और है। दाह = थाह (अ), दाह रे (इ), वाहरे। सयण=सजन (अ), सैन (इ), सेण (उ)। जाणे = जाणइ (आ)। थरथर..... म्हारी = थरथर थरथर देहड़ी धूजइ माहरी (आ)। थरथर धूजै देहड़ी मारी। (इ) भरमाह = भरमाह रे(इ, उ)। कोइ....रेह न = देह न नेह न गेह न रेह न(इ), कोइ देह न गेह न, रेह न नेह न (अ. उ)। भावै = भावइ (आ)। दुहड़ा गाह = दूहा गाह (इ), ही यह मांहि (उ)। वाल्हा=वाला (अ), वालो (इ), बाहलो

(उ)। वाहडी = वांहिडी (अ), वांहडी (इ, उ); साहवा = साहिवा (अ)। झालै (इ)। उमाह = उच्छाह (अ), उछाह (इ), उमाहि रे (उ)।

शब्दार्थ—कंचन = सोना, स्वर्ण। वरणो = रंग वाला। मंजन = स्नान। दाह = जलन। भर माह = माघ मास में, खूब ठंड में। गेह = घर। दुहडा = दोहा छंद। वाल्हा = प्रिय। वाहडी = हाथ। साहवा = पकडना, सम्भालना।

अर्थ—अपने स्वामी (चेतन) के विरह से व्याकुल सुमति कहती है कि कुन्दन (सबसे बढ़िया स्वर्ण का रूप) के समान सुन्दर वर्ण वाले मेरे स्वामी से मुझे कोई मिला देवे तो मैं उसका अत्यन्त आभार मानूंगी। स्वामी (चेतन) के विरह में आंखों में काजल की रेखा नहीं सुहाती है। (काजल) आंखों में आंसुओं से ठहरता ही नहीं है। स्नान के सिर तो आग लगे, अर्थात् स्नान जलन पैदा करता है ॥१॥

विरह की पीड़ा (दुख) अगाध होती है। कोई सज्जन ही (भुक्त भोगी) दूसरे के दिल की व्यथा को समझ सकता है। जिस प्रकार माघ मास के शीत में वन्दर कांपते हैं उसी प्रकार मैं भी कांपती हूं ॥२॥

मुझे अपनी देह की, घर की, स्नेही जनों की कुछ भी सुध-बुध नहीं है और न मुझे दोहे और गाथा आदि काव्य ही अच्छे लगते हैं। अति आनन्द के समूह प्राण प्रिय प्रभु मेरा हाथ सम्भाल लें—पकड़ लें तो मेरी सब व्यथा जाती रहे और उत्साह व आनन्दपूर्वक मेरे रात दिन व्यतीत होवें और मन में अत्यन्त उल्लास वना रहे ॥३॥

मिलन अभिलाषा २३ राग–सोरठ

मोने माहरा माधविया नै मिलवानो कोड ।।
मोने माहरा नाहलिया नै मिलवानो कोड ।।
हूँ राखु मांडी कोई बीजो मोने विलगो झोड ।। मो० ।। १ ।।
मोहनियां नाहलिया पाखै माहरे, जग सवि उजड जोड ।
मीठा बोला मनगमता नाहज विण, तन मन थाओ चोड ।।
मो० ।।२।।
कांई ढौलियो खाट पछेडी तलाई, भावै न रेसम सौड ।
अवर सबै माहरे भला भलेरा, माहरे 'आनंदघन' सिर मोड़ ।।
मो० ।। ३ ।।

पाठान्तर—मोने = माहरा नाहरा (उ) । माधविया = नाहलिया (अ उ) । 'उ' प्रति में 'राखु' शब्द नहीं है । बीजो = वीज ओ (आ) वीजू (अ), 'उ' प्रति में यह शब्द नहीं है । मोने = मोनई (आ), मौनो (इ), मुने (उ) । विलगो वलगो (आ), विलगै (इ) । नाहलीया = नाहली (अ) । माहरे = माहरइ (आ) मारै (इ) । नाहज=नाहजी (अ) नाहूजी (उ) । विणु=वीणु (अ,इ) विण=(इ), वणु (उ) । थाओ=थाअ (इ), थाये (उ, ब, वि) । ढोलियो=ढोलांओ (अ) । पछेडी = पसेडी)अ), पछेवडी (उ) । माहरे = माहरइ (आ), म्हारे (अ) । भला = भलारे (अ उ), 'इ' प्रति में यह शब्द नहीं है । माहरे = म्हारे (अ), 'इ' प्रति में यह शब्द नहीं है ।

शब्दार्थ—नाहलियानै = नाथ से, स्वामी से । कोड = चाव, उत्साह । मांडी = लिखकर, बनाकर । बीजो = दूसरा । विलगो = पृथक होना, अलग होना । झोड = झगडा । नाहज = स्वामी । पाखै = पास । उजड जोड = उजाड तुल्य, सूनसान समान । चोड = पीडा । ढोलियो = पलंग । पछेडी = पछेवडी, ओढने का वस्त्र, पीछे का पर्दा । तलाई = नीचे बिछाने की गद्दी ।

सौड = ओढने की रुई भरी हुई मोटी रजाई। अवर = अन्य, और, दूसरा। भला भलेरा = भले ही भले है। सिरमौड = सिरमोर, सिर का मुकुट।

अर्थ—विरह अवस्था में विरहणी को कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। विरहणी सुमती कहती है—मुझे मेरे स्वामी से मिलने का बड़ा चाव है। 'उत्कट अभिलाषा है'। मैंने अपने द्वार पर लिख रखा है कि कोई भी दूसरा झंझट डालने वाला मेरे से दूर रहे, अर्थात् आत्मस्वरूप सिवा मैं दूसरी वातों से अलग हूं—अन्य सब वातें मुझे झंझट भरी लगती है। अत: विभाव की वातें करने वाले मेरे से अलग रहें ॥१॥

मनमोहन पतिदेव के मेरे पास न होने पर सब संसार उजाड़ (सूनसान) जंगल के समान लगता है। मिष्टभाषी मन भावन (चेतन) के विना मेरे तन-मन दोनों को चोट लगती है—पीड़ा होती है ॥२॥

पलंग, खाट, पछेवड़ी, विछावनी (शय्या) तथा रेशम की सोड कुछ भी (उपभोग सामग्री) अच्छे नहीं लगते है। मेरे लिये सब ही वस्तुयें, सब ही जीव सब ही मनुष्य भले ही भले हैं किन्तु आनंदघन चेतन ही मेरे सिरमोर है अर्थात् सर्वोपरि हैं ॥३॥

प्रिया प्रलाप विरहवेदन २४ राग—कान्हरो

दरसन प्रांन जीवन मोहि दीजै।
विन दरसन मोहि कल न परत है, तलफि तलफि तन छीजै॥
दर० ॥१॥

कहा कहुं कछु कहत न आवत, विन सइयां क्युं जीजै।
सोहु खाइ सखि काहु मनावो आपही आप पतीजे ॥दर०॥ २॥

द्यौर द्यौरानी सास जिठानी, युं ही सबै मिल खीजै।
"आनंदघन" विन प्रान न रहे छिन, कोरि जतन जो कीजे ॥दर०॥

१. पाठान्तर—मोहि = मुहि (इ)। तलफि = तलफ (इ उ)। जीजै = जीजइ (अ), कीजै (उ)। सोहुं=सौहुं (आ), सोहूँ (उ)। सौहुं........मनावो = सम खावो सखि जाय मनावो (इ), सोहुं खाइ सखि काहि मनाऊं (अ), सोहूँ खाइ सखि काहू मनावे (इ)। पतीजै = पतीजइ (अ)। यु'ही सबै = यु सवहि (इ), यु'हि सव ही (उ)। मिल खीजै = मिलि खीजइ (अ)। रहै = रहइ (आ) कोरि = कोर (इ उ), कोडी (अ), कोड (वि)। जो कीजै = जो कीजइ (अ), कर लीजै (इ)।

शब्दार्थ—कल = चैन, आराम। सइयां = पति, स्वामी। सोहु = सौंगन्ध, शपथ। पतीजै = विश्वास करना। खीजै=क्रोध करना, झुञ्झलाना। छिन = क्षणभर। कोरि = कोटि, करोड।

अर्थ– हे जीवनधन ! मुझे शीघ्र दर्शन दीजिये। आपके दर्शन बिना (देखेविना) मुझे तनिक भी चैन नहीं पड़ता है। तड़फ तड़फ कर मेरा शरीर क्षीण होता जा रहा है ॥१॥

पति के बिना स्त्री किस तरह जी सकती है, यह भेद मैं किससे कहूं। मैं तो समभाव में रहने वाली हूं; मुझे कहने का ढंग–वात वनाने की चतुराई भी नहीं है। हे सखि (श्रद्धा) अब मैं सौंगंध खाकर किसे मनावु ! वे (मेरे स्वामी चेतन) मेरे पास कभी आते ही नहीं। पहिले अनेक बार सौंगन्ध खाकर मना चुकी हूं, बार बार कह चुकी कि आपके बिना मेरा जीवन दूभर (कठिन) है। पर मेरे कहने से उन्हें विश्वास ही नहीं होता, उन्हें तो स्वयं अपने आप ही पर विश्वास होता दिखाई पड़ता है ॥२॥

समता की यह हालत देखकर मैत्री भावनारूपी सासु, वैराग्य-रूपी देवर, ऋजुता रूपी देवरानी और प्रमोद भावना रूपी जिठानी सब मिलकर समझाती हैं, समझाने का कुछ प्रभाव न होने पर कुछ नाराज (क्रोधित) भी होती है। इनका नाराज होना व्यर्थ है। ये

लोग चाहे करोड़ों उपाय करें मेरे प्राण तो स्वामीनाथ आनंदघन के विना अव नहीं रह सकते ॥३॥

विशेष—कवि ने यहाँ वहुत महत्वपूर्ण वात कही है। कवि की चेतना शक्ति आत्म-दर्शन के लिये अत्यन्त व्याकुल है। वह मैत्री प्रमोद आदि भावनायें भाते हैं अर्थात् भावनाओं में लीन रहते हैं, नाना प्रकार की समस्याओं से शरीर को सुखा डाला है, संसार से विरक्त हैं। रात दिन अनेक उपाय करने पर भी चैतन्यदेव से साक्षात्कार नहीं होता है। तव कवि प्रतिज्ञा करते हैं चाहे प्राण रहे या न रहे मुझे निरंजन देव का साक्षात्कार करना ही है।

कवि योगीराज ने इस पद में इस महान तत्व को व्यक्त किया है—त्याग, वैराग्य, व मैत्री प्रमोद आदि भावनायें आत्म-दर्शन के साधन अवश्य हैं परन्तु इन्हीं में अटक जानेवाला आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकता। श्रीमद राजचंदजी ने इसी तत्व को इस प्रकार कहा है—

"वैराग्यादि सफल तो, जो सह आतम ज्ञान।
तेमज आतम ज्ञान नी, प्राप्ति तणां निदान॥ ६ ॥
त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग विरागमांतो भूले निज भान॥ ७ ॥
ज्यां ज्यां जे जे योग्य छै, तहां समझवुं, नेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन अेह॥८॥ (आत्मसिद्धि)

प्रिय प्रलाप विरह व्यथा २५ राग—कानडो

करेजा रेजा रेजा रेजा।
सांजि सिंगार वणाइ आभूषण, गई तव सूनी सेजा॥करे०॥१॥

विरह व्यथा कुछ अैसी व्यापत, मानु कोई मारत नेजा।
अंतक अंत कहालुं लैगो, चाहै जीव तो लेजा ॥ करे० ॥ २ ॥
कोकिल काम चंद्र चतादिक, दैन ममत है जेजा।
नावल नागर "आनंदघन" प्यारे, आइ अमित सुख देजा ॥ करे० ॥ ३ ॥

पाठान्तर—रेजा शब्द 'आ' प्रति में दो बार ही है। अन्य प्रतियों में पाठ है—करे जारे जारे जारे जारे जा। बणाइ = वणाई (अ), बनाये (इ)। आभूषण = अभूषण (अ), भूषण (इ)। सेजा = सेज्या (इ) लैगो = लेखो (उ)। चाहे = जाहि (उ)। तो = तु (इ)। चूतादिक = आगदिक (उi) भूतादिक (उii)। दैन……जेजा = वे तन मत हैं अैजा (इ), दैन मतन है ले गा (उ) प्यारे = प्यारो (उ)। आइ = आय (इ) आई (उ)।

शब्दार्थ—रेजा रेजा = टुकडे टुकडे। साजि = सज कर, धारण कर। सेजा = शय्या। नेजा = भाला। अंतक = यमराज। चूतादिक = आम्रफलादि। जेजा = जो जो। नवल = नवीन, सुन्दर, युवा। अमित = अपार।

अर्थ—समता सब शृंगार कर और आभूषणों से सज कर (बाह्याडंवर क्रिया रूप शृंगार कर) चेतनराज के पास गई। उन्हें सम भाव रूप शय्या पर नहीं देखा और ममता के पास गया जानकर उसका कलेजा टुकड़े टुकड़े हो गया ॥१॥

इससे उसको (समता को) चेतनराज के विरह का दुःख इस प्रकार हुआ मानो कोई भाला मार रहा हो। अपने स्वामी चेतन की अनुपस्थिति में भी समता उन्हें उद्देश्य कर कहती है—हे स्वामी! मेरे तो आदि, मध्य और अंत सब आप ही हो, इसलिये हे यमराज! मेरा कहाँ तक अन्त लोगे, भले ही तुम मेरे प्राण ले लो किन्तु मुझे दर्शन दो ॥२॥

तुम्हें सुख देने वाली कोयल की कूक, कामदेव, चन्द्रमा की चांदनी आम्र मंजरी तथा अन्य जो भी वस्तुयें आपको आनंदप्रद हैं

(मानव भव स्वस्थ शरीर, उत्तमकुल, आत्मोन्नति वाला धर्म आदि उद्दीपन विभाव) उन सहित आकर हे नवल नागर आनंदघन चेतन-राज, मुझे सुख प्रदान करो। तुम यह मत समझो कि मेरे पास आने से तुम्हें ये सब वस्तुयें त्यागनी पड़ेंगी। मैं तो केवल मायावनी ममता से तुम्हारा छुटकारा चाहती हूं ॥३॥

प्रिया प्रलाप—विरह व्यथा २६ राग-कान्हडो

पिया बिन सुधि बुधि भूली हो।
आंखि लगाइ दुख महल के, झरोखै झूली हो ॥पिया० ॥१॥

हंसती तबहु विरानियां, देखी तन मन छीज्यो हो।
समुझी तब एती कही, कोई नेह न कीज्यो हो ॥ पिया० ॥२॥

प्रीतम प्रान पती बिना, प्रिया कैसे जीवै हो।
प्रान-पवन विरहा-दशा, भुअंगनि पीवै हो ॥ पिया० ॥३॥

सीतल पंखा कुमकुमा, चन्दन कहा लावै हो।
अनल न विरहानल यहै, तन ताप बढावै हो ॥ पिया० ॥४॥

फागुन चाचरि इक निसा, होरी सिरगानी हो।
मेरे मन सब दिन जरै, तन खाक उड़ानी हो ॥पिया०॥५॥

समता महल विराज है, वाणी रस द्वै जै हो।
बलि जाउ 'आनन्दघन' प्रभु, ऐसे निठुर ह्वै जै हो ॥पिया०॥६॥

पाठान्तर—बिन = बिनु (अ-इ)। आंखि = आंख (इ-उ) लगाइ=लगाय (इ-उ)। महल कै = महल कइ (अ), महिल कइ (इ-उ)। तवहु=तवह (आ)। समुझि = समझा (उ)। एती = अैसी (इ-उ)। प्रीतम = पीतम (आ)। प्रिया = पिया (आ अ), प्रीया (इ), पीया (उ)। भुअंगनि भुयंगिनी (अ), भूयंगम (इ-उ)। सीतल = शीतल (अ) कहा लावै = कहां लावइ (अ)। विरहानल = विरहान है (उ)। चाचरि = चाचर (इ-उ)। सिरगानी=सिरगानी (आ), सिरनानी (उ)।

खाक = खाख (इ-उ)। महलु=नहिले (प्र)। विराज=त्रराज (आ)। द्वैजैं=ह्वैं जै (आ), रेजा हो (उ) (ज्ञानसार जी महाराज टव्वाकार)। ह्वैं जैं=हैजा (उ)। 'इ' प्रति में अंतिम पंक्तियां नहीं है।

शब्दार्थ—हँसती=मजाक करती थीं। विरानियां=अन्य स्त्रियें, सौतें छीज्यो हो=क्षीण हो गया। प्राणपवन=प्राण वायु। भुअंगनी=सर्पणी। कुमकुमा=गुलावजल आदि सुगंधित जल से भरापात्र। अनल=अग्नि। विरहाग्नि =जुदाई की आग। चाचरि=चाचर नाम गायन गाने वाले।

अर्थ—(विरहावस्था में होने वाली दशा का वर्णन) समता कहती है–हे श्रद्धे! चेतन पति विना अपनी सुध बुध भूल गई हूं। अपनी सार संभाल रखना भी भूल गई हूं। पति वियोग से दुखित मै अपने दुख रूपी महल से अपने स्वामी को देखने के लिये दृष्टि लगाये हूं परन्तु वे दिखाई नहीं देते हैं इसलिये झरोखे (बरामदे) में जाकर देखती हूं अर्थात् पति वियोग रूपी दुःख महल के झरोखे से टकटकी लगाये भूल रही हूं ॥१॥

श्री ज्ञान सारजी महाराज ने इस पद पर टव्वा (टीका) लिखा है, उसके अनुसार अर्थ सारांश में इस प्रकार है—

सुमती अपनी सखी श्रद्धा से कहती है—'हे सखी' चेतनराम मेरे स्वामी अशुद्धोपयोगी आत्मा से मुझे मिलना उचित है या नहीं? इस धार्मिक विचार से मैं रहित हो गई। यहां पर यह प्रश्न होता है कि जिसका नाम ही 'समता' है अथवा जो सुमति है वह अपने को कैसे भूल गई? जव वही भूल जाती है तो उसका नाम 'समता' युक्ति युक्त नहीं कहा जा सकता? इसका स्पष्टीकरण करते हुये वे कहते हैं—अशुद्धोपयोगी अत्मा के संयोग से मैं सुबुद्धि की कुबुद्धि हो गई। पति के विदेश गमन रूप वियोग दुःख के झरोखे में अश्रुपात करके उसमें स्नान कर लिया। विदेश गमन यहाँ पर परपरिणति रमण, चिन्तवन समझना चाहिये। अशुद्धोपयोग में प्रवर्तन

को अश्रुपात समझना चाहिये। अश्रुपान में मै झूल गई अर्थात् इतने अश्रु गिरे कि आँसुओं से मैं झूलसी पड़ी अन्यथा सुबुद्धि को रोने से क्या वास्ता ? किन्तु शुद्धोपयोगी आत्मा के वियोग में मैं अपनी सुध बुध भूल गई।

टव्वाकार का यह अर्थ विचार ने जैसा है। यहां सुमति पति के साथ एकाकार होकर अपनी सुध बुध खो बैठती है। पति पर परिणति में रमण करते हैं। अशुद्ध उपयोग में प्रवर्तन करते हैं इससे सुमति दुःख महल के झरोखे में झूलकर अपने आपको भूल जाती है ॥१॥

हे श्रद्धे ! पहिले जब मुझे शुद्ध चेतन रूप पति का वियोग नहीं था, उस समय मैं यह नहीं जानती थी कि वियोग का दुःख कितना होता है। इसलिये पति वियोग से दुखित अन्य स्त्रियों को तन से क्षीण (दुवली) तथा मन से दुखित होती देखकर मैं उनकी हंसी (मजाक) करती थी किन्तु अब शुद्धात्मा के वियोग-दुःख को समझी तो इतना ही वचन मुख से निकला—"कोई कभी भी प्रेम न करो ॥२॥

सुमति कहती है कि मेरे प्राणपति शुद्ध चेतन वे बिना मैं कैसे जी सकती हूं। आर्जव मार्जव आदि दस यति धर्म रूपी प्राणवायु को विरहावस्था रूपी सर्पणी पीती है। ऐसी अवस्था में शुद्ध चेतन के वियोग में सुमति के प्राण कैसे रह सकते ? क्योंकि सुमति शुद्ध चेतन विना कहां से आ सकती है ॥३॥

हे सखी ! शीतलोपचार, खस का पंखा, सुगन्धित गुलाब-केवडा जल, बावना चंदन आदि क्यों लगाती है। अरे भोली, यह दाह ज्वर नहीं है। यह तो मदन ज्वर है। ये पंखे आदि सुगन्धित शीतल पदार्थ तो प्रीतम की याद दिलाने वाले हैं। इसलिये ये तो काम ज्वर की वृद्धि के हेतु है। इसलिये हे सखि इनका प्रयोग न कर ॥४॥

योगीराज ने इस पद में अद्भुत प्रकार से व्यवहार दृष्टि द्वारा निश्चयका पोषण किया है। श्री ज्ञानसार जी महाराज ने इस पद के

टब्बे (टीका) में शीतलोपचार को यथाप्रवृत्तिकरण में गिना है और ये उपचार चालू रहे तो अपूर्वकरण भी आवेगा । तात्पर्य यह है कि अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण तक विरह काल है उसके पीछे नियम से अपूर्वकरण आता है जिसमें राग द्वेष की ग्रंथी का भेद हो जाता है और अनवृत्तिकरण में आत्मा का मिलाप हो जाता है । आत्मा का मिलाप ही सम्यक्त्व प्राप्ति है । फिर चारित्रका विरह होता है ॥४॥

फाल्गुन के मस्त महीने में चाचर गाने वाले एक रात्रि में होली जलाते है किन्तु मेरे मन में तो प्रतिदिन होली जलती रहती है और शरीर की राख (खाक) उडती रहती है ॥५॥

श्री ज्ञानसारजी महाराज अपने टब्बे में कहते हैं—सुमति कहती है—हे चाचर गाने वालो ! तुम्हारे तो होली जलाने का दिखावा मात्र है, पर पति विरह में मेरे तो रातदिन होली सुलगती है। इसलिये शुद्ध स्वरूप चिंतवन रूप मेरा शरीर जलकरराख हो गया है और वह राख भी उड़ गई, रही नहीं, अर्थात् सुमति की कुमति हो गई ।

टब्बाकारने 'राख भी नहीं रहीं' यह अर्थ करके रूपक को सांगोपांग बना दिया है ।

सुमति कह रही है-हे आनंदघन प्रभु आप ऐसे निष्ठुर मत होवो, मेरे महल में बिराजकर-बैठकर अपनी वाणी का रस तो देवो अर्थात् मुझ से बातचीत तो कीजिये । मैं आप की बलिहारी जाती हूं—मै अपने आपको समर्पण करती हूं ॥६॥

छठे पद का अर्थ श्रीज्ञानसारजी महाराज ने इस प्रकार किया है—"सुमति कहती है- 'हे श्रद्धा मुझ मति के महल में शुद्धोपयोगी आत्माराम आकर विराजेंगे तब मैं मति की सुमति हो जाऊंगी । जब तक मैं मति थी मेरा चतुर्गति रूप महल था और जब

में मति से सुमति हुई तब शुद्ध स्यादवाद मतानुनायी चरित्र द्वार प्रवेश मुक्ति महल विराजमान एक अरिहंत, दूसरे सिद्ध, उनमें यहां केवल अरिहंत का कथन है। उन अरिहंत की वाणी रस के रेजा अर्थात् तरंग ऐसे आनंद के समूह प्रभु की मैं वलइयां लेती हूं। अब आप पहले जैसा वर्णन किया वैसे अशुद्धोपयोगी मत होना।*

अत्यन्त विरह, तथा प्रिय मिलन की पृच्छा व ज्योतिषी का धैर्यदान

साखी-- २७ राग-गोडी-जकड़ी

राशि शशि ताराकला, जोसी जोइन जोस।
रमता समता कब मिलै, भागै विरहा सोस ॥

पिय विण कोन मिटावेरे, विरह व्यथा असराल ॥

नींद निमाणी आंखितेंरे, नाठी मुझ दुख देख।
दीपक सिर डोले खडो प्यारे, तन थिर धरै न निमेष ॥पिया०॥१॥

ससि सराण तारा जगीरे, विनगी दामिनि तेग।
रयनी दयन मतै दगो, मयण सयण विणु वेग ॥पिया०॥२॥

तन पंजर झूरइ परयोरे, उडि न सके जिउ हंस।
विरहानल जाला जली प्यारे पंख मूल निरवंश ॥पिया०॥३॥

उसास सासै वढाउ कौरे, वाद वदै निसि रांड।
न मिटे उसासा मनी प्यारे, हटकै न रयणी मांड ॥पिया०॥४॥

---

* टव्वाकार श्री ज्ञानसार जी महाराज का यह टव्वा श्री अगरचंद जी नाहटा द्वारा संपादित 'ज्ञानसार पदावली' के पृष्ठ स. २३६ में है। उनका यह टव्वा श्री आनंदघन जी के केवल चोदह ही पदों पर मिलता है। क्या ही अच्छा होता यदि अधिक पर मिलता।

इह विधि छै जे घर धणीरे, उससूं रहै उदास।
हर विधि आइ पूरी करै, 'आनन्दघन" प्रभु
आस ॥पिया०॥५॥

पाठान्तर—जोइन = जोय नै (इ) रमता=आतम (उ)। कद=किम (उ)। मिलै = मिलइ (अ)। मागै=मागइ (आ-अ)। विरहा = विरही (उ) कोन=कुंण (उ)।मिटावैरे = मिटावइरे (अ-आ)। आंखितैरे = आंखितइरे (आ), आंख तेरे (इ), आंखि ते रे (उ)। देख = देखि (अ,उ)। डोलै = डोलइ (आ)। खडो = खडउ (अ)। प्यारे = प्यारो (आ)। सनि = नखि (बु.)। नराण = निराण (अ), नरिण (क.बु.वि.)। जगी = जगइ (अ)। विनगी = चिनगी (अ.वि)। दामिनि तेग = दामन तेग (आ.बु.)। दामनि तेज (अ)। दाननी तेग (इ)। रयनी दयन = रयन दयन (उ), कूरइ=कूरै (इ.उ)। सकै=सकइ (आ)। जाला=झाला (इ)। पंख = पंखी (इ)। वडाउ = वटाउ (इ.उ)। वाद = याद (बु) वदै = वादै (अ), वेदे (बु.)। निसि रांइ = जो राम (उ)। मनी = ए महि (उ)। हटकै = हटकइ (अ)। इहि..........उदास = इह विधि इछे जे घर धणीरे, उस तइं रहइ उदास (अ), इह विध छै जे घर धणीरे, उस नूं रहे न उदास (इ)। एह विधि इंछै से जे घर धणी रे, कनसूं रहै न उदास (उ) इह विधि इछइ धणीरे उनसुं रहे उदास (आ)। आइ = आय (इ), आऊं (उ)। पूरी पूरुं (उ)। करै = करइ (अ)।

शब्दार्थ—राशि = बारह राशियें मीन, मेष आदि। शशि = चन्द्रमा। कला = अंश। जोत = ज्योतिष शास्त्र। सोन = शोषण। अमराल = भयंकर। निमाणी = लाडली। नाठी = भाग गई। नराण = मंद होना, छिपना। विनगी = विनाग्रहण की हुई। रयनी = रात्रि। दयन = देना। मतै दगो= धोखा (दगा) देने का विचार है। मयण=मयन, कामदेव। सयण = सज्जन, स्वजन, पति। पंजर = पिंजड़ा। जाला = ज्वाला। मूल निरवंश=मूल (जड़) से ही नष्ट हो गई है।

समता, श्रद्धा, अनुभव आदि से अपनी व्यथा कह-कह थक गई और चेतन के वियोग से अत्यन्त दुखी हो गई तब विशिष्ट ज्ञानी पुरुष

(ज्योतिपी) से अपने स्वामी चेतन से मिलाप की वात पूछती है कि चेतन से मेरा कैसे और कव मिलाप होगा।

अर्थ—समता कहती है—हे ज्योतिपी ! तुम अपनी पोथी, पंचाग द्वारा राशिवल, चंद्रवल, व अन्य ग्रहों का अंश वल देखकर वताओ कि मेरे रमता राम चेतन जी मुझे कव मिलेंगे जिससे मेरा यह विरह शोपण दूर हो ॥साखी॥

मेरे प्रिय पति चेतन विना अथाह एवं विकराल विरह व्यथा को कौन दूर कर सकता है। प्राणी मात्र को प्रिय ऐसी लाडली निद्रा भी मेरा दुख देख कर आंखों से जाती रही। दीपक की शिखा के समान मेरा मस्तक इधर उधर भटक रहा है। मेरा शरीर एक क्षण मात्र के लिये भी स्थिर नहीं रहता। इसलिये हे ज्योतिपी जी ! अपना ज्योतिप देखकर वताओ कि पतिदेव (चेतन) का मुझ से कव मिलाप होगा ॥१॥

विशेष—वहुत से ऐसे भी जीव देखने में आते हैं जिनको अध्यात्म रुचि तनिक भी नहीं होती पर वे वहुत गंभीर व समभावी होते हैं, पर जव तक आत्मा का आश्रय नहीं मिलता उन्हें वास्तविक समता नहीं कही जा सकती। व्यक्ति समता युक्त हो, अध्यात्म भी हो, किन्तु आत्मानुभवका आश्रय न मिला हो तो उसमें स्थिरता नहीं आ सकती है।वह दीपक की शिखा समान अस्थिर रहता है।

चन्द्रमा अस्तंगत है, तारे टिमटिमा रहे हैं। विजली तलवार की भांति चमक रही है। अपने स्वजन के विना रात्रि और कामदेव मिलकर, हे प्यारे चेतन स्वामी ! मुझे वेग पूर्वक दगा देने को उद्यत हो रहे है अर्थात् ऐसी कामोद्दीपक सामग्री मुझे प्रियतम की वहुत याद दिला रही है ॥२॥

श्री ज्ञानसार जी महाराज ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—"चंद्रमा छिप रहा है, तारे जगमगा रहे हैं और विजली विना ग्रहण की हुई तलवार से मुझे दगा देने का विचार कर रही है क्योंकि

जो मैं अशुद्ध चेतना हूं तो कामोद्दीपन के कारण कामदेव मेरा सज्जन है किन्तु मैं तो शुद्ध चेतना हूं इसलिये कामदेव मेरा सज्जन नहीं है। अन्धेरी रात, तारा दामिनी तलवार धारण किये हुये मुझे कामोद्दीपन रूप दगा देना चाहते हैं।"

यह हँस रूपी जीव उड़ नहीं सकता क्योंकि तन रूपी पिंजड़े में कैद है। इसलिये इसमें पड़ा पड़ा कष्ट भोग रहा है। विरह रूपी अग्नि की ज्वाला वेग से जल रही है। इस ज्वाला से पंख तो सर्वथा मूल से ही जल गये हैं। इसलिये हे प्यारे चेतन ! मैं तो उड के भी आपके पास नहीं आ सकती हूं ॥३॥

इस पद के अर्थ का सारांश श्री ज्ञानसारजी महाराज के अनुसार यह है—'हे सखि ! मैं शुद्धात्मा से मिलना चाहती हूं किन्तु मिलाप होता न दिखने से शरीर रूप पींजरे में पडा यह जीव अत्यन्त कष्ट पा रहा है।"

श्वासोश्वास बढ़े हुये हैं। ज्यों ज्यों रात बढ़ती है त्यों त्यों श्वास-प्रश्वास की गति भी बढ़ती है। मानो रात और श्वास में परस्पर होड लग रही है। हे प्यारे चेतन ! मनाने पर भी श्वास की तीव्रता नहीं मिटती और लड़ाई ठाने हुये रात पीछे नहीं हटती है ॥४॥

श्री ज्ञान सारजी महाराज के अर्थ का सारांश यह है—

उनका पाठ है–'उसासा से वटाऊ कोरे, वाद वदे निसि रांड।

न मने ऊसा सामनी, हटके न रयणी मांड ॥'

श्वासोश्वास रूप वटाऊ तेज गति से चलने वाले घुमक्कड में व रात्री में वाद चलता है। आत्मा सोपक्रमी आयुष्यवाली है उसकी सातों ही प्रकार से आयु स्थिति टूटने वाली है। चेतना विचारती है कि अन्त समय में शुभ परिणाम होय तो आत्मा से मिलन हो सकता

है परन्तु आत्मा की अशुभ आयु स्थिति पहले ही बंध हो चुकी है, अतः मरण समय अशुभ ही परिणाम आवेंगे। अशुभ परिणामी आत्मा से शुद्ध चेतना का मिलाप असंभव ही है। सात प्रकार के उपक्रम में से कोई भी एक उपक्रम लगा कि आयु स्थिति टूटी। इसलिये श्वासोश्वास को मनाती है किन्तु हठग्राही पन से श्वासोश्वास ने रात्रि में आत्मा को उस गति में नहीं रहने दिया ॥

इस प्रकार जिस का गृह स्वामी अशुद्धोपयोग में रमण करता है, उस स्त्री के भाग्य में सुख कहां ? वह तो पति की स्थिति से उदास रहती है। (फिर भी आशा करती है) आनंद के घन परमानंदी प्रभु (चेतन) स्वभाव रूप निज घर में आकर हर प्रकार से मेरी गुणस्थानारोहण रूप आशा पूरी करेंगे ॥५॥

उपालम्ब **२८** **राग-सारंग**

साखी— **आतम अनुभव फूलकी, नवली कोऊ रीति।**
नाक न पकरै वासना, कान गहै परतीति ॥

अनुभौ नाथ कुं क्युं न जगावै।
ममता संग सुचाइ अजागल थनतै दूध दुहावै ।।अनु०॥१॥
मेरे कहै तै खीज न कीजै, तुंही अैसी सिखावै।
बहुत कहे ते लागत ऐसी, आंगुली सरप दिखावै ॥
अनु०॥२॥
औरन के रंग राते चेतन, माते आप बतावै।
"आनंदघन" की समता आनंदघन वाके न कहावै ॥
अनु०॥३॥

पाठान्तर—रीति = रीत (इ.उ)। परतीत = परतीत (इ.उ)। सुचाई = सुवाइ (आ), सुपाइ (इ), सुहाई (उ), सोपाय (क.बु.वि.)। कीजै = कीजइ (आ)। अैसी = इसी (अ), येसी (उ)। ऐसी = अैसी सी (आ), इसी सी (अ),

एसी (ड)। अंगुलि = अंगुली (क.वु), अँगुली (वि)। सरप = सरग (आ.ड)। औरन..........बतावै = औरन रंगि राते चेतन, माते आप बतावैं (इ), जो औरन के रंग राते चेतन, माने आप बतावै (ड), औरन के संग राचे चेतन, चेतन आय बतावैं (क.वु.वि)। माते.........बतावै = 'माटे आंख बतावै', ऐसा पाठ भी एक प्रति में मिलता है। समता = सुमता। (ड), सुमति (क.वु.वि)। आनंदघन.........कहावै=आनन्दघन की सुमति आनन्दा, सिद्ध सरूप कहावैं (इ.क.वु.वि)।

शब्दार्थ—नवली = नई, नवीन। वासना = गंध। परतीति = प्रतीत, दृढ़ विश्वास। सुचाइ = इच्छा पूर्वक, भली प्रकार। अजागल थन तैं = बकरी के गले के स्तन से। खीज = क्रोध। माते = मतवाला।

अर्थ- आत्मानुभव रूप पुष्प की कुछ नवीन ही रीति है। पुष्प की सुगन्ध नाक को आती है, परन्तु कान को नहीं आती। फिर भी कान अनहत नाद सुनकर प्रतीति करने लगता है कि आत्मानुभव पुष्प खिला है।।साखी।।

कितनी प्रतियों में "कान न गहै परतीत" पाठ है। उसका अर्थ होता है-न कानो को शब्द सुनने से उसकी प्रतीति होती है क्यों कि आत्मा को आंखे देख नहीं सकती, न त्वचा स्पर्श कर सकती अर्थात आत्मा किसी भी इन्द्रिय द्वारा जाना नही जा सकता। यह इन्द्रियातीत है। यह स्वयं के द्वारा जाना जाता है। जैन दार्शनिकों ने इन्द्रिय द्वारा होने वाले ज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है।

जैन विचारकों (दार्शनिकों) ने "सम्यक् दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः" कहा है। यह सूत्र श्री उमास्वाती के तत्वार्थ सूत्रका पहला सूत्र हैं, जिस का अर्थ हैं - सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चरित्र-ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं। कहीं कहीं ज्ञान क्रिया को मोक्ष का साधन कहा है। उसका भी तात्पर्य यही है क्यों कि सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का अन्योन्याश्रित संबंध है।

जहां एक होगा वहा दूसरा अवश्य होगा ये एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते, परन्तु सम्यक् चारित्र के साथ उनका साहचर्य नितांत आवश्यक नहीं हैं। इसलिये संक्षेप में ज्ञान–क्रिया (चारित्र) को मोक्ष का साधन कहा हैं। तप को भी मुक्ति का साधन माना है। इसलिये नवपद में उसे भी स्थान मिला है।

जिस प्रकार दर्शन का समावेश ज्ञान में हो जाता है, उसी प्रकार तप का समावेश चारित्र में हो जाता है। इसलिये संक्षेप में ज्ञान व क्रिया को ही मोक्ष का साधन कहा है। जीव को संसार में फँसाने वाली भी दो ही वस्तुयें हैं, व तारनेवाले भी दो ही वस्तुयें हैं। दर्शनमोह और चरित्रमोह–ये दो जीव को संसार में पारेभ्रमण कराते हैं एवं ज्ञान व क्रिया ये दो तारते हैं। दर्शनमोह दृष्टि को विगाडता है व चारित्रमोह आचार को। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि, यह कहावत प्रसिद्ध है। दृष्टि विगडती है तो सृष्टि–आचरण अवश्य विगडजाता है। उसी प्रकार दृष्टि सुधरती है तो सृष्टि भी सुधर जाती है, चाहे उसमें विलम्ब लगे, पर सुधरती अवश्य है। इसलिये मोह दृष्टि संसार का हेतु है व ज्ञान दृष्टि मुक्ति का हेतु है ज्ञान दृष्टि प्राप्त होने पर क्रिया की शुद्धि आवश्यक है उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान ही मुक्ति का प्रधान हेतु है।

इसलिये सुमति कहती है-हे मित्र अनुभव! आप नाथ को सचेत क्यों नहीं करते। उन्हें ममता का साथ वहुत ही सुहावना लगता है किन्तु उसका साथ वकरी के गले में लटकते हुए स्तनों से दूध निकालने के समान है।

आपके परम मित्र चेतन के लिए मै जो वार-वार यह कहती हूं इससे आप नाराज मत होना, क्योंकि आपने ही यह शिक्षा दी थी कि चेतन के लिए ममता के संग में कुछ सार नहीं है। मैं तो

चेतनजी (स्वामी) को अनेक वार कह चुकी हूं तो सर्प को अंगुली दिखाने तुल्य, उन्हे अत्यन्त अप्रीतिकर लगता है ।।२।।

अन्य विजातीय पदार्थो में चेतन रस ले रहा है यह उसकी उन्मत्त दशा अपने आप ही वता रही। ('माते' के स्थान पर चेतन पाठ भी है-इसका अर्थ होगा कि सांमरिक भोगों में अचेत होकर भी अपने को चेतन कहता है, कैसी विडंवना है)

कवि कहते हैं-आनंद के स्वरूप चेतन की वास्तविक परिणति तो आनन्द देने वाली सुमति ही है फिर आनंदघन (आनंद स्वरूप चेतन) उसके (ममता के) कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते है। (जहां "आनदघन की आनंदा, सिद्ध स्वरूप कहावै" पाठ है. उसका अर्थ यह होगा-'आनंदघन चेतन का आनद तो सुमति ही है। जो चेतन को सिद्धत्व प्राप्त कराती है इसलिये सिद्धस्वरूप कही जाती है ।।३।।

प्रिय मिलन कठिनाई, २९ राग-धन्याश्री
खोज व उपालम्ब

अनुभौ पीतम कैसे मनासी ।
छिन निरधन सधन छिन, निरमल समल रूप वनासी ।। अनु० ।।१।।
छिन में शक्र तक्र फुनि छिन में देखु कहत अनासी ।
विरहजन चीज आप हितकारी, निज धन झूंठ खतासी ।। अनु० ।।२।।
तुं हितू मेरो मैं हितू तेरी अंतर काहे जतासी ।
"आनंदघन" प्रभु आनि मिलावो, नहिं तर करो धनासी ।। अनु० ।।३।।

पाठान्तर—अनुभौ = अनुभव (अ. इ. उ)।पीतम = प्रीतम (अ. इ. उ) । सधन = सन (आ) । वनासी = वतासी (अ. इ. उ. व)। तक्र = वक्र (अ), चक्र (उ)। देखुं कहत=देखो कहति (इ)। विरहजन=विरजन (अ.इ.), विरहजव (उ) विरज न (वु), विरचन (क,वि)। चीज=बीज (इ) छीज (उ), विच्च (व.वि)।

वीचव (क)। निज धन = निधन (आ), निरधन (इ. उ. क.), निर्वन (बु), निरचन (वि)। खतासी = खनासी (आ. वि.)। वतासी (उ)। हितू = हित (आ)। धनासी = धन्यासी (इ. उ)।

शब्दार्थ—मनासी = मनावेगा, प्रसन्न करेगा। सधन = धन सहित। समल = विकार युक्त। वनासी = वनावेगा। अनासी = अविनाशी। शक्र = इन्द्र। धनासी = विदा होवो। गायन करनेवाले को जब विदा देनी होती है तो 'धन्याश्रीकरो' कहा जाता है। राग रागनियों में भी अंतिम स्थान 'धनाश्री' राग का है।

अर्थ—श्री ज्ञानसारजी ने इस पद का अर्थ किया है उसका सारांश यह है—"आत्मा को पुद्गल में लोलीभूत अशुद्धोपयोगी देख-कर अनुभव से शुद्ध चेतना कहती है।

हे अनुभव! पतिदेव (चेतन) किस प्रकार प्रसन्न होंगे? अपना कहना कैसे मानेगे? मन के वस वर्तते हुये क्षण में ज्ञानदर्शन रहित निर्धन, उसी भांति क्षण में ज्ञानदर्शन सहित धनवान, फिर क्षणमें ही निर्मल स्वरूपी ज्ञानी और क्षण में अनंतानुवंधी के उदय से से महा मैला रूप दिखाते है। ऐसे वहुरंगी चेतन को हे अनुभव! कैसे मनाया जाय ॥१॥

क्षण में यह आत्मा अपने को इन्द्र जैसा समर्थवान मानने लगता है, अर्थात षट् द्रव्य में मेरे जैसा कौन है? यह महानता धारग करता है और क्षण में तक्र जैसा-छाछ जैसा निसत्व वन जाता है।

यहाँ श्रीज्ञानसारजी महाराज लिखते है—"आगे के पद का किंचित अर्थ भासता तो है पर रहस्यार्थ सहित पूर्णरूप से नहीं भासता। इसलिए नहीं लिखा। 'शतवद एको मा लिख,' कोई बात लिखने के पहले वहुत विचार करना चाहिये। फिर इन कविराज आनन्दधन जी का आशय अत्यन्त गंभीर होता है परन्तु इन पदों के

शुद्धाशुद्ध अक्षरों के समझे विना अर्थ किसका किया जावे। जव ऐसे महान पुरुप ही आशय को नही जान सके तो मेरे जैसे अल्पज्ञ की क्या विसात है। पर जो कुछ समझा है वह लिख देना ही उचित समझता हूँ। विचारक लोग ठीक समझें तो ग्रहण कर सकते हैं।

चेतना कहती है कि चेतन अपने को क्षण में इन्द्र जैसा महान समझने लगता है तो क्षण में तक्र जैसा निसत्व वन जाता है, अथवा तक्र के स्थान पर वक्र पाठ रखें तो अर्थ—टेढा व कुटिल हो जाता है। इस भान्ति क्षण क्षण में यह अनेक भाव पलटता दिखाई पडता है। पर संसार से विरक्त ज्ञानियों ने इसे अविनाशी, नित्य व वासना से मुक्त रहने वाला कहा है जो सर्वदा स्वभाव से अपना हित ही करता है किन्तु विभाव परिणामी होने पर यह अपनी ज्ञानादि सम्पति को विपरीत परिणमन करके खोटे खाते खतग्ता है अर्थात अज्ञानवश संसार वंधन का खाता खताता रहता है। 'विरचन' पाठ का इस प्रकार अर्थ किया जा सकता है। 'अपने भावों का विरचन-निर्माण करने के वीज इसी मे है, अपना हित आप स्वय ही करने वाला है और विभाव दशा में अपने आत्मिक धन को पौद्गलिक खाते में लगा कर अपने अक्षय सुख से विमुख भी स्वयं ही होता है' ॥२॥

समता अनुभव से कहती है - हे अनुभव ! तू मेरा हित (भलाई) चाहने वाला है और मैं तेरा हित करने वाली हूँ। तुझ में और मुझमें क्या अन्तर है - क्या भेद है, मुझे वता। जहां सुमति, सद् बुद्धि, समता, शुद्ध चेतना, ज्ञान चेतना होती है, वहां अनुभव होता ही है। हे अनुभव तेरा मेरा इतना घनिष्ट संवंध है फिर भी तू विलम्व कर रहा है। अव कृपा कर आनंद के घन (समूह) सामर्थवान आत्माराम को मुझसे शीघ्र मिलाओ अन्यथा यहां से विदा हो। मैं और कुछ नहीं चाहती हूं। (समता ने निराशा व खीज में यह

वाक्य कहा है -"विदाहो"। दुखी अर्थीजन आवेश में उचित अनु-
चित का विचार नहीं करते।

विरहोद्रेक व अनुभव धैर्यदान ३० राग—गौडी

मिलापी आन मिलाओ रे मेरे अनुभव मीठडे मीत ।।
चातिक पिउ पिउ करै रे, पीउ मिलावे न आन ।
जीव पीवन पीउ पीउ करै प्यारे, जीउ निउ आन अयान ।।मि०।।१।।

दुखियारी निस दिन रहूं रे, फिरूं सब सुधि बुधि खोइ ।
तनकी मनकी कवन लहै प्यारे, किसहि दिखावुं रोइ ।।मि०।।२।।

निसि अंधियारी मोहि हंसैरे, तारे दांत दिखाय ।
भादु कादुं मंइं कीयउ प्यारे, अंसुअन धार बहाय ।।मि०।।३।।

चित चाकी चिहू दिसि फिरैरे, प्रान मैदो करै पीस ।
अबला सइं जोरावरी प्यारे, एतो न कीजै ईस ।।मि०४।।

आतुरता नहीं चातुरी रे, सुनि समता टुक वात ।
"आनन्दघन" प्रभू आइ मिलेंगे आज घरे हर भांत ।।मि०।।५।।

पाठान्तर—चातिक = चातक (इ.उ)। पिउ पिउ करैरे = पिउ पिउ पिउ करहरे (अ), पीऊं पीऊं करैरे (इ), पीउं पीउं करेरे (उ)। मिलावै = मिलाव (इ)। करै = करइ (आ), करे (उ)। आन अयान = आन अपान (अ), आतंए आन (इ), आंण, अजांण (उ) दुखिआरी = दुखी आरी (अ)। सुधि बुधि = सुद्धि बुद्धि (आ)। खोइ = खोय (इ, उ)। कवन = कवहुन (इ), कवन (उ)। लहै = लहइ (अ), लंहु (इ)। प्यारे = वारे (उ)। किसहि.....रोइ = कैसे दिखाउं रोय (इ. उ)। मोहि हंसैरे = मोहि हसइरे (अ. उ), मुहि हसैरे (इ)। तारे = तारइ (आ) मइं = में (इ.उ)। कीयउ = कियो (इ), कीयो (उ)। वहाय = वहाइ (अ आ)। चाकी = वाको (इ. उ)। फिरैरे = फिरइरे (अ आ)। प्रान = मांन (अ)। करै पीस = करइ पीसी (आ), करपीस (इ) करे पीस (उ) सइं = सूं (इ), सें (उ)। कीजै = कीजइ (आ), ईस = रीस (इ.उ)।

प्रान''''पीस = प्रण में दो करे पीस (क), प्रण में दो कर पीस (त्रु)। आतुरता ''''''''चातुरीरे = आतुर चातुरता नहीं रे (इ)। मिलेंगे = मिलेंगे प्यारे (इ.उ) घरे = घरि (ग्रा), घरी अ.उ), घरें (क)। हर = हरि (अ)।

शब्दार्थ—मिलापी = मिलाने वाला। मीठड़े मीत = स्नेही मित्र। आन = आकर। पीवन = पीने के लिये। जीउ निउ = प्राणधन (जीउ = प्राण, निउ = नींव)। कवन = कौन। कादूं = कीचड़।

अर्थ—सुमति कहती है-हे मेरे परम हित चिन्तक मिलापी मित्र अनुभव! कृपा कर मेरे प्रियतम (चेतन) को लाकर मुझसे मिलावो।

यह पपीहा पिउ पिउ कर रहा है किन्तु पिउ (पति) को लाकर मिलता नहीं। यह तो मेरे प्राण पीने के लिये ही पिउ पिउ करता है और मेरे जीवन धन को ला नहीं सकता।

प्रियतम विना मैं दिन रात दुखी रहती हूं। अपनी सब सुध बुध खोकर इधर उधर भटक रही हूं। मेरे तन मन की पीड़ा (दुख) को कौन समझ सकता है फिर रोकर भी किसको अपनी दशा दिखाऊं॥२॥

अंधेरी रात में तारे चमक रहे हैं वह ऐसे लगते हैं मानों रात दांत दिखलाकर मेरी हंसी (मजाक) कर रही है। (विरह व्यथा से दुखित) मैं आँसूओं की धारा वहाकर अपने समीप भाद्रपदमास के समान कीचड़ कर लिया है॥३॥

मेरी चित्त रूपी चक्की चारों तरफ घूम रही है जिसने मेरे प्राणों को पीस कर मैदा (वारीक आटा) वना दिया है। इसलिये हे प्रियतम! हे प्रभो! मुझ अवला से इतनी जवरदस्ती मत करो-ऐसी ज्यादती मत करो॥४॥

समता को इस प्रकार अत्यन्त खेद खिन्न देखकर अनुभव उसे आश्वासन देता है—हे सुमते ! जरा मेरी बात सुन, धैर्य रख। इस तरह व्यथित होने और घबडाने में बुद्धिमानी नहीं है। जल्द बाजी से काम नहीं बनता है। आनंद घन प्रभु शीघ्र ही अपने घर आकर हर प्रकार से तुझ से मिलेंगे ॥५॥

विरह में प्रतीक्षा व अनुभव का आश्वासन ३१ राग—केदारो

निसि दिन जोवु' वाटडी, घरि आवरे ढोला ।
मुझ सरीखे तुझलाख है, मेरे तुंही ममोला ॥नि०॥ १
जोहरि मोल करे लाल का, मेरा लाल अमोला ।
जिसके पटन्तर को नहीं, उसका क्या मोला ॥नि०॥२॥
पंथ निहारत लोअनै. टग लागी अडोला ।
जोगी सुरति समाधि मैं, मानो ध्यान झकोला ॥नि०॥३॥
कौन सुणै किसकु' कहूँ, किसैं मांडु खोला ।
तेरे मुख दीठै टलै, मेरे मनका झोला ॥नि०॥४॥
मीत विवेक कहै हितू', समता सुनि बोला ।
"आनंदघन" प्रभू आवसी, सेजडी रंग रोला ॥नि०॥५॥

पाठान्तर—जोवु' = जोवु'थारी (इ.उ)। घरि = घर, (इ)वेर (उ)। आवरे = आवोरे (इ), आवोजी (उ)। सरीखे = सरिखा (इ.उ)। तुझ = तोरे (उ)। ममोला = मानोला (अ), अमोला (उ)। जोहरि = जौहरी (अ), जौंहरी (इ), झुंहरी (उ)। मेरा = मेरे (उ)। लाल = मोल (आ)। अमोला = अमूला (उ)। जिसके = जिसकइ (आ) निहारत लोअने = निहारी लाअनै (अ), निहारत लोयनै (इ) निहालति लोयणे (उ)। टग = डग (उ)। सुरति = सूरति (उ)। मैं = रो (उ)। मानो = मुनि (उ)। कौन = कौण (अ)। किसैं = केम (इ)। मनका = मनकी (उ)। झोला = चोला (इ)। समता = सुमता (उ)। आवसी = आवसे (इ.उ)।

शब्दार्थ—जोवुं = देखना । वाटडी = वाट, रास्ता, राह । ढोला = प्रियतम, पति । सरीखे = समान । ममोला = ममत्व के स्थान, प्रिय । पटंतर= बराबर । लोअनै = नेत्र । झकोला = मस्ती । मांडु खोला = आंचल पसारू-फैलाऊं । झोला = गोटाला, चंचलता । रंगरोला = रंगरेलियां, चहल पहल ।

अर्थ—सुमति कहती है-हे प्रियतम चेतन ! मैं आपकी रात दिन राह देखती रहती हूं । हे स्वामी ! अब तो आप अपने घर पधारिये । (विभाव दशा को छोड़कर स्वभाव दशा में आइये) मेरे जैसी तो आपके लाखों हैं अर्थात् माया ममता, रति अरति कुटिलता वक्रता आदि लाखों विभाव दशायें हैं किन्तु मेरे तो आप अकेले ही प्रिय भाजन है-प्रेम के स्थान हैं ॥१॥

जौंहरी अपने लाल का-माणिक आदि रत्नों का मूल्य आंकता है-करता है किन्तु मेरा लाल तो अमोलख है जिसका कोई पारखी मूल्य नहीं कर सकता । मेरा ज्ञान दर्शन चारित्र रूप लाल चेतन स्वामी तो अमूल्य है । उसका कोई मूल्य नहीं लगा सकता वह तो अमोल है । उसके बराबर कोई भी वस्तु नहीं है फिर उसकी क्या कीमत हो ॥२॥

अडोल-अनिमेष आंख से-दृष्टि से-टकटकी लगाकर मैं उसकी खोज में मार्ग को इस प्रकार देखती रहती हूं जिय प्रकार योगी ध्यान की मस्ती से समाधि में एकाग्र-लीन हो गया हो। मैं आप ही के ध्यान में स्थिर चित्त रहती हूं ॥३॥

सुमति चेतनदेव से कहती है-हे स्वामी ! आपके सिवा मैं अपना दुख किससे कहूं मेरी व्यथा कौन सुनने वाला है, मैं किसके आगे अपना अंचल फैलाऊं । हे स्वामी ! आपके मुख देखने से ही मेरे मन की चंचलता दूर होगी । अर्थात आप मेरे पास रहेंगे तो मैं शांत रहूंगी-आनंद में रहूंगी ॥४॥

सुमति की ये विरह व्यथा युक्त बातें सुनकर उसका परम हितैषी मित्र (अनुभव) उसे आश्वासन देते हुये बोला–हे सुमते ! मेरी बात ध्यान से सुन, तेरे भरतार आनंदघन चेतन स्वामी अवश्य आवेंगे और स्वभाव रूपी शय्या पर आनंद रूप रंगरेलियाँ करेंगे। मेरी बात का विश्वास रख ॥५॥

विरह व्यथा-उद्गार और अनुभव का आश्वासन — ३२ — राग–मारू

पिया बिन सुधि बुधि मूंदी हो।
विरह भुयंग निसा समैं, मेरी से जडी खूंदी हो ॥पिया०॥१॥
भोयन पान कथा मिटी, किसकूं कहूं सधी हो।
आज काल्ह घर आवन की, जीउ आस विलूंधी हो ॥पिया०॥२॥
वेदन विरद अथाह है, पाणी नव नेजा हो।
कोन हवीव तवीव है, टारै करक करेजा हो ॥पिया०॥३॥
गाल हथेली लगाइ कै, सुर सिंधु समेली हो।
अँसुवन नीर वहाय कै, सींचू कर वेली हो ॥पिया०॥४॥
श्रावण-भादू घन घटा, विच वीज झबूका हो।
सरिता सरवर सब भरैं, मेरा घट सर सूका हो ॥पिया०॥५॥
अनुभव बात बनाइकै, कहै जैसी भावै हो।
समता टुक धीरज धरो, 'आनंदघन' आवै हो ॥पिया०॥६॥

पाठान्तर—पिया = पीया (आ)। बिन = विनु (आ)। सुधिबुधि सुधबुध (अ) शुद्धिबुद्धि (इ)। मूंदी = मुंदी (आ)। समैं=समइ (अ), समे (उ)। खुंदी = खुंदी (आ, उ)। भोयन = भोअन (अ), भौंअन (इ), भोजन (उ)। मिटी = मिटे (उ)। सूधी = संधा (आ) आज = आजि (अ)। काल्ह = कालि (अ)। काल (इ, उ)। आवनकी = आंनकी (इ)। जीउ = जीय (इ) विलूंधी

= विलूंधा (उ) । अथाह है = अथाह हे (उ) । हवीव तबीव = तवीव हवीव (इ), हवीव तवीव (उ) । सुर = सर (इ). सिर (उ) । समेली = सुमेली (उ) । वहाय = वहाइ (अ) । सींचू = सीचौं (आ) सींच्यौ (उ) श्रावण भादु = सावण भादू (इ), श्रावण मास (उ) विच = विचि (अ), विच (इ) वीच (उ) सरिता ....भरै = सलिता सरस बहैं भरे (आ), सलिता सरवर सव लहै (उ), पपही पिउ पिउ लवइ, जाणै अमी लवूका हो (अ) सर = रस (उ) । वनाइ = वनाय (इ. उ.) कहै = कहइ (अ), कहे (इ) । धरौ = धरउ (आ) ।

शब्दार्थ - मूंदी हो = मंद हो गई, ढंक गई है । सुधि बुधि = होश हवास, चेतना । भुयंग = भुजंग, सर्प । समैं = समय । सेजडी = शय्या । खूंदी हो = पैरों से रोंदना, पैरों से दवा दवा कर अस्तव्यस्त करना । भोयन = भोजन कथा = वात । सूधी = सीधी, सच्ची । जीउ = जीव, प्राण । आस = आशा । विलूंघी = नष्ट हो गई, लुप्त हो गई । नवनेजा = नौ खडे भाले की लम्बाइ जितना गहरा, नौ रस्से की लम्बाई जितना गहरा । हवीव = मित्र । तवीव = हकीम, वैद्य, चिकित्सक । करक = कसक, रुक रुक कर होने वाली पीडा । सुर सिन्धु = दुख स्वर का समुद्र, शोक समुद्र । समेली हो = मिल गई, डूव गई । कर वेली = हाथ रूपी वेल । वीज = विजली । झवुका हो = चमकती है । सरिता = नदी । सर = तलाव ।

अर्थ—सुमति कहती है—पति देव (चेतन स्वामी) विना मेरी सुधि-बुधि अच्छादित हो गई है अर्थात् मेरे होश हवास गुम हो गये हैं—खो गये है । मेरा सुमतिपना मंद हो गया है । रात्रि के समय विरह रूपी सर्प ने मेरी शय्या को रोंद करअस्त व्यस्त कर दिया है । चेतन की विभाव दशा ने यह भयंकर दशा उत्पन्न करदी ॥१॥

खाने पीने की बात ही जाती रही । किसे खाना पीना अच्छा लगता है ? अपनी व्यथाकी सीधी सच्ची बात किस पर प्रगट करूं ? आजकल में ही घर आने की बात थी, वह सव आशा मेरे मन से लुप्त हो गई । अर्थात् चेतन देव स्वामी के आजकल में ही

अपने घर (निज स्वभाव में) आने की वात थी किन्तु उनके निजभाव में न आने से वह सव आशा विलुप्त हो गई ॥२॥

नौ नेजा गहराई के समान मेरी विरह वेदना अथाह है। ऐसा कौनसा मित्र वैद्य है जो मेरे हृदय की कसक (पीड़ा) को दूर करे ॥३॥

इस पद के द्वारा योगीराज ने सद्गुरु की दुर्लभता वताई है।

गाल पर हाथ लगाकर (विचार मग्न होकर) शोक समुद्र में गोते खा रही हूं, डूव रही हूं। नेत्रों से आंसूओं को वहाकर गाल पर लगे हुए हाथ रूपी वेल को सींच रही हूं। अर्थात् अत्यन्त दुखी हो रही हूं ॥४॥

श्रावण-भाद्रपद की घनघोर घटा के वीच कभी कभी विजली चमक जाती है। (श्रावण-भाद्रपद की घनघोर घटा रूपी विरह दशा में चेतन की विभाव दशा में कभी कभी मेरी ओर उन्मुख होने रूपी विजली चमक जाती है)। ऐसे श्रावण भाद्र पद मास मे सव नदियें व सरोवर (तलाव) भर गये है किन्तु मेरा हृदय रूपी तलाव सूखा ही है। (चेतन की विभाव दशा में अशुभ कर्म रूपी नदियें तालाव आदि तो भर गये किन्तु मेरा समभाव रूप तलाव तो सूखा ही रहा) ॥५॥

सुमति को इतनी दुखित देखकर उसका परम हितकारी मित्र अनुभव सुमति की इस विरह दशा के दुख की वात चेतनराज से उसकी रुचि अनुसार अनुकूल भाव से, अवसर देखकर कहता है और उसे समझाता है। समझाने के पश्चात् अनुभव को आशा होती है और वह सुमति के पास आकर कहता है–हे सुमते ! तनिक धैर्य रखो, आनन्दघन प्रभु अव (तेरे पास) आने वाले ही हैं ॥६॥

विरह में प्रेमदशा व अनुभव का आश्वासन ३३ राग-काफी

हठीली आंख्या टेक न मिटै, फिरि फिरि देखन चाहुं ॥
छैल छबीली पिय सबी, निरखत तृपति न होइ ।
हठकरि टुक हटकै कभी, देत निगोरी रोइ ॥ह०॥१॥
मांगर ज्युं टगाइ कै रही, पिय सबी कै द्वारि ।
लाज डांग मन मै नहीं, कानि पछेवडा डारि ॥ह०॥२॥
अटक तनक नहीं काहू की, हटकै न इक तिल कोर ।
हाथी आप मतै अरइ पावै न महावत जोर ॥ह०॥३॥
सुनि अनुभव प्रीतम बिना, प्रान जात इहि ठांहि ।
हैंज न आतुर चातुरी, दूर 'आनंदघन' नांहि ॥ह०॥४॥

पाठान्तर—आंख्या = आंखै (अ) । टेकन = टेकनि (अ) मिटै = मेटै (इ. उ) । चाहुं = जाहुं (अ), जाई (इ), जाय (उ) । छैल = छयल (इ. उ) । छबीली = छबीला (आ) । सबी = छबी (इ) तृपति = तृपत (अ)। हठ = हट । (आ) हटकै = हठकै (अ. इ. उ) । 'कभी' यह शब्द 'इ, प्रति में नहीं है । मांगर = मारग (आ) । टगाइ = टंगाइ (अ), टुंगांय (इ.उ) । डांग = डाग (आ) मन मैं = मांनै । पछेवडा = पच्छेरा (अ), पिछेडा (इ) पिछेवडा (उ) । डारि = टारि (आ) । डार (इ) । टार (उ) । तनक = तटक (आ), तनेक (उ) । इक तिल = नहि तिल । मतै = मतइ (अ) । अरइ = अरै (इ), यरे (उ) । पावै = पांवइ (आ) । महावत = मावत (इ.उ) । इहि = इन (आ), नवि (इ) । ठांहि = ठावहि (आ), आहि (इ) । हैज न = हजीन (इ.उ)। आतुर चातुरी = चांतुर आतरी (इ) । दूर = दूरि (अ.उ) ।

शब्दार्थ—टेक = जिद, हठ । सबी = तसवीर । हटकै = हटाना. मना करना । मांगर = मकर, मछली । डांग = लकडी, डंडा । कानि = मर्यादा । पछेवडा = ओढने का चादरा । ठांहि = स्थान ।

अर्थ—सुमति की हठीली आंखें अपनी हठ (जिद) छोड़ रही है, वार वार प्रियतम को देखना चाहती है।

अपने मौजी प्रियतम की सुन्दर छवि को देखते हुये तृप्ति नहीं होती है। यदि जबरदस्ती से रोका जाता है तो ये निगोड़ी आंखें रो देती हैं ॥१॥

जल वियोग होने पर (काँटे में फंसी हुई) मच्छलो की दृष्टि जिस प्रकार पानी की ओर लगी रहती है, उसी प्रकार मेरी दृष्टि प्रियतम के द्वार की ओर लगी रहती है। मुझे प्रियतम की छवि की ओर देखने मे किसी की लज्जा रूप डंडे का मन में भय नहीं है। और मैंने मर्यादा रूप चादर को उतार कर अलग डाल दिया है ॥२॥

अब किसी की जरा भी रोक नहीं है इसलिये ये हठीली आंखें एक तिल भर तो क्या, तिल के अग्रभाग जितना भी हटना नहीं चाहती है। हाथी जब अपन मते (मन माना) हो जाता है तब महा-वत के अंकुश का जरा भी वश नहीं चलता है ॥३॥

हे अनुभव मित्र! मेरी स्पष्ट बात सुनलो, प्यारे प्रियतम के विना मेरे प्राण इस ही स्थान पर यह देह छोड़ देंगे। यह सुनकर अनुभव राज कहते है—हे सुमते! जल्द बाजी करना बुद्धिमानी नहीं है। तू धैर्य रख—विश्वास रख कि आनंदघन चेतन तेरे से दूर कहां है? अर्थात् दूर नहीं है ॥४॥

इस सम्पूर्ण पद में आध्यात्म अर्थ भरा पडा है। चित्त वृत्ति रूपी हठीली आंखें शुद्ध चैतन्य स्वरूप प्रियतम की ओर लगरही हैं।

विरहोद्रेक व अनुभव का धैर्यवान **३४** **राग–वसंत***

भादुं की राति काती सी वहइ, छातीय छिन छिन छीन ॥

---

*अलग अलग प्रतियों में अलग अलग राग है। 'अ' प्रति में 'नटमलार' 'आ' प्रति में 'वसंत,' 'इ,उ' और मुद्रित प्रतियों में 'धमाल' है।

प्रीतम सवी छबि निरख कइ, पिउ पिउ पिउ पिउ कीन ।
वाही चवी चातिक करै, प्राण हरण परवीन ॥भा०॥१॥
इक निसि प्रीतम, नाउकी, विसरि गई सुधि नीउ ।
चातक चतुर चिता रही, पिउ पिउ पिउ पीउ ॥भ०॥२॥
एक समइ आलाप कै, कीन्हइ अडानै गाव ।
सुघर पपीहा सुर धरइ, देत है पीउ पीउ तान ॥भा०॥३॥
रात विभाव विलात ही, उदित सुभाव सुभानु ।
समता साच मतइ मिलै, आए 'आनंदघन मानु ॥भा०॥४॥

पाठान्तर—छातीय – छाय (अ), आ छातीय (आ) छिन = छिन्न (उ) । सवी छवि = छवि सवि (इ). छवि सव (उ) । निरख कइ – निरखि के हो (इ), निरखि कहे (उ) । 'पिउ' शब्द 'अ' प्रति में तीन वार ही है । चवी=वाची (अ), वची (इ) विच (बु. वि)। चातिक=चातक (इ) । करै=करइ (अ), करैहो (इ. उ) । हरण – हरै (उ) । परवीन – परचीन (उ) । चिता – विना (बु. वि) । पिउ""पीउ = पिउ३ पीउ (अ) । समइ – सामों (इ), समै (उ) । कै = कइ (अ), कै हो (इ), के है (उ) । कीन्हइ – कीन्हे (अ), कीनै (इ. उ) । पपीहा – वपीहा (अ. आ) । धरइ – धर हो (इ. उ) । देत है = देत हइ (अ), देत हे (इ), देत हो (उ) पीउ पीउ – पिउ पिउ (अ) पीऊ पीऊ (इ) । रात – राति (आ) । ही = है (आ), ही हो (इ. उ) । मतइ मिलै – मतइ मिलइ (अ), मतै मिलै हो (इ. उ) । आए – आइ (अ) ।

शब्दार्थ—काती = कटार, करोत, आरा । वहई = वहती है, लगती है । छातीय = सीना, छाती । छिन छिन – क्षण क्षण में । छीन = क्षीण करती है, छील डालती है । चवी = कथन, वोली, शब्द । नाउकी – नाम की । विसरि गई=भूल गई । सुधि = स्मृति । नीउ = नींव से ही, मूल से ही, बिल्कुल ही । आलापकै – आलापलागा कर । अडाने = आडे समय पर, बेवक्त, दुख के समय पर । (यह मराठी शब्द है) । रात विभाव विलात ही = विभाव

रूपी रात्रि के विलीन होने पर। उदित सुभाव सुभानु = स्वभाव रूपी सूर्य का उदय होगा। साच मतइ = सच्चे हृदय से, सचमुच, सत्य ही, सम्यक् ज्ञान पूर्वक। मानु = मानो, जानो।

अर्थ—सुमति कहती है कि प्रिय चेतन स्वामी की विभाव दशा रूप भाद्रपद की घनघोर अंधेरी रात्रि मेरी छाती को क्षण-क्षण में करोत के समान छेद रही है—विदीर्ण कर रही है।

प्रिय चेतन की छटा (शोभा) देखकर हृदय प्रेम से विभोर हो उठता है और मुख से "पिया, पिया" शब्द निकल पडता है। पपीहा भी 'पिउ पिउ' शब्द ही बोला करता है। इससे विरहणी को पति की स्मृति ताजा हो जाती है। इसलिए कवियों ने उसे (पपीहे को) वियोगनियों के प्राण हरण करने में चतुर कहा है ॥१॥

एक रात्रि को प्रियतम के ध्यान में मैं ऐसी तल्लीन हुई कि प्रियतम के नाम की स्मृति ही खो बैठी। हे चातक! पिउ पिउ पिउ की ध्वनि से क्या चेतावनी दे रहा है? मेरे हृदय में तो पिउ (पति) ही बस रहा था, मुझे तो पति ही का ध्यान था और पति ही का विचार था, केवल मुख में पति का नाम नहीं था ॥२॥

ध्यान में बहुत बार ऐसी समाधि लग जाती है और दीर्घ अभ्यास से इस ही भांति ध्येय और ध्यान की एकता सिद्ध होती है, फिर ध्याता, ध्यान और ध्येय वे तीनों एक रूप हो जाते है।

ऐसे आडे (दुःख) के समय किसी ने अलाप लगाकर गायन किया। जब ध्यान टूटा तो मालूम हुआ कि चतुर पपीहा मुझे ध्यान मग्न देखकर 'पिउ पिउ' की तान लगा रहा है ॥३॥

सुमति के साथ यह तान पूरने वाला मन के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? मन और बुद्धि जब एक दिशा में कार्यरत होते हैं तो सफलता निश्चित है।

सुमति को–मन के इस परिवर्तन से—अनुमान होता है कि विभाव दशा रूपी सूर्य उदय होने वाला है जिससे आनंद के समह चेतन सचमुच स्वेच्छा से आकर मुझसे आ मिलेंगे ॥४॥

आत्मानुभव रस, विरहोद्रेक, ३५ वसंत–धमार
व सखि का धैर्यदान

साखी—आतम अनुभव रस कथा, प्याला पिया न जाइ।
मतवाला तो ढहि परै निमता परै पचाइ ॥*

छबीले लालन नरम कहै, आली गरम करत कहा वात ॥
मांके आगइ मामू को, कोइ वरन न करत गवारि।
अजहू कपट के कोयरा, कहा कहै सरधा नारि ॥छबी०॥१॥
चौगति माहेल न छारहीं, कैसे आए भरतार।
खानो न पीनो वात मैं हसत भानत कहा हार ॥छबी०॥२॥
ममता खाट परै रमै, ओनीदे दिन रात।
लैनो न दैनो इन कथा, भोरे ही आवत जात ॥छबी०॥३॥
कहै सरधा सुनि सामिनी, एतो न कीजै खेद।
हेरइ हेरइ प्रभु आवही, वढे 'आनन्दघन' मेद ॥छबी०॥४॥

---

*श्री ज्ञानसारजी ने इस साखी को अलग रखा है। यह आनन्दघनजी के मर्म को समझने में एक ही है। इन्होंने 'आनन्दघन' चौवीसी पर बड़ा ही मार्मिक टब्बा लिखा है। इन्होंने 'आनन्दघन बहुत्तरी' पर भी टब्बा लिखा है। केवल १४ ही पदों पर टब्बा मिलता है। या तो इन्होंने १४ कठिन पदों पर ही टब्बा लिखा है या और पदों का टब्बा नष्ट हो गया हो। लोग इन्हें लघु आनन्दघनजी कहते थे।

पाठान्तर—ढहि = ढाई (आ) । परै = परेइ (आ) । निमता परै पचाइ = निमिता परिचाइ (आ), निमता परे पचाय (इ.उ) । आली = आलीरी (इ.उ) । कहा वात = अहवान (उ) । गवारि = गवार (अ), गिवार (इ), गमार (उ) । कोथरा = कोथेरा (उ) । नारि = नार (इ.उ) । चौगति = चउगति (अ), 'इ' प्रति में पद संख्या दो नहीं हैं । 'पीनो शब्द' के आगे बु.वि. प्रतियों में 'इन' शब्द और है । श्री ज्ञानसारजी महाराज के टव्वे में भी 'इन' शब्द है । रमै = रमैहो (आ) । ओनीदे = दिन दिन (आ), ओनीदे (अ), ओनीदै (इ). ऊनींदे (उi) उलीमदे (उii), और निदे (वि. बु, क) । कथा=जथा (उ) । कहै = कहइ (आ) । सामिनी = स्यामिनी (अ), सांमिनी (इ) । हेरइ हेरइ = हेरै२ (इ,उ.क,बु), हरै हरै (वि) । वढै = वढइ (अ), वदे (बु.क) । (पद दूसरे में)–हार = हाड (बु,क.वि.) ।

शब्दार्थ—रस कथा = सरस कथा । मतवाला = मस्त, मताग्रही । ढरि परै = लुढक पड़ता है । निमता = निर्ममत्वी, मस्त न होने वाला । छवीले = शोभायमान । लालन = पति, आत्मा । गरम करत कहा वात = किस लिये मुझे गरम करती है, क्रोध दिलाती है । कोथरा = थैला । न छारही = नहीं छोड़ती है । हसत = हँसी करके । भानत कहा = किस लिये तोड़ता है । हार = हाड, हड्डी ।

अर्थ—आत्मानुभव रूप रस कथा का प्याला पिया नहीं जा सकता, इसे पीना अत्यन्त दुष्कर है । जो मताग्रही लोग हैं जिन्हें अपने-अपने मत का महत्व है, जो सत्य को न पकड़कर अपने मत का दुराग्रह रखते हैं अथवा सांसारिक मोह माया में पड़े हुए है, वे तो इस प्याले को पी नहीं सकते, अथवा पीकर लुढक जाते है और जो मताग्रह से रहित हैं—सांसारिक बातों से जिन्हें प्रीति नहीं है, जो मेरा, वह सच्चा, यह न समझकर, सच्चा जो मेरा, ऐसा समझते हैं, वह इस आत्मानुभव रस कथा का प्याला पीकर पचा लेते है—जीवन में उतार लेते है और अपनी आत्मा में तल्लीन हो जाते है । कोई इस

रस का इच्छुक आता है तो उसे भी पान करा देते हैं वरन् अधिकतर आत्मानंद में ही मग्न रहते हैं। ऐसी अवस्था में जनसाधारण को आत्मानुभव रूप रस वार्ता का पान दुर्लभ ही है ॥साखी ॥

सुमति और श्रद्धा में वार्ता हो रही है। सुमति कहती है—हे श्रद्धे ! तू छबीले लाल को—मेरे पति चेतन को नरम कहती है और शास्त्र की साक्षी भी देती है कि आत्मा महा समरसी है पर यह तो सब निश्चय नय की बात है, किन्तु जहाँ तक विभाव दशा है वहाँ तक तो यह कषायों से तप्त है—गरम है। हे सखि ! बता, छबीले आत्माराम का मोह-ताप हर गरम बात करने का अन्य क्या कारण है ? हे सखि ! मां के सामने मामा का—मां के भाई का गुण-दोष वर्णन कोई गँवार (मूर्ख) ही किया करता है क्योंकि भानजे की अपेक्षा उसकी बहिन उसे अधिक जानती है। इसी ही भांति हे श्रद्धे ! मैं तेरी अपेक्षा अपने पति के गुण अधिक जानती हूं। तेरा तो प्रत्येक बात पर विश्वास करने का स्वभाव सा हो गया है पर मैं गुण-दोष का भली भांति परीक्षण करती हूं। वह नरम-गरम जैसे भी हैं, मैं अच्छी तरह जानती हूं। अरे भोली ! वह अब भी कपट का थैला है। तू उसका सर्व विरति रूप देखकर उन्हें नरम कह रही है, यह तेरी भूल है। वे अब भी कपट (कषाय आदि) की गठरी बांधे हुए हैं। इसलिये हे श्रद्धे ! तू अपने स्त्री सुलभ स्वभाव वश ही मुझे बार-बार यह कह रही है कि छबीले लाल नरम हैं। मुझसे उनके लक्षण कहां छिपे हैं। तू तो विश्वास करना जानती है। परीक्षा करना तूने सीखा ही नहीं, इसलिये तू मेरे बिना अन्धी है। संसार में मेरे अभाव में तू अन्धश्रद्धा कहलाती है। यह बात सुन, श्रद्धा अब क्या कहे ॥१॥

हे श्रद्धे ! मेरे भरतार—छबीले लाल चतुर्गतिरूप महल को छोड़ नहीं रहे हैं फिर मेरे पास कैसे आ सकते हैं। इस विरह की

बातों में मुझे खाना पीना कुछ अच्छा नहीं लगता है। हे सखि! 'लाल नरम है' इस तरह हँसी करना मेरी हड्डियों को चकनाचूर करना है। पति वियोग में रुधिर मांस तो पहिले ही जाता रहा, तेरी इस हँसी से अब हाडों का नाश हो रहा है ॥२॥

सुमति कहती है—मेरे लाल (पति) रात दिन ममता की सेज (शय्या) पर क्रीड़ा करते हुए सुख मना रहे हैं फिर भी उनींदें ही रहते हैं अर्थात् रात दिन माया में लिप्त रहने से कभी तृप्त नहीं होते, हमेशा अतृप्त ही बने रहते हैं।

कई प्रतियों में 'औरनिंदे दिन रात' पाठ है, जिसका अर्थ है—ममता की सेज में अत्यन्त लुब्ध है, दिन रात उसी मोह निद्रा में पड़े रहते हं।

इन बातों में कुछ लेना देना नहीं है अर्थात् ये सब बातें व्यर्थ हैं। प्रातःकाल होता है और चला जाता है अर्थात् काल (समय) यों ही बीता जा रहा है ॥३॥

श्री ज्ञानसारजी ने इस तीसरे पद का रहस्यार्थ किया है उस का सार यह है—विभाव रूप रात्री के जाने पर स्वभाव रूप सूर्य के उदय होने से ही चेतन देव आवेंगे। हे सखि श्रद्धे ! तेरा यह कहना कि 'लाल' नरम है, अभी आवेंगे, इस बात में कुछ सार नहीं है—कुछ लेने देने जैसी बात नहीं है ॥३॥

सुमति को इतनी अधीर देखकर श्रद्धा उसे आश्वस्त करती है कि हे स्वामिनी ! तनिक मेरी बात सुनो, आप इतना खेद न करो। आनन्दधाम आत्माराम उद्यम करने से अवश्य आवेंगे। आप यों शोक करके बैठी रहोगी तो कुछ नहीं होगा। आप ममता की अनुपस्थिति (मंदता) में चेतनजी के पास जावो, उधर की निस्सारता दिखाओ। इस प्रकार प्रमाद त्यागकर सर्वदा पुरुषार्थ करती रहोगी

तो शनै शनै (धीरे धीरे) चेतन निजस्वरूप में अवश्य आजावेंगे। आपकी सफलता धीरे धीरे उद्यम में ही है। इस प्रकार स्वरूपानन्द रूप-मेद (मोटापन) की वृद्धि होगी अर्थात् आपसे (सुमति से) प्रेम बढ़ता जावेगा ॥४॥

मनुहार व प्रिय मिलन ३६ राग—गौडी

रिसानी आप मनावोरे, वीच वसीठ न फेर ॥
सौदा अगम प्रेम का रे, परिख न बुझै कोइ।
लै दै वाही गम पडै प्यारे, और दलाल न होय ॥ रि०॥१॥
दोइ वातां जियकी करउ रे, मेटोन मनकी आंट।
तन की तपत वुझाइयँ प्यारे, वचन सुधारस छांट ॥रि०॥२॥
नेक कुनजर निहारियँ रे. उजर न कीजै नाथ।
नेक निजर मुजरइ मिलै, अजर अमर सुख साथ ॥रि०॥३॥
निसि अंधियारी घन घटारे, पाउं न वाट के फंद।
करूण कर तो निरवहुं रे. देखुं तुझ मुख चंद ॥रि०४॥
प्रेम जहां दुविधा नहीं रे, नहि ठकुराइत रेज।
"आनन्दघन" प्रभु आइ विराजै, आप हो समता सेज ॥रि०॥५॥

पाठान्तर—आप = आय (उ)। मनावोरे — मनावउरे (अ)। वसीठ = वसीढि (उ)। फेर — फे.र (अ)। फेरा (इ)। अगम — आगम (अ)। परिख — परीख (अ), पारख (इ)। कोइ — कोय (इ.उ)। लै....प्यारे — लै दै या ही गम पडइ प्यारे (आ), ले दे वाही गम पडेरे (इ.उ)। और = और (आ)। होइ = होय (इ.उ)। दोई — दो (इ). दोय (उ)। वातां=वात (आ), वतइं (अ), वातां (इ.उ)। जिय — जियै (आ), जी (इ), जीय (उ)। करउरे=करोरे (उ)। मेटोन = मेटउन (अ), मेटो मनकी (इ.उ)। तपत — तपति (आ)। वुझाइयँ

= वुझाइयइ (अ), वुझाइ' (इ) (इ), वुझाइएरे (उ)। नेक कुनजर = नेकु कुन। जरि (आ), नेकुसुनजर (अ), गेक नजर (इ), नेक निजर (उ)। निहारियै रे = निहारीयइरे (अ, आ), निहारिएरे (उ)। कीजै = कीजइ (अ, आ)। मुजरइ मिलै = मुजरा न लै प्यारै (इ), मुजरो मिलेरे प्यारे (उ)। निसि = निस (अ) निशि (उ) अंधियारी = अंधिआरी (अ)। अंधारी (उ)। फंद = फंदा (आ) फांद (अ)। निरवहुं रे = निरवहो (व, इ)। चंद = चांद (अ)। प्रेम = पेम (अ.इ) जिहां = तिहां (उ)। नहीं = न (आ)। नहि....रेज मेट कुराही तरेज (इ), नहीं ठकुराइ तेज (उ)। समता = सुमता (इ)

शब्दार्थ—रिसानी = क्रोधित, रूसी हुई रुष्ट हुई। मनावो = राजी करो, प्रसन्न करो। वसीठ=दूत, दलाल, मध्यस्थ। न फेर=न फिर, फेरना नहीं, लाना नहीं। अगम = अगम्य। वुझै = जानता हैं परिख = परीक्षा। वाही = उसको ही। गम = खवर। आंट = आंटी, उलजन, गांठ। छांट = छिडक कर, डालकर। नेक = तनिक, थोड़ी सी। उजरे = उज्र, विरोध। मुजरइ=अभिवादन करते हुये। वाट = मार्ग, राह। निरवहुं = निर्वाह करलूं, पालन करूं। ठकुराइत = वडप्पन। रेज = जराभी. रजमात्र भी।

अर्थ—माया के फेर में पडे हुये चेतन को अपनी गलती का कुछ भान होता है! वह श्रद्धा से समता को प्रसन्न करने को कहता है। श्रद्धा उसको वहुत ही सुन्दर उत्तर देती हैं। वास्तविकता यह है कि चेतन जव स्वयं राग-द्वेष विषम भाव छोड़ेगा तव ही उसे समत्व प्राप्त होगा। राग द्वेष छोडने से ही आत्म साम्राज्य मिलता है। श्रद्धा होने पर भी जव तक ये विषम भाव छोडे नहीं जाते तव तक मात्र यह विश्वास रखने से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। जीव को पुरुषार्थ करके रागादि भाव न्यून करते हुये समत्व प्राप्त करने का प्रवल पुरुषार्थ करना चाहिये। योगीराज ने श्रद्धा के मुख से स्वयं पुरुषार्थ करने का उपदेश दिया है। ममता वश वह अपनी समता को स्वयं भूला है। अव उसे स्वयं ही प्रसन्न करना होगा।

श्रद्धा कहती है—हे चेतनराज ! रुष्ट हुई समता को आप ही मनावो-प्रसन्न करो। पति को अपनी पत्नी के व अपने प्रेम के वीच किसी विशिष्ठ (मध्यस्थ) पुरुष को भी नही लाना चाहिये क्यों कि यह प्रेम का सौदा (व्यापार) वड़ा ही अगम्य है—वड़ा गहन है। इसे कोई विरला ही पुरुष परीक्षा पूर्वक समझ पाता है। जो हृदय लेता है व देता है। वही इसके मर्म को जानता है। अहो चेतनराज ! क्याअपनी पत्नी के पास कोई दूती या दलाल भेजे जाते है ? अतः आपइस फेर–चक्कर में न पड़ें, अपनी पत्नी के लिये किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है। दूती व दलाल तो उप-पत्नियों के लिये होते हैं ॥१॥

श्रद्धा फिर कहती है—हे चेतनराज ! आप यह न समझो कि सुदीर्घ काल से समता से अलग रहे हो, वह कैसे प्रसन्न होगी ? आपको ध्यान रखना चाहिये कि समता महान पतिव्रता है, वह पति का कभी तिरस्कार नहीं कर सकती है, न कभी उसको निराश कर सकती है। चेतन फिर प्रश्न करता है कि मुझे क्या करना चाहिये। उत्तर में श्रद्धा संक्षेप मे कहती है कि हे चेतनराज ! आप अपने मन की आंट–ग्रंथी को क्यों नहीं मिटा कर समता से अपने हृदय की दो दो वातें कर लेते ? अथवा आप अपने जीव के संबंध में दो वाते करिये। प्रथम तो यह कि आप अपने मन की परभाव रमण रूप ग्रंथी को खोल डालिये और दूसरी यह कि विषय कापाय जन्य शारीरिक तपत को (अग्नि को) स्वरूप ज्ञान रूपी अमृत रस की बुंदे छिड़कर वुझा डालिए–शांत कर दीजिये ॥२॥

चेतन फिर श्रद्धा से प्रश्न करता है—इन पंचेन्द्रिय के विषयों को कैसे छोड़ा जाय। परभाव रमणता कैसे दूर हो, यह कषाय जन्य मानसिक ताप कैसे शांत हो ?

उत्तर में श्रद्धा कहती है—हे चेतनराज ! आप अनन्त शक्तिशाली हैं। इस परभाव रमणता व विषय वासना की ओर थोड़ी भी

टेढी दृष्टि रखोगे तो हे स्वामी ! ये कुछ भी विरोध न करके अलग हो जावेंगी अथवा हे नाथ ! इस विषय वासनाओं को कुदृष्टि से देखिए, इसमें आप कुछ भी उज्र न करे, ये सब पलायन कर जावेंगी। आपकी शक्ति के आगे कौन ठहर सकता है। फिर आपकी तनिक दृष्टि मात्र से ही समता अक्षय व एक रस रहने वाले अव्याबाध सुख के साथ आपका अभिवादन करती हुई, आमिलेगी ॥३॥

श्रद्धा द्वारा यह संवाद पाकर समता कहती है-हे सखि ! स्वामीनाथ ने स्मर्ण किया है तो मैं तैयार ही हूं किन्तु अंधेरी रात है और घनघोर घटा छाई हुई है, ऐसे समय में मैं मार्ग कैसे प्राप्त करूं हे स्वामी ! यदि आप ही दया करें तो मेरा निर्वाह हो जावे और आपके चन्द्र मुख का दर्शन हो जावे ॥४॥

योगीराज ने यहां अत्यन्त गम्भीर व मार्मिक बात कही है। उक्त पद का तात्पर्य यह है कि चेतन के पुरुषार्थ से ही सम भाव प्राप्त हो सकता है। अविरति रूप रात्रि प्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यान कषयों की घनघोर घटा में अप्रमत्त मार्ग कैसे जाना जा सकता है। चेतन जब तक अविरति परिणाम, प्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यान कषायों को न त्यागे तो समता कैसे प्राप्त हो सकती है।

समता का यह संदेश चेतन को तनिक भी नहीं अखरता है। मेरे बुलाने पर आप न आकर मुझे ही वहां बुलाती है ऐसी द्विधा चेतन को थोड़ी सी भी नही होती है। जहां प्रेम होता है वहां जरा भी द्वैत भाव नहीं होता। बडप्पन का तनिक भी अभिमान नहीं होता। आनन्द के समूह चैतन्य प्रभु स्वयं ही समता की सेज (शय्या) पर आ विराजे अर्थात् अविरति परिणामों को त्याग कर अप्रमत्त भाव ग्रहण कर लिया ॥५॥

प्रियतम का समाचार व मिलन ३७ राग--बसंत, धमाल

पूछीइ आली खबरि नई, आए विवेक बधाई ॥
महानंद सुखकी वरनिका, तुम्ह आवत हम गात ।
प्रान जीवन आधार कुं, खेम कुशल कहो बात ॥पू०॥१॥
अचल अबाधित देव कुं, खेम सरीर लखंत ।
विवहारी घट बढ़ि कथा, निहचै शरम अनंत ॥पू०॥२॥
बंध मोख निहचै नहीं, विवहारी लखि दोइ ।
कुशल खेम अनादि ही, नित्य अबाधित होइ ॥पू०॥३॥
सुनि विवेक मुखते नई, वानी अमृत समान ।
सरधा समता दोइ मिली, लाई "आनंदघन" तान ॥पू०॥४॥*

पाठान्तर—पूछीइ = पूछीयइ (अ), पूछीये (इ)। खवरि = खवर (इ. उ)। वधाई = वधाय (इ) वरनिका = वरनिकारे (उ)। नोट—उ प्रति में सब ही पंक्तियों में प्रथम विराम में 'रे' है। आधार कुं = आधार की ही (इ)। देवकुं = देवकुं हो (इ)। वढि = वढ (इ)। वध (क. वु. वि) कथा = कला (उ)। निहचै = निहचइ (इ) शरम = सरम (इ) परम (उ)। मोख = मोक्ष (उ)। निहचै = निहचइ (अ)। विवहारी = विवहारैं (इ) लखि = लखी (अ) लख (इ)। मुख = सुख (आ)। दोइ = दुइ (अ), दो (इ), दोय (उ)। मिली= मिलि (अ. इ), मिलैरे (उ)। तान = तांन (इ). ताम (उ)।

शब्दार्थ—महानंद = पूर्णानंद। वरनिका = वर्णन। गात = गाती हैं, शरीर। अचल = जो चलायमान न हो, स्थिर। अवाधित = जिसे कोई बाधा (रुकावट) न हो—पीड़ा न हो। खेम = क्षेम कुशल। विवहारी = व्यवहार नय से। घट वढि कथा = घटने वढने की बात। निहचै = निश्चय से। शरम = शांति, समभावी। श्री ज्ञानसारजी ने शरम के स्थान पर समर पाठ रखा है और उसका अर्थ शांत किया है।

---

*श्री ज्ञानसारजी ने इस पद पर टब्बा लिखा है।

अर्थ—श्रद्धा कहती है—हे सखि समता ! विवेक महोदय पधारे हैं। उनको बधाले—स्वागत करले और कोई नये समाचार हो तो पूछले।

विवेक के पास जाकर कहती है कि आपके आगमन से हमें व हमारे मन व शरीर को जो महा आनंद प्राप्त होता है, उस महान सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता है। आप प्राणनाथ, प्राणधार के कुशल समाचार बताईये ॥१॥

समता का प्रश्न सुनकर विवेक महोदय उत्तर देते हैं—अचल व अबाधित देव के तो सर्वदा ही कुशलक्षेम देखी जाती है। वास्तव में तो उनका असंख्य प्रदेशात्मक शरीर तो बाधा रहित निश्चल है। व्यवहार से घटाव बढाव की, सुख-दुख की, लाभ अलाभ की बात है किन्तु स्वरूप से तो अनंत शांति विद्यमान है ॥२॥

निश्चय से तो बंध मोक्ष नहीं है, व्यवहार से ही बंध और मोक्ष-इन दोनों का विचार देखा जाता है—कहा जाता है। जब निश्चय से बंध-मोक्ष है ही नहीं, तब अनादि से आनन्द ही आनन्द है—क्षेम कुशल है, अबाधितपन है। यह आत्मदेव शाश्वत है, बाधा रहित है, फिर बंधन कैसा ? दुख कैसा ? संकट कैसा ? पीड़ा कैसो ? अपने आपको—अपने आत्मा को भूले हुवों के लिए ही यह सब विघ्न हैं। श्रीमद्राज चन्द्र जी ने कहा है—

छूटेदेहा ध्यासतो, नहि कर्ता तु कर्म।
नहि भोक्ता तु तेहनो, श्रेज धर्म नो मर्म ॥११५॥
श्रेज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्ष स्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध्य स्वरूप ॥११६॥

(आत्मसिद्धि)

देह को ही सब कुछ समझनेवाले विभाव परिणामियों को ही संसार बंधन है। आत्मा की ओर लक्ष देने वाले तो साता -असाता से परे (दूर) रह कर अव्यावाध सुख के अधिकारी होते हैं ॥३॥

इस प्रकार विवेकके मुख से यह अमृत समान नवीन वाणी सुन कर श्रद्धा और समता दोनों ने मिलकर आनंद स्वरूप अपने स्वामी आत्मदेव को निज स्वरूप की ओर खेंच कर ले आई ॥४॥

प्रिय आगमन पृच्छा, व परिवार सम्मेलन **३८** **राग—वसंत, धमाल**

सलूने साहिब आवेंगे, मेरे वीर विवेक कहौन सांच ॥
मोसूं सांच कहो मेरी सुं, सुख पायौ कै नांहि।
कहानी कहा कहुं उहां की डोलै चतुरगति मांहि ॥स० ॥१॥
भली भई इत आवही, पंचम गति की प्रीति।
सिद्धि सिद्धि रस पाक की, देखै अपूरब रीति ॥स० ॥२॥
बीर कहै एती कहा, आए आए, तुम्ह पास।
कहै सुमत परिवार सौं, हम हैं अनुभवदास ॥स० ॥३॥
सरधा सुमता चेतना चेतन अनुभव वांहि।
सकति फौरि निज रूप की, लीनैं 'आनन्दघन' मांहि ॥स० ॥४॥

पाठान्तर—मेरे = मेरे आलीरी (इ.उ)। सुं = सौं (अ)। उहां की = वहां की (आ), कहा कहूं कहानी ऊंही की (उ)। आवही = आवंही हों (इ), आवही हूं (उ)। सिद्धि····पाक की — सिद्धि सिधंत रस पाक की हो (इ), सिद्ध सिद्ध रस पाक की ही (उ)। कहा = कहो (इ), कहा हो (उ)। आए आए = ममता आए (उ)। पास = पासि (आ)। सुमता = समता (अ.इ)।

सौ = सु (अ), सौहो (इ), सुंहो (उ)। चेतन = चेतना हो (इ.उ), चेत (आ)। वांहि = आहि (इ.उ)। सकति = सगत (इ)। रूप की = रूप कौ हो (इ.उ)। लीनै = लीजै (उ)।

शब्दार्थ -सलूने = सुन्दर। मेरी सु = मेरी शपथ है। उहां की = वहां की। चतुरगति = चारगति (नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव) पंचमगति = मोक्ष। सिद्धि सिद्धि रसपाक की = पारे (पारद) के रस की सिद्धि, चन्द्रोदय, मकरध्वज आदि रस को ६४ प्रहरी अग्नि देकर जो सिद्ध किया जाता है उसे रसपाक की सिद्धि कहते हैं। सोना (स्वर्ण) पारा व गंधक का एक-एक अपूर्व ही रूप बन जाता है। यह योग बहुत प्रभावशाली होता है। मृत्यु के मुख में पड़े हुए को भी थोड़े समय के लिये मृत्यु मुख से बचा लेता है। कहा = कथा। वांहि=वहीं पर। सकति = शक्ति। फोरि = फोड़कर, उपयोग कर, लगाकर।

अर्थ—सुमति अपने भाई विवेक से पूछती है—मेरे सलोने साजन (प्रियतम) आत्माराम यहाँ आवेंगे या नहीं ? हेभाई विवेक ! सच-सच बताओ आपको मेरी शपथ है, मुझसे सत्य कहो कि वहाँ, उन्हें कुछ प्राप्त हुआ क्या ?

सुमति के वचन सुनकर प्रत्युत्तर में विवेक कहता है—हे सुमते ! वहाँ की कहानी तुम्हें क्या कहूं. कहने जैसी नहीं है। वहाँ वे (चेतन) माया के वश होकर चारों गतियों में भटक रहे हैं ॥१॥

विवेक फिर कहता है कि यह अच्छा हुआ कि अब आत्मराम इधर तेरे सयंम रूप महल में आवेंगे। उधर जाना-चारों गतियों में भटकना है औरइधर आना मोक्षरूप पंचम गति की प्रीति है। हे सुमते ! तुम्हारी प्रीति स्वरूपानुभव रूप परम सिद्धि रस के परिपाक की सिद्धि है। जो समता को धारण करताहै—इसको वरण करता है वह तदाकार वृत्ति रूप अपूर्व परिपक्व अवस्था को प्राप्त करता है।

श्री ज्ञानसार जी महाराज के टब्बे में सिद्धि सिद्धांत पाठ है। उसका अर्थ किया है—सिद्धान्त से जो सिद्ध हुआ है ऐसे स्वरूपा-

नुभव संबंधी जो परम रस है उसके परिपाक की पूर्णता प्राप्त करता है अर्थात आत्म स्वभाव के अनुभव से आत्म स्वरूप की तदाकार वृत्ति की परिपाक अवस्था को अपूर्व रीति से प्रत्यक्ष करता है ॥२॥

विवेक सुमति से कहता है—मैं तुम को केवल इतना ही कहता हूं कि तुम्हारे भरतार चेतन तुम्हारे पास आ गये हैं। अरी भोली ! इधर उधर क्या देखती है वह तेरे ही हैं। जब तू सुमति से मति होकर नाना प्रकार की कल्पना जल्पना में रहती है, वह तेरे से दूर प्रतीत होते हैं अन्यथा वह तेरे पास ही है। विवेक से ऐसे मर्म की बात सुनकर सुमति अपने परिवार—श्रद्धा, क्षमा, मार्दव आदि से कहती है कि अपन सब वास्तव में अनुभव के दास हैं ॥३॥

श्रद्धा,सुमति और चेतना वहीं होती हैं जहाँ चेतन अनुभव होता है। अपनी स्वरूप संबंधिनी शक्ति लगाकर यह सारा परिवार ज्ञानानंद की सघनता में लीन हो गया अर्थात आनंदघन रूप हो गया ॥४॥

जब तक चेतन को अपनी शुद्ध शक्तियों का वियोग है उसे परमानंद प्राप्ति नहीं हो सकती।

उपालम्ब व प्रीतम प्राप्ति ३९ राग—बसंत-धमाल

विवेकी वीरा सह्यो न परें. वरजो न आपके मीत ॥
कहा निगोरी मोहनी मोहक लाल गँवार।
वाके घर मिथ्या सुता, रीझ परें तुम्ह यार ॥ वि० ॥१॥
क्रोध मान बेटा भऐ, देत चपेटा लोक।
लोभ जमाई माया सुता, एह वढ्यो परिमोक ॥वि० ॥२॥
गई तिथ को कहा बामणें पूछै समता भाव।
घर को सुत तेरे मतै, कहा लु कछु वढाव ॥वि० ॥३॥

तब समता उद्यिम कियो, मेट्यो पूरव साज।
प्रीति परम सु जोरिकै, दीन्हो 'आनंदघन' राज ॥वि०॥४॥

पाठान्तर—विवेकी = विवेक (आ)। सह्यो = सहनो (उ)। परै = परि (आ), परैआलीरी (इ.उ)। आपके = सवके (उ)। मोहनी = मोहनीहो (इ.उ)। मोहक = मोह कलाल (आ)। गँवार = गिमार (इ)। घर = पर (इ) सुता = सुताहो (इ.उ)। तुम्ह = कहा (इ)। भये = भयेहो (इ.उ)। जमाई = जवाई (आ)। सुता = सुताहो (इ.उ)। परिमोक = परिकोक (इ), परिफोक (उ)। तिथको = तिथिको (अ), तिथकू (उ), तिथ (इ)। वाभण = वांभणहो (इ), वाभणाहो (उ)। मतै = मतैहो (इ.उ)। कहालु = कहालौं (इ)। करू = करत (इ)। कियो = कियोहो (इ.उ)। प्रीति = प्रीतम (उ)। जोरिकै = जेरिकैहो (इ.उ)। दीन्हो = दीनी (अ), लीनी (इ)।

शब्दार्थ—वीरा = भाई। सह्यो न परै = सहन नहीं होता है, बरदाश्त नहीं होता है। वरजो = रोको। मोहनी = मोहनीय कर्म प्रकृति। मोहक = मोहित करने वाला गुण, लुभावना। लाल = चेतन रूप। मिथ्यासुता = मिथ्यात्व मोहनी नामक कन्या। यार = मित्र। चपेटा = तमाचा, थप्पड़। परिमोक = परिवार, (टव्वेकार श्री ज्ञानसारजी के अनुसार) विस्तार, परम-पद, मोक्ष। गई तिथ = गये हुये मुहूर्त को। वाभण = ब्राह्मण, ज्योतिषी। घर को सुत = स्वरूप घर का पुत्र, ज्ञान गुण। करू वढाव = इससे अधिक बढ़ाकर क्या कहूँ।

अर्थ—सुमति विवेक से कहती है—हे विवेक भाई! मुझे अब सहन नहीं होता है। स्त्री को सोत का दुख मृत्यु से भी अधिक होता है। इसलिये आप अपने मित्र को रोकते क्यों नहीं हो?

निगोडी मोहनी का क्या माजना है—साहस है? उसमें कौन सा ऐसा मोहक गुण है? हे भाई विवेक! तुम अपने मित्र

चेतन को समझाते क्यों नहीं कि गंवार-बुद्धहीन ही इस मोहनी के चक्कर में फँसते हैं। उसका परिवार भी कोई, अच्छा नहीं है। इस मोहनी के मिथ्यात्व मोहनी नामक कन्या है। क्या देखकर उस पर तुम्हारे मित्र चेतन मोहित हो गये हैं ॥१॥

इस मोहनी के क्रोध और मान दो पुत्र हैं। ये दोनों ही पुत्र संसार के लोगों को प्रिय नहीं हैं। ये जहाँ जाते हैं, लोगों से तिरस्कृत होते हैं, लोग इन के थप्पड़ें लगाते हैं। इस मोहनी ने अपनी मिथ्यात्व परिणति रूपी कन्या का लोभ के साथ पाणिग्रहण कर दिया है। लोभ जवांई (जामाता) तथा मिथ्यात्व मोहनी के संयोग से माया नामक कन्या उत्पन्न हुई है। इस प्रकार इस मोहनी के परिवार का विस्तार फैला हुआ है। (एह बढ्यो परिमोक के स्थान पर 'यह चढ्यो परिमोक' पाठ रखा जावे तो यह अर्थ होगा—इस मोहनी ने परम पद मोक्ष के अभिलाषियों पर अपने परिवार सहित चढाई कर रखी है। हे विवेक बन्धु! मोहनी के परिवार पर तुम्हारे मित्र रीझे हुये है और व्यर्थ ही जंजाल बढ़ा रहे हैं। यह मुझे सहन नहीं होता ॥२॥

योगीराज ने इस पदमें बडे सुन्दर ढंग से जीव की विभाव दशा का वर्णन किया है। कषायों का यथार्थ स्वरूप दिखाकर जिज्ञासु को चिन्तन के लिये तथा अपने सुधारके लिये सरल शब्दों में प्रेरक सामग्री दी है।

सुमति के यह वाक्य सुनकर विवेक कहता है—हे सुमते! विगत तिथि का मुहूर्त ब्रह्मण से क्या पूछती है अर्थात बीते हुये समय का वर्णन ज्योतिषी से क्या पूछती है। होना था, वह हो चुका। तेरे लिये यह कितना बड सौभाग्य है कि तेरा पुत्र बैराग्य तो तेरे आधीन है। उसकी प्रशंसा कहाँ तक बढाकर वर्णन करूं। टब्बे में

श्री ज्ञानसारजी ने यह अर्थ किया है—'तेरे स्वरूप रूप घर का पुत्र ज्ञानगुण तेरे मत का ही है–तेरे तावे है इसलिये जब चेतन का तेरे से मिलाप होगा तब ही वह केवल ज्ञान रूप पुत्र का मुख देख सकेगा। इसलिये तू खेद न कर। चेतन कहाँ तक मोहनी का परिवार वढावेगा यदि उन्हें केवल ज्ञान रूप पुत्र का मुखदेखना होगा तो तेरे पास आना ही होगा ।।३।।

नोट—श्री ज्ञानसार जी महाराज ने 'घर को सुत' का अर्थ 'केवल ज्ञान' किया है। इसलिये तीसरे पद के अंतिम पंक्ति की व्याख्या उनके अनुसार ही की गई है। हमने 'घर का सुत' का अर्थ वैराग्य किया है।

विवेक के उपदेश से समता ने आत्म रूप पति से मिलने का उपाय किया और आत्मा मे रमकर उसके सम्पूर्ण पूर्व के साथ को दूर कर दिया (छुडा दिया) अर्थात् मोहनी और उसके परिवार का साथ छुडा दिया परम तत्व आत्माराम से निरूपाधिक प्रीति जोडकर आनंदघन रूप मुक्ति नगरी का राज्य दे दिया। तात्पर्य यह है कि विवेक प्राप्त होने पर आत्मा में समत्व आ जाता है और उससे कषाय व मोह दूर हो जाता है। इससे परम पद की प्राप्ति हो जाती है ।।४।।

उपालम्ब व मिलन **४०** **राग–सारंग**

अनुभौ तू है हितू हमारौ।

आउ उपाउ करो चतुराई, और को संग निवारो ।।अनु०।।१।।
तिसना रांड भांड की जाई, कहा घर करै सवारौ।
सठ ठग कपट कुटंबहि पोषत, मन में क्यूं न विचारौ ।।अनु०।।२।।
कुलटा कुटिल कुबुधि संग खेलिके, अपनी पत क्युं हारौ।
'आनन्दघन' समता घर आवै, बाजै जीत नगारौ ।।अनु०।।३।।

पाठान्तर—अनुभौ = अनुभव (इ)। तू है—तु हि (उ)। हितू = हितु (अ), हेतु (इ.उ)। आउ=आय (इ)। उपाउ=उपाव (आ), उपाय (इ)। औरको =औरन (इ)। घर = घरइ सवांरी (आ), घरि (उ)। मनमे.... विचारो= वाको संग निवारो (इ)। में = मइ (आ)। संग = संगि (आ)। अपनी = आपनी (आ)। क्यु = क्यूं (इ)।

शब्दार्थ—हितू = हितेच्छु, भलाई चाहने वाला। उपाउ = उपाय और = अन्य, माया-ममता। निवारो = दूर करो। तिसना = तृष्णा, संग्रह की लालसा। जाई = उत्पन्न हुई, पैदा हुई, पुत्री। सवांरी = सँवारना, संभालना, कल्याण। सठ = शठ, दुष्ट। पोषै = पोषण करती है, पालती है। पति = पत, प्रतिष्ठा, इज्जत, विश्वास।

अर्थ—हे अनुभव! तुम तो हमारे (मेरे व चेतन दोनों के) हितेच्छु हो—भलाई करने वाले हो। चेतन (मेरे-स्वामी) के पास जाकर ऐसी चतुराई या ऐसा उपाय करो जिससे वह (चेतन) माया-ममता का संग (साथ) न करे।।१।।

यह तृष्णा रांड तो भांड की पुत्री है जो नकल करके लोगों को प्रसन्न किया करती है। इसने किसके घर में प्रकाश फैलाया है? किसके घर को सजाया है? यह तो दुष्ट, ठग, कपट आदि अपने परिवार का ही पोषण करती रहती है। इस स्पष्ट और सीधी सच्ची बात को आप मन में क्यों नहीं विचारते हो, सोचते हो।।२।।

इस कुलटा, दुष्ट, कुबुद्धि के साथ खेलकर इस के हाथों का खिलौना बनकर, आप अपनी प्रतिष्ठा क्यों खोते हो अथवा आप में हमारा जो विश्वास है (आप हमारे हितेच्छु हो यह विश्वास, क्यों नष्ट करते हो?) आनंद के समूह चेतन समता के घर आ जावें तो विजय के नगारे बजने लगें अर्थात सब कार्य सिद्ध हो जावें।।४।।

प्रिया विवशता, व प्रियतम का मिलन ४१ राग–धन्यासिरी

वालूडी अवला जोर किसौ करै, पीउडो पर घर जाइ।
पूरब दिसि तजि पच्छिम रातडौ, रवि अस्तंगत थाइ ॥वा०॥१॥
पूरण शशि सम चेतन जाणियै, चन्द्रातप सनाण।
बादल भर जिम दल थिति आणियै, प्रकृति अनावृत जाण ॥वा०॥२॥
पर घर भमता स्वाद किसौ लहै, तन धन जोवन हाणि।
दिन दिन दीसै अपजस, वाधतो, निज मन मानै न काणि ॥वा०॥३॥
कुलवट लोपी अवट ऊवट पडै, मन महुता नै घाट।
आंधै आंधौ जिम जग ठेलियै, कौण दिखावै वाट ॥वा० ॥४॥
बंधु विवेकै पीवडौ बूझव्यौ, वार्यो पर घर संग।
हेजै मिलीया चेतन चेतना, वरत्यो परम सुरंग ॥वा० ॥५॥

पाठान्तर—पीउडो = पियडौ (अ)। घर = घरि (अ)। जाइ = जाय (इ.उ)। तजि = जप तप (इ,उ) थाइ = थाय (इ.उ)। पूरण = पूरव (इ) पूनम = (व.वि.) जाणीयै = जाणीइ (इ.उ)। नाण = भाण (इ)। अनावृत = अनाहृत (अ) भमता = भमतां (आ); भमत (अ)। जोवन = योवन (इ.उ) मन = जन (अ)। मानै = मांनइ (अ)। लोपी = खोइ (इ)। अवट ऊवट पडै = अवट उवट पडइ (उ)। नै = नई (आ)। मन महुता = मान महुआ (इ), मन मे हुआ (वि) आंधै = आंधइ (अ) जिम जग ठेलिये = जिम ठेलिये (इ,उ)। मिले वे जण (व.वि.क)। कौण = कूण (इ), कुण (उ)। दिखावै = दिखाडै (इ)। वार्यो = चार्यो (आ)। हेजै....सुरंग = होजइ मिलिया चेतना, वरत्थी परम सुरंग (आ)। हेलै मिलिया चेतन चेतनां, वरत्यौ परम सुरंग (अ) 'आनंदघन' समता घर आणे वाधे नव नव रंग (व. वि. क)।

नोट—हमारी चारों प्रतियों में ही आनंदघन जी की नाम वाली पंक्ति नहीं है। और छपी हुई प्रतियों में हमारी अंतिम पंक्ति नहीं है, यह आगे शोध का विषय है। जब तक कोई अन्य प्राचीन प्रति १८ वीं शताब्दी की न मिले तब तक कहा नहीं जासकता है।

शब्दार्थ—वालूडी = वाला, अल्प वयस्क। अस्तंगत = अस्त। चंद्रातप = चांदनी। नाण = ज्ञान। वादल भर = बद्दलों का घिराव। दल थिती = कर्म दलों की स्थिति। आणियै = जानिये। प्रकृति = स्वभाव। अनावृत = बिना ढकी हुई, खुली। भमतां = भ्रमते हुये, भटकते हुये। तन = स्वरूप। हाणि = हानि। वाधतौ = बढता हुआ। कांणि = मर्यादा। कुलवट = कुल की मर्यादा, वंश गौरव। अवट = उलटे रास्ते। ऊवट = ऊवड खावड, असमतल। महुता = महता, मंत्री। घाट = चक्कर में आना, वशीभूत होना। ठेलियै = धकेलना। वाट = मार्ग। बूझव्यौ = समझाया। वार्‌यो = छुडा दिया, अलग कर दिया।

अर्थ—बेचारी बाला स्त्री क्या जोर (अधिकार) दिखावे—किस प्रकार क्रोध दिखलाकर अपने पति को पर घर (ममताकेघर) जाने से रोके। पूर्व दिशा को त्यागकर पश्चिम दिशा से अनुरक्त सूर्य अस्त हो जाता है और अंधकार छा जाता है। अर्थात्—चेतन जब समता रूपी स्व परिणति को छोडकर ममता रूपी पर परिणति में चला जाता है तो उसका ज्ञान प्रकाश अस्त हो जाता है अज्ञानान्धकार छा जाता है ॥१॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान चेतन को समझना चाहिये और उस की चांदनी के समान ज्ञान को जानना चाहिये। चन्द्रमा जिस प्रकार बादलों से घिर जाता है उसी प्रकार यह चेतन कर्म दलिकों से आवृत्त हो जाता है - ढक जाता है ॥२॥

दूसरों के घर भटकने से क्या स्वाद मिलता है? क्या आनंद आता है? केवल मात्र धन, योवन और शरीर की क्षति है और

दिनों दिन अपयश वढता जाता है तथा मन अपनी मर्यादा को नहीं मानता है। वेकावू हो जाता है। लाज-शर्म छोड देता है ॥३॥

अपने कुल की मर्यादा लोपकर मन रूपी मंत्री के चक्कर में पडकर उल्टे और उवड-खावड मार्ग में-उन्मार्ग में (बुरे रास्ते) चेतन राज जा पडा है। अन्धा मनुष्य अंधे मनुष्य का ही सहारा लेकर चले तो संसार में रास्ता कौन दिखा सकता है। नेत्र हीन व्यक्ति यदि नेत्रवाले का साथ करे तवही वह मार्ग पार कर सकता है ॥४॥

समता की वातें सुनकर, विवेक वन्धु ने चेतन स्वामी को समझाया और पर परिणति रूप पर घर का साथ छुडाया। उस समय चेतन व चेतना सहज ही मिलगये जिससे सहजानंद रूप परम सुरंग रंग प्राप्त होगया।

आश्वासन व प्रियतम केलि ४२ राग–तोडी (टोडी)

मेरी तुं मेरी तुं काहे डरै री।
कहे चेतन समता सुनि आखर, और देढ़ दिन झूठी लरै री॥
मेरी०॥१॥

एती तो हूँ जानु निहचै, री री पर न जराव जरै री।
जव अपनो पद आप संभारत, तव तैरै परसंग परै री ॥मेरी०॥२॥
औसर पाइ अध्यातम सैली, परमातम निज जोग धरै री।
सकति जगाइ निरूपम रूप की, 'आनन्दघन' मिलि केलि करै री॥
मेरी०॥३॥

पाठान्तर—मेरी.......डरैरी = मेरीतुं, मेरी तुं, मेरी तुं मेरी तुं मेरीतुं काहे डरैरी (अ.उ)। कहे = कहि (इ)। समता = सुमता (इ.उ)। देढ = मेढ (इ)। लरै = लरइ (अ)। तो = तउ (अ), तौ (इ.उ)। पर न =

परत (आ)। जरै = जरइ (अ)। पर संग = पद संग (इ)। परै = परइ (अ)। औसर = अवसर (अ)। जोग = योग (इ)। धरै = धरइ (अ)। सकति = सगति (इ)। जगाइ = जगावे (इ)। मिलिकेलि = मिलकेल (इ), पद केव (उ)। करै = करइ (अ), करी (उ)।

शब्दार्थ—झूठी = व्यर्थ, झूठमूठ ही। निहचै = निश्चय। री री = पीतल। पद = स्वरूप। संभारत = संभालेंगे, याद करेंगे। परसंग = प्रसंग, संगति। औसर = अवसर, समय। अध्यातम = आत्मा सम्बन्धी। सैली = शैली, रीति, ढंग। निरुपम = अनुपम, अनोखा। केलि = क्रीडा, आनन्द।

अर्थ—चेतन कहता है—हे सुमते! तू मेरी है, तू मेरी है, फिर क्यों डर रही है, तेरे भय का क्या कारण है? ममता का और मेरा सुदीर्घकाल का सम्बन्ध है, इसको वह (ममता) हटता हुआ-टूटता हुआ देखकर एक डेढ दिन (एक दो दिन) अर्थात् कुछ समय तक तो तुझसे मुझसे व्यर्थ ही झगड़ा करेगी, परन्तु तू विश्वास रख, मैंने उसे अब अच्छी तरह से पहिचान लिया है। उसने मुझे बहुत भटकाया है। उसके फेर (फंदे) में मैंनें अनन्त वेदनायें सही हैं। उसके चक्कर में (फंदे में) मैं अब नहीं आऊंगा-नहीं पड़ूंगा। इसलिये एक दो दिन में वह निराश होकर सदा के लिये स्वतः पलायन कर जावेगी॥१॥

इतना तो मैं निश्चयपूर्वक जानता हूं कि चतुर जौहरी पीतल पर कभी हीरे पन्ने आदि बहुमूल्य रत्न नहीं जड़ाते हैं और यह भी मैं अच्छी तरह ज़ानता हूं कि तेरी ही संगति से मैं अपने स्वरूप को पहिचानता हूं। (सुमति की संगति से ही चेतन अपने स्वरूप को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी बनता है)॥२॥

आध्यात्म शैली अर्थात् जिसमें आत्मा की ओर ही लक्ष रहे, उस ही की धुन रखे और समय पर परमात्मा योग धारण करे—परमात्मपद प्राप्त करने के लिये जिस प्रकार महापुरुषों ने प्रयत्न

किया था उसे यथार्थरूप से जानकर, उसी प्रकार आचरण करे। इस प्रकार परमात्मपने का योग धारण कर अपनी अनुपम शक्तियों को जो सुदीर्घ काल से सुप्त पड़ी हैं, उन्हें जागृत करे। अपने में गुप्त वीर्य शक्ति से ज्ञानानंद प्राप्त कर समत्व भाव में रमण करे ॥३॥

नोट—जब जीव पुरुषार्थ करते-करते थक जाता है तब उसे काल लब्धि का सहारा लेना ही पड़ता है। समय पर ही सब कुछ होता है। समय पर ही सूर्य उदित होता है; समय पर ही वर्षा होती है; समय पर ही सर्दी व गर्मी पड़ती है। इस प्रकार काल का महत्व सिद्ध होता है। ज्ञानियों ने पांच कारण मिलने पर कार्यसिद्धि बताई है। वे पांच समवाय कारण ये है-(१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति, (४) पूर्व कृत्य और (५) उद्यम। काल लब्धि का परिपाक कब होगा यह तो सर्वज्ञ के सिवाय कोई नहीं जानता। इसलिये जीव को पुरुषार्थ करने में कभी कमी नहीं करनी चाहिये।

प्रियतम को उपालम्ब व प्रार्थना **४३** **राग–सारंग**

अनुभौ हम तो रावरी दासी।
आइ कहाँ ते माया ममता, जानु न कहा की वासी ॥अनु०॥१॥
रीझि परै वाके संग चेतन, तुम्ह क्यु' रहे उदासी।
वरजो न जाइ एकंत कंत कु', लोक में होवत हाँसी ॥अनु०॥२॥
समझत नांहीं निठुर पति एती, पल इक जात छै मासी।
'आनन्दघन' प्रभु को घर समता, अटकलि और लिबासी ॥अनु०॥३॥

पाठान्तर—हम तो = हम हे (इ)। रीझि = रीझ (इ.उ)। तुम्ह = तुम (इ.उ)। रहे = रहत (इ). रहै (उ)। वरजो = वरज्यो (इ.उ)। होवत = होत न (आ)। पल इक = पलक (इ)। आनन्दघन.........समता = आनन्दघन

प्रभु घर समता के (आ), आनन्दघन प्रभु घट की समता (उ) आनन्दघन प्रभु घर की समता (क.वु.वि.)। अटकलि = अटकल (इ)। लिवासी = निवासी (उ), लवासी (आ), (क.वि), लखासी (व)।

शब्दार्थ—रावरी = आपकी। रीझि परे = आसक्त हो गये, मोहित हो गये। एकंत = सर्वथा। अटकलि = काल्पनिक, आनुमानिक। लिवासी = छद्मवेशी।

अर्थ—सुमति कहती है—मैं तो आत्माराम की दासी हूं। हे अनुभव ! वताओ, यह माया-ममता कहां से आ गई। मैं तो यह भी नहीं जानती कि यह (माया-ममता) किस देश की रहने वाली है ॥१॥

अनुभव कहता है—चेतन उस माया पर मोहित हो गये हैं। इसलिये उसी के साथ रहते हैं, पर इससे तुम उदास क्यों रहती हो ? तुम अपना स्वभाव क्यों छोड़ती हो ?

प्रत्युत्तर में समता कहती है—'हे अनुभव !' पति को सर्वथा रोका नहीं जा सकता, क्योंकि इससे मेरी लोक में हँसी होती है। लोग कहेंगे कि पति को वश में कर रखा है, न मालूम कौन से वशीकरण का प्रयोग किया है। इस प्रकार लोग वातें वनाकर मेरी हँसी करेंगे, वह कैसे सहन की जा सकती है ? लोग पति के लिये कहेंगे कि यह स्त्रैण है—स्त्री का दास है। पति का यह उपहास मुझे सर्वथा असह्य होगा ॥२॥

निष्ठुर पति इन वातों को समझ नहीं रहे हैं। इसलिये मेरा एक एक पल छै छै मास के समान व्यतीत होता है। आनदं के समूह प्रभु (चैतन्य) का घर (घर वाली) तो समता ही है। अन्य तो (माया-ममता) आनुमानिक है काल्पनिक छद्मवेषी है ॥३॥

प्रेमोपालम्ब, सखि संवाद ४४ राग—कान्हरौ

पिया तुम निठुर भये क्यु ऐसे ।
मैं तो मन क्रम करी राउरी, राउरी रीती अनैसे ॥पि० ॥१॥
फूल फूल भंवर की सी भांउरी भरत हो, निवहै प्रीति क्यु अैसे ।
मैं तो पिय तैं अैसी मिली आलो, कुसुम वास संगि जैसे ॥पि० ॥२॥
अठी जात कहा पर एती, नीर निवहीयै भैसै ।
गुन औगुन न विचारो 'आनंदघन', कीजीयै तुम हो तैसे ॥पि० ॥३॥

पाठान्तर—पिया = प्रीया (च) । ऐसे = अैसे (अ) । करी = करि (अ), कर (इ.उ) । राउरी = रावरी (उ) । रीति = रीत (इ.उ) । नोट—"उ" प्रतिमें 'मैंतो""राउरी' के स्थान पर 'मैं तेपिय वै अैसी मिली याली' है। सी = सो (उ) । अैसे=एसे (उ) । पिय = प्रिय (अ) । नोट—'उ' प्रति में 'मै तो ""आली के स्थान पर "मैं तो मन वच क्रम करी रावरी" है। वास संग = वासि संग (अ), वान संग (इ.उ) अैठी = अैंठी (इ), एसी (उ) । जात = यांन (इ) नीर निवहीयै = नीर न वहियै (अ), नारी नवहिइ (उ) । नोट—'उ' प्रति में यहाँ पाठ इस प्रकार है। "ऐसीं भैजात कहा पर येती, नारी न वहिइ मैंसे (उां)अै वीथा न कहा पर एती, नित निरवहियै भैंसे" । औगुन=अवगुन (अ) औगुन विचारो (आ) ।

शब्दार्थ—निठुर = निष्ठुर, कठोर । क्रन = कर्म । अनैसे = बुरी, अनिष्ट कारक, और ही तरह की । भंवर की सी = भ्रमर जैसी । भांउरी भरत हो = चक्कर काटते हो ।

अर्थ—सुमति अपनी सखी श्रद्धा को साथ लेकर अपने स्वामी चेतन को उपालम्ब देती हुई प्रसन्न करने का प्रयत्न करती है ।

सुमति कहती है—हे नाथ! आप ऐसे कठोर हृदय क्यों हो गये, जो मेरी खोज खबर ही नहीं लेते हो। मैं तो मन, वचन और कर्म से (काया से) आपकी ही हूं। सदा आपके स्वभावानुसार चलने वाली हूं किन्तु आप की रीति (व्यवहार) और ही तरह की है—अच्छी नहीं है, अनिष्ट कारक है ॥१॥

जिस प्रकार भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर फिर तीसरे पर चारों ओर चक्कर काटा करता है (घूमता है) उसी प्रकार हे चेतन-राज! आप ममता के वश होकर चारों ओर भटक रहे हो। इस प्रकार प्रीति (प्रेम) कैसे निभ सकती है? जब आप पर भाव में रमे हुये हो तो मुझ से प्रीति कैसे कर सकते हो।

फिर श्रद्धा की ओर देख कर सुमति कहती है-हे सखि! मैं तो अपने प्रिय चेतन के साथ इस प्रकार एक रंग हो रही हूं जिस प्रकार फूल में सुगंध बसी रहती है ॥२॥

सुमति की यह बात सुनकर श्रद्धा कहती है - हे सुमते! फूल का और सुगंध का जो संबंध है वह तो तेरा और चेतन का नहीं है, वह संबंध तो चेतना का है तू यह अभिमान की बात क्यों करती है? किस बल पर इतनी अकड दिखाती है? बैल के न होने पर क्या भैंसे पर पानी नही लाया (ढोया) जाता? हे सुमते! तेरा व चेतन का संबंध उपशांत मोह ग्यारहवें गुण स्थान तक ही है। यथाख्यातचारित्र जो, १२वें, १३वें गुण स्थानों में होता है, वहाँ तेरी गति नहीं है। वहाँ तो चेतना ही का साथ है। इस चेतावनी को सुन कर सुमति तनिक लज्जित होकर चेतन से कहती है कि आनंद रूप चेतन प्रभु! मैं आगे गुणस्थानों में नहीं पहुँचा सकती—इस अवगुण का, तथा चेतना अंत तक पहुँचा सकती है—इस गुण का विचार न कर के मुझे आप जैसे हैं वैसी बना लीजिये ॥३॥

श्री ज्ञानसारजी महाराज ने अपने टब्बे में इम प्रकार इस पद का अर्थ किया है। सुमति श्रद्धा सखी सहित आत्म भरतार से उपालम्भ के रूख से विनती कर मनाने की इच्छा करती हुई कहती है - हे भरतार ! आप कठिन हृदय किस कारण से हो गये ? मैं तो मन कर के, वचन कर के, काया कर के आप ही की रीति-चाल को ग्रहण किये हुये हूं, फिर भी आप ऐसे निष्ठुर क्यों हो ॥१॥

हर्षित भँवरा जिम प्रकार फूल पर बार बार फिरता है, उसी प्रकार मैं फिर रही हूं किन्तु आप को मेरी गिनती नहीं है। गिनती रखे विना प्रीति कैसे निभ सकती है। सुमति ने जब ऐसे वचन भरतार से कहे तब श्रद्धा सुमति से कहती है—हे सखि ! तुम 'गाडरी रीति अनैसे' ऐसा मुख से कहती हो, पर कोई भी रीति से तुमने भरतार से दुभांत दिखाई होगी तभी भरतार निष्ठुर हुए होंगे-मन फेर लिया होगा। इस पर सुमति श्रद्धा से कहती है—हे सखि ! मैं तो फल और सुवास के मिलाप के समान भरतार से मिल रही हूं किन्तु मालूम नहीं भरतार किस कारण निष्ठुर हो रहे हैं ॥२॥

सुमति फिर कहती है—हे सखी श्रद्धा ! मैं तो जितनी बात कहती हूं—सीख की कहती हूं, और वह अँठे जाते हैं-अवगुण मानते हैं। इस का क्या कारण है ? पखाल (पानी भरने का चमडे का वडा थैला) के पाणी का निभाव बलद (बैल) से होता है पर वह हाजिर न हो तो भैंसे से ही निभाना पड़ता है अर्थात् शुद्ध चेतना रूप बलद के अभाव में मुझ सुमति भैंसे से ही निर्वाह करें। मेरे और शुद्ध चेतना अवगुण गुण न विचारें। मेरे से दशम गुणस्थान के ऊपर नहीं चढा जा सकता है। इस अवगुण को तथा शुद्ध चेतना से बारहवें तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान अरोहण रूप गुण का विचार न कर के हे आनंद के समूह आत्माराम ! आप आनंदघन हो, इस भांति मुझे भी अपने चेतन स्वभाव में मिला लीजिये ॥३॥

विनती ४५ राग—जैजैवन्ती

ऐसी कैसी घर बसी, जिनस अनैसी री।
याही घर रहसी वाही आपद हैसी री ।।ऐसी०।।१।।
परम सरम देसी घर मेउ पैसी री।
याही ते मोहिनी मैसी, जगत संगैसी री ।।ऐसी०।।२।।
कौरी की गरज नैसी, गुरजन चखैसी री।
'आनन्दघन' सुनौसी, बंदी अरज कहैसी री ।।ऐसी०।।३।।

पाठान्तर—ऐसी = अइसी (आ), अैसी (अ), इसी (उ)। घर = घरि (अ.उ)। है सी री = है इसी री (अ)। मेउ = मउ (अ), मैहु (इ)। मैसी = मइंसी (उ)। जगत संगैसी री = जग जस गैसी री (अ.इ), जस रहसी री (उ)। गुरजन = गुरज (आ)। सुनौसी = सुनैसी (आ)। बंदी = वांदी (उ)। कहैसी री = कहिसीरी (उ)। नोट—'आ' प्रति में नं० २ का पद नहीं है जबकि अ.इ.उ तीनों प्रतियों में है।

शब्दार्थ—घर वसी = घर में वस गई,—रह गई। जिनस = जिन्स, वस्तु। अनैसी = अमंगलकारी, अनिष्टकारी। पैसी = घुसकर, प्रवेशकर। परम सरम=अत्यन्त लज्जा। मैसी = मेषी, मादा भेड। कौरी = कोडी। गरज = प्रयोजन, मतलब। नैसी = बुरी। चखैसी = चखने वाली, खाने वाली, नाश करने वाली।

अर्थ—सुमति कहती है—यह ऐसी अनिष्टकारी माया किस प्रकार ज्ञान स्वरूप चेतन के घर में बस गई है। यह जिस के घर में रहती है वहाँ अनेकानेक संकट व विपत्तियां पैदा करती है।।१।।

घर में प्रवेश कर यह अत्यन्त लज्जा दिलाने का कारण होती है। लोग अनेक प्रकार से उपहास करते है जिस से लज्जित

होना पडता है। भेड के समान यह मोहनी माया संसार से संबंध रखने वाली है ॥२॥

इस ही लिये इससे एक कौडी की भी गरज सरनेवाली नहीं है। अनुभव विवेक आदि गुरुजनों को यह नाश करने वाली बडी बुरी है। यह बंदी (दासी) सुमति माया के सव गुण वर्णन कर रही है। हे आनंद स्वरूप चेतन ! इन्हें सुनिये, और माया का साथ छोड दीजिये ॥३॥

विनय **४६** **राग—सारंग**

नाथ निहारो न आप मता सी ।

वंचक सठ संचक सी रीतै, खोटो खातो खतासी ॥नाथ०॥१॥

आप बिगूचन जग की हांसी, सैणप कौण बतासी ।

निज जन सुरिजन मेला असा, जैसा दूध पतासी ॥नाथ०॥२॥

ममता दासी अहित करि हर विधि, विविध भांति संतासी ।

"आनन्दघन" प्रभु बीनती मानो, और न हितू समता सी ॥नाथ०॥३॥

पाठान्तर—नाथ''''' मतासी = नाथ निहारो आप मत मतासी (इ), नाथ निहारू आप सनामी (उ)। संचक = चंचक (उ)। रीतै = रीतइ (उ)। निज''''ऐसा = निज जन मेला ऐसा (आ) ममता = समता (इ)। करि = करै (अ)। हर = हरि (इ)।

शब्दार्थ—आप मता सी = आप के मतानुयायी। वंचक = ठग, धूर्त। संचक = कृपण, संचय करने वाला, जमाखोर। खातो = हिसाव, खाता। खतासी = खताया जायगा, लिखा जायगा। बिगूचन = बुराई करना, असमंजस, डूवना। सैणप = सयानापन, बुद्धिमत्ता। बतासी = बतायेगा। सुरिजन = सज्जन लोग। पतासी = पताशा, बताशा। संतासी = सतायेगी, दुख देगी।

अर्थ—सुमति कहती है—हे चेतन ! आप विश्वास क्यों नहीं करते कि मैं आप की इच्छानुसार चलने वाली हूं। धूर्त, कपटी और कृपण ममता बुरा खाता खताने वाली है अर्थात दुर्गति में लेजाने वाली है ॥१॥

ममता का साथ अपने आपको दुखों में डालना या डुबोना है, साथ ही संसार में अपनी हसी कराना है। ऐसे कार्य को कौन बुद्धि-मत्ता (समझदारी) कहेगा ? अपने सगे सम्बंधियों व सज्जन पुरुषों का मिलाप तो दूध-बताशे के समान है जिससे मधुरता की वृद्धि होती है अर्थात् सयंम-सतोष विवेक आर्जव औरमार्दव आदि चेतन के स्वजन है। इनके संयोग से अनेक गुण प्रकट होते हैं और उनकी वृद्धि होती है ।।२॥

इनके विपरीत ममता दासी व उसका परिवार हर प्रकार से अहितकर है और अनेक प्रकार के संतापों को (दुखों को) उत्पन्न करनेवाला है । योगीराज आनंदघनजी कहते हैं—हे आनद के समूह चेतन ! मेरी विनय सुनो, समता के समान आपका हितकारी और कोई नहीं है ॥ ३ ॥

सपत्नी दोष वर्णन ४७ राग—सोरठ

वारौ रे कोई पर घर भमवानो ढाल, नान्हीं बहु नै पर घर भमवानो ढाल ।
पर घर भमतां झूठां बोली थई देस्यै धनीजी नै आल ॥वा०॥१॥
अलवै चालो करती देखी, लोकडा कहिस्ये छिनाल ।
ओलंभडा जरण जरण ना आरणी , हीयडे उपासै साल ॥वा०॥२॥
बाई पडोसरण जोवो नै लिगारेक, फोकट खास्यै गाल ।
'आनंदघन' सुरंग रमे तो, गोरे गाल भबूकइ झाल ॥वा०॥३॥

पाठान्तर—भगवानो = रमवानो (अ.इ.) भमवांवो (उ) । ढाल = टालो (उ) । भमतां = रमता (अ.इ) । भूठां = भूठो (उ) देस्यै = देसइ (आ.उ.) धनीजीनं = धणीनं (इ), धणीजीनं (अ.उ.) । चालो = चाला (आ) । देखी = द्वीडै (इ) । लोकडा = लोकडला (अ) । कहस्ये = कहिसइ (आ), कहसी (अ), कहिसै (उ) । जण जण = जिण जिण (अ) । हीयडै = हीयडइ (आ), हियडै (अ) । उपासै = उपासइ (आ), उपास्ये (अ.इ.) । वाई = वाई (आ), वाइ रे (उ) लिगारेक = लगारेक (आ) । खास्यै = खासइ (आ), खासी (उ) । सुं = स्यु (अ,इ), सु (उ) । रंग रमै = रंगे रमे (उ), रंग रमइ (आ) । गाल = गालि (आ) । भवूकइ = भवूके (अ) ।

शब्दार्थ—वारो = रोको । भमवानो = भ्रमण करनेका, घूमनेका । ढाल = आदत । नान्ही = छोटी । थई = होगई । धनीजी = पतिदेव, स्वामी । आल = कलंक । अलर्व = इधर उधर की व्यर्थ बातें । चालो = काम, ख्याल, तमाशा । लोकडा = लोग । छिनाल = वदचलन, व्यभिचारिणी । ओलंभडा = उपालम्भ । जण जण ना = प्रत्येक व्यक्ति के । हियडे = हृदय में । उपासै = उत्पन्न होना । घाव = छेद, छाप, रडक, कांटा । जोवो = देखो । लिगारेक = तनिक । फोकट = व्यर्थ, मुफ्त । गाल = गाली, अपशब्द । रंग रमे तो = रंग मे क्रीडा करे तो; ज्ञानानंद मे मग्न हो जाय तो । भवूके = चमके, चमकने लगे । भाल = ज्योति ।

अर्थ—समता अपने सम्बंधी अनुभव, विवेक, श्रद्धा आदि से वात करती हुई कहती है—"चेतन की इस छोटी स्त्री-अशुद्ध चेतना को पर घर-पौद्गलिक भावों में घूमने की कुटेव (खराब आदत) पडी हुई है अरे कोई भी इसकी पर घर घूमने की आदत को छुडावो । पर घर घूमने से यह भूंठ वोलने वाली हो गई है रागद्वेष वश होकर कृत्य को अकृत्य और अकृत्य को कृत्य कहने लगी है इस प्रकार यह अपने स्वामी चेतन को वहकाती है जिससे पति को कलंकित होना पडता है ॥१॥

इसकी इधर उधर की फालतू प्रवृति को देख कर लोग इसे पुंश्चलि (छिनाल) कहते हैं। स्वाभाव परिणति को छोड कर जब चेतना राग-द्वेष पर भावों में भटकती है, तब बुद्धिमान इसे छिनाल कहें तो कोई अयुक्त नहीं। यह प्रत्येक से उपालम्भ लाती है जिस से हृदय में छेद हो जाते हैं ॥२॥

समता, श्रद्धा, सुमति आदि को कहती है, हे बहिनों! जरा इधर तो देखो—यह (अशुद्ध चेतना) व्यर्थ ही गालियें क्यों खाती है क्यों बदनाम होती है। यदि यह आनंदधन चेतन के रंग में रमण करे तो इसके स्वभाव रूप गोरे गालों पर उपयोग रूप तेज चमकने लगे और सब दुर्गुण नष्ट हो जावें ॥३॥

प्रेम लक्षरणा भक्ति ४८ राग—केदारो

प्रीति की रीति नई हो प्रीतम, प्रीति की रीति नई।
मैं तो अपनो सरवस वार्‌यो, प्यारे कौन लई ॥प्री०॥१॥
मैं बस पिअ के पिअ संग और के, या गति किन सिखई।
उपकारी जन जाय मिनावो, अब जो भई सो भई ॥प्री०॥२॥
विरहानल जाला अति प्रीतम, मो पैं सही न गई।
आनंदघन' ज्युं सघन घन धारा, तब ही दै पठई ॥प्री०॥३॥

पाठान्तर—मैं = में (इ,उ)। बस = बसो (आ), बसु (अ,उ)। पिअ के पीअ = प्रीअ के पीय (अ), पिय के पिय (इ,उ)। सिखई = सखई (अ), सिखाई (उ)। उपकारी = उपगारी(इ)। अब जो भइ = जो कछु भई (इ)। सो = सु (अ), जाला = झाला (इ), ज्वाला (उ)। अति प्रीतम=अभिपम (अ) अति हि कठिन है (इ)। ज्युं = जु (अ), यु (इ), यूं (उ)। घन = रस (अ)।

शब्दार्थ—सरवस = सर्वस्व। वार्‌यो = निछावर कर दिया। मिनावो = मनावो, प्रसन्न करो। पठई = भेजी।

अर्थ—हे प्रियतम ! आपने यह तो प्रीति की नवीन ही रीति अपनाई है। यह प्रेम-पंथ तो नहीं है। हे प्यारे ! मैं ने तो अपना सर्वस्व आप पर निछावर कर दिया है और आप किसी दूसरी को ही अपनाये हुये हैं ॥१॥

समता श्रद्धा व विवेक से कहती है—मैं तो अपने प्रियतम चेतन के वश में हूं और प्रियतम ममता के संग रंगरेली कर रहे हैं। समझ में नहीं आता कि यह ढंग किसने सिखाया है। हे श्रद्धे ! हे विवेक ! आप ही मेरे परम उपकारी हैं। आप लोग चेतन को जाकर समझावो-प्रसन्न करो और कहो कि जो कुछ होना था वह हो गया। समता इन गई गुजरी बातों का तुम्हें उपालम्भ नहीं देगी। आप बीती बातों की चिन्ता न कर उस के पास पधारो ॥२॥

विवेक और श्रद्धा चेतन से कहते हैं-हे प्रिय चेतन ! आप जानते हो कि विरह-अग्नि की ज्वाला बडी दारुण होती है, उस से (समता से) सही नहीं गई इसलिये आप को लेने के लिये हमें भेजा है। विवेक और श्रद्धा के मिलन से चेतन का दृष्टि-मोह हटता है और स्वरूप-ज्ञान प्रगट होता है। तुरंत ही आनंदघन चेतन समता की विरह ज्वाला को बुझाने के लिये सघन मेघ की धारा (आनंद की धारा) देकर श्रद्धा व विवेक को भेज दिया ॥३॥

तात्पर्य यह है-श्रद्धा और विवेक होने पर ही यह जीव ममता के वश नही होता, उसे समत्व प्राप्त हो ही जाता है। सुमति मन की दशा है। वह केवल ज्ञान होने के पहिले ही रहती है और चेतना तो जीव का लक्षण ही है। वह सदा सर्वदा जीव के साथ है। जैसा कवि ने स्वयं कहा है—

"चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहै जिनचंदजी"

प्रेम लक्षणा भक्ति की पराकाष्ठा ४६ राग मारू

मनसा नट नागर सुं जोरी हो, मनसा नट नागर सुं जोरी।
नट नागर सुं जोरी सखि हम, और सबन सें तोरी ॥म० ॥१॥
लोक लाज नाहिन काज, कुल मरजादा छोरी।
लोक बटाऊ हसो बिरानों, आपनों कहत न को री ॥२॥
मात तात सज्जन जात, बात करत सब भोरी।
चाखै रस की क्युं करि छूटै, सुरिजन सुरिजन टोरी ॥३॥
ओरहानों कहा कहावत और पै नांहिन कीनी चोरी।
काछ कछ्यो सो नाचत निवहै, और चाचरि चरि फोरी ॥म०॥४॥
ज्ञानसिन्धु मथित पाई, प्रेम पीयूष कटोरी।
मोदत 'आनंदघन' प्रभु शशिधर, देखत दृष्टि चकोरी ॥म०॥५॥

पठान्तर—सुं = सें (आ), सूं (अ.इ)। सबन = सबनि सों (ऊ), सबन सु (इ.उ)। नोट—नटनागर...हम यह पंक्ति 'उ' प्रति में नहीं है। लाज = लाज हम (इ.उ)। काज = काजैं (उ), काजा (वि)। हसो = हम सें (उ), कहत = कह (उ)। कोरी = कोई (इ,उ.)। तात सज्जन = अरु सजन (इ.उ)। जात = तात (उ)। बात भोरी = बात कहत भोरी (आ), बात करत है भोरी (इ), बात सब भोरी (उ)। रस की = इस की (इ)। ओरहानो = ओरहनौं (आ), औराहनो (अ), ओराकहनो (उ)। कछ्यो = कछै (उ)। निवहै = नीवहै (आ)। चाचरि चरि = चाचर चर (इ), चाचर चरि (उ)। ज्ञान = ग्यांन (इ)। मथित = मथत (इ), मुकत (उ)। पीयूष = पीउष्प (उ)। मोदत = मोदित (उ)। शशिधर = शशधर (अ), ससिधर (इ.उ)।

शब्दार्थ—मनसा=इच्छा। नटनागर = सर्व कला कुशल। जोरी = जोड़ी दी। तोरी=तोड़दी। छोरी=छोड़ दी। बटाऊ=राहगीर, यात्री। बिरानो=

पराया। को = कोई। जात = जाति। भोरी = भोली। चारव्यं रस वी = जिनने एक बार रसास्वादन कर लिया है। सुरिजन = सज्जन लोगों की सत्संगति। टोरी = टोल, समूह। औरहानो = उपालम्भ। और पं = दूसरों से। काछ कछयो = जिसने कच्छा पहिन लिया है, जो हर प्रकार से सज कर तैयार होगया है। निबहै = निर्वाह करना ही होगा। चाचरि = हुड़दंग।मोदत = प्रसन्न होते हैं। शशिधर = चन्द्रमा।

अर्थ—कवि की सद्‌बुद्धि कहती है—हे सखी श्रद्धा! मैंने अपने मन को चतुर नटनगर (चेतन) की ओर लगाया है। उस नटनागर (चेतन) से अपने मन को लगाने के पश्चात् और सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच से अपने मन को हटा लिया है ॥१॥

मुझे लोक लज्जा से कोई संबंध नहीं है। कुल मर्यादा की आड में बनी हुई जो बाडे बंदी है उसे मैंने त्याग दिया है। रास्ता चलने वाले अन्य लोग (विभाव परिणतियें) भले ही मेरी हँसी करें, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है क्यों कि लोगों का स्वभाव दूसरों की हँसी उडाने का ही होता है। अपने अवगुण कौन देखता है? और देख भी ले तो दूसरों पर कौन प्रकट करता है ॥२॥

माता पिता स्वजन तथा जाति वाले सज्जन ये सब भोली भोली बातें करते है जिस सत्संगति का एक बार पान कर लिया है उन अत्यन्त श्रेष्ट जनों (स्वभाव परिणितियों) के समुदाय का साथ किस प्रकार छूट सकता है ॥३॥

अन्य लोगों के द्वारा (प्रलोभनों द्वारा) मुझे (सद् बुद्धि को) क्यों उपालंभ कहा रहे हो (दूर हटा रहे हो)। मैंनें किसी की चोरी तो की नही है। बुरा कार्य तो किया नहीं है। जिसने कच्छ पहिन लिया है उसे तो नाचना ही होगा। अर्थात् जो कार्य जिसने करना विचार लिया है उसे तो वह करेगा हो। अब नाचे विना

छुटकारा ही नहीं है-अब उससे कैसे दूर हटा जा सकता है। अर्थात् जिसने चैतन्य शक्ति से मन लगा रखा है उसे तो स्वसत्ता—चेतन को अनावरण करना ही होगा। आत्मानुभवी का हृदय अपने लक्ष से कैसे च्युत हो सकता है। इसलिये मुझे उपालम्भ देना व्यर्थ है। मेरा लक्ष एक मात्र उस नटनागर (चेतन) की ओर है ॥४॥

ज्ञान रूपी समुद्र के मंथन से विश्व प्रेमरूपी अमृत से भरी कटोरी प्राप्त हुई है। आनंदघनजी कहते है कि मेरी दृष्टि रूपी चकोरी आनंदधाम चेतन रूप चन्द्रमा को देखकर अत्यन्त मोद मनाती है—प्रसन्न होती है ॥५॥

पति रंजन ५० राग—आसाउरी

मीठो लागै कंतडो नै, खाटो लागै लोक।
कंत बिहुणी गोठडी, ते रन मांहि फोक ॥मी०॥१॥
कंतडा में कामण, लोकडा में सोक।
एक ठामें किम रहै, दूध कांजी थोक ॥मी०॥२॥
कंत विण चौगति, आणु मांनु फोक।
उघराणी सिरड फिरड, नांणो खरु रोक ॥मी०॥३॥
कंत विन मति म्हारी, अवहाडानी बोक।
धोक द्यूं 'आनन्दघन' अवर नै द्यूं टोक ॥मी०॥४॥

पाठान्तर—मीठो = मिठो (आ), मीठा (उ)। लागै = लागइ (आ)। खाटो = खारै (इ), खारा (उ)। बिहुणी = विन (आ), विना (इ), रन = नर (अ.इ) वन (उ)। में = मइ (आ)। सोक = सोग (उ)। ठामें = ठांमि (आ)। विण = विनु (अ), विना (इ.उ)। आंणु ···· फोक = मानु ते कोक (इ), मानूं ते फोक (उ)। सिरड फिरड = सरड़ फरड (अ), नांणो =

नाण (अ.इ) । खरू = तेजे (उ) । मति = गति (अ), यो मती (इ), जो मति (उ) । अवहाडा = अवडाहा (उ) । ध्रू ं = धु ं (आ) । 'अ' और 'उ' प्रतियों में 'आनंदघन' के बाद प्रभु शब्द और है । अवर नै····टोक = अवरनै दोक (आ) । अवर नै धु ं ढोक (उ) ।

शब्दार्थ—कंतड़ो = कंत, पति । खाटो = खट्टा । गोठडी = गोष्ठी । रन मांहि = जंगल में । फोक = एक जंगली राजस्थानी पौदा जो सुखा कर साग आदि मे खाया जाता है, सत्व हीन । कामण = कामिनी, जादू, मोहन शक्ति । लोकडा = लोगो में । ठामे=स्थान में । थोक = समूह, एकत्रित । आंणु = समझती हूं । उघराणी = उगाई, उधारी रकम । सिरड फिरड = धक्का खिलाने वाली, पागलपन । नांणों = रूपया, रकम । खरू = खरा, श्रेष्ठ । रोक= रोकटी । अवहाडानी बोक = कुवे से पानी निकाल कर डालने के स्थान (ढाणे) के पास बना छोटा कुंड । धोक=प्रणाम । अवर नै = अन्यको । टोक=रोक, वर्जन, मनाही, इनकारी ।

अर्थ—सुमति अपनी सखी श्रद्धा से कहती हैं—मेरे आत्माराम भरतार मुझे अत्यन्त प्रिय लगते हैं । मेरे स्वामी के अतितिक्ति अन्य लोग मुझे प्रिय नहीं लगते हैं—रूचिकर नहीं लगते है । स्वामी (आत्माराम) के विना गोष्ठी, जंगल में फोक के समान हैं अर्थात् निस्सार है ॥१॥

मुझे पति में आकर्षण लगता है, अन्य लोगों में शोक संताप दिखाई पडता है, क्यों कि ममता के वश सदा आर्त रौद्र ध्यान रहते है । दूध और कांजी किस प्रकार एक स्थान में रखी जा सकती है ? एक ही हृदय में समता तथा ममता साथ कैसे रह सकती है ? जहां समता है वहां ममता नहीं रह सकती है, जो ममता के वशीभूत हैं उन्हें समता कैसे प्राप्त हो सकती है ॥२॥

सुमति कहती है—हे सखी श्रद्धा ! मेरे पतिदेव शुद्ध चेतन के विना प्राणियों ने चारों गतियों में भ्रमण किया है, वह सब भ्रमण

व्यर्थ ही मानती हूं-समझती हूं। पैसा तो वही है जो नकद अपने पास हो, उगाई (उधारी) के पैसे को अपना पैसा मानना पागलपन है। जगह जगह धक्के खाना है ।।३।।

समता पुनः अपनी सखी श्रद्धा से कहती हैं—हे सखी! आत्माराम भरतार बिना मेरी अवस्था अवहाडे की वोक - कुवे के ढाणे के पास बनी छोटी खेल (कुंड) के समान संकीर्ण हो गई है। अनुभव ज्ञान बिना मेरी मति की ऐसी अवस्था है, अर्थात जिस भांति कुवे से संबंध होने पर पानी की कमी नहीं रहती, उसी, प्रकार मति का अनुभव से संबंध होने पर चेतन धारा हटती नहीं है अन्यथा मति की गति तो अवहाडे के वोक के समान है। आनंदघन प्रभु को मैं वंदन करती हूं—प्रणाम करती हूं तथा आत्मभाव के अतिरिक्त अन्य भावों पर रोक देती हूं ।।४।।

शपथ पूर्वक पतिरंजन ५१ राग—जैजैवंती

मेरी सुं मेरी सुं मेरी सुं मेरी सौं मेरी री।
तुम्ह तैं जु कहा दुरी कहो नैं सवेरी री ।।मेरी०।।१।।
रूठे देखि कै मेरी मनसा दुख घेरी री।
जाके संग खेलो सो तो जगत की चेरी री ।।मेरी०।।२।।
सिर छेदी आगै धरै और नहीं तेरी री।
'आनन्दघन' की सूं जो कहु हुं अनेरी री ।।मेरी०।।

पाठान्तर—सुं = सौं (अ)। 'मेरी सुं' की आवृति 'इ.उ' प्रतियों में तीन ही वार है। तथा मुद्रित प्रतियों में–'क.ब.वि' में पाठ इस प्रकार है— "मेरी सु तुम ते जु कहा दुरी के होने स वैरी री (क.ब)। मेरी सूं तुम ते जु कहा दुरी कहो न सवै वैरी री (वि)। दुरी = दुरा (अ.उ)। सवेरी री = सचेरी री (उ)। रूठे = झूठे (उ)। देखि = देखा (इ.उ)। जाके = जागे (आ)। सूं = सुं (आ), सौं (अ)।

शब्दार्थ—मुं.या. री = सौगंध, शपथ। दुरी = दूर रहने के लिये, अलग रहने के लिये। सवेरी = शीघ्र। चेरी = दासी। छेदी = काटकर। अनेरी = अन्य, दूसरी।

अर्थ—सुमति अपने पति (स्वामी) चेतन से कहती है—मेरे से दूर रहने के लिये आपको जिसने कहा है उसका नाम कृपा कर शीघ्र बताइये, आपको मेरी शपथ है। अरे आप चुप चाप हैं, मैं बार बार अपको सौगंध (शपथ) दिला रही हूं, पर आप बोलते क्यों नहीं है ?॥१॥

आपको रूठे हुये से देखकर मेरा मन दुख से घिर गया है—मैं बहुत दुखी हूं। जिसके साथ आप खेल रहे है—रंगरेलियां कर रहे है वह (ममता) तो संसार की दासी है ॥२॥

जो अपना सिर काट कर आप के आगे रखदे उस ही को अपनी समझनी चाहिये और जो ऐसा न कर सके, वह अपनी नहीं है। अर्थात् जो अपना सर्वस्व आपके अर्पण न कर सके वह आपकी नहीं है। मैं अपने स्वामी आनंद के समूह की शपथ खाकर कहती हूं कि जो मैं कहती हूं, वही कर बताने वाली हूं। मैं ऐसी नहीं हूं जो कहे कुछ और करे कुछ और। हे चेतन देव ! मैं आप की ही हूं अन्य किसी की नहीं हूं ॥३॥

उत्साह दशा व शूरवीर-युद्ध ५२ राग—तोडी (टोडी)

चेतन चतुर चौगांन लरी री।
जीति लै मोहराज को लहसकर, मसकरि छांडि अनादि धरी री
॥चे०॥१॥

नांगो काढि लताड लै दुसमण, लागै काची दोइ घरी री।
अचल अबाधित केवल मुनसफ, पावै शिव दरगाह भरी री ॥चे०॥२॥

और लराई लरै सौ बौरा, सूर पछाडै भाव अरी री ।
धरम मरम कहा बूझै औरैं, रहि 'आनन्दघन' पद पकरी री ॥चे०॥३॥

पाठान्तर—लै मोहराज = लीयें मोहराय के आगे की पंक्ति बहुत गड-बड है (उ)। काढि = काढ (इ), काढी (उ)। लताड = लताडि (आ)। दोइ = दोय (इ.उ)। मुनसफ = मुनसफ (अ), मुनसुफ (इ)। शिव दरगाह = सिव-दरगाह (इ.उ)। बौरा = बौरो (अ)। भाव = भांव (इ)। मरम = करम (आ), भरम (वि)। औरे = औरइ (अ), उरे (उ)। रहि = रहे (इ.उ)।

शब्दार्थ—चौगान = मैदान। लसकर=सेना। मसकरि=हँसी, दिल्लगी प्रमाद। अनादि वरी री = अनादि काल से वारण की हुई। नांगी = नंगी तलवार। काढि = निकाल कर। लताड लै = पछाड दे, गिरादे। काची = कच्ची। दोइ घरी = दो घडी, ४८ मिनिट। अचल = निश्चल। मुनसफ = न्यायाधीश। दरगाह = सिद्ध पुरुष की समाधि, दरबार, कचहरी। बौरा = पागल। सूर = शूरवीर।

अर्थ—चेतना अपने पति चेतनराज से कहती है—हे चतुर चेतनराज! आप अनंत शक्ति शाली हैं क्या सोचते हो मैदान मारलो मोहराज की सेना राग-द्वेष, काम, क्रोध, माया लोभ मोह आदि से युद्ध करके विजय प्राप्त करलो। काल लब्धिका-भवस्थिति के परिपाक का-बहाना बनाना छोड कर, अपने पर लगे हुये मोह-पाश को तोड दो-नाश करदो ॥१॥

तीक्ष्ण रुचि रूपी नंगी तलवार निकाल लीजिये, और मोहरूपी शत्रु को परास्त कर दीजिये। यदि आप प्रबल वेग से आक्रमण करेंगे तो मोहके घुटने टेकने में पूरी दो घडी भी नहीं लगेगी और आपको आधि व्याधि और उपाधि रहित निश्चल केवल ज्ञान प्राप्त हो जावेगा। वह केवल ज्ञान सत्यासत्य का निर्णायक सब से बडा न्यायाधीश है जिसे प्राप्त करने पर परिपूर्ण सुखों से भरा हुआ मोक्ष रूपी पवित्र स्थान प्राप्त होता है॥२॥

प्रमुख शत्रुओं से न लड़कर जो औरों से लड़ाई लड़ता है वह तो मूर्ख ही है—पागल ही है। क्यों कि अन्य मनुष्यों से तो लड़ाई क्रोध व द्वेष वश ही की जाती है। क्रोधी और द्वेषी मनुष्य अपने होश-हवास खो देता है। इस कारण वह पागल ही है परन्तु जो सच्चा पुरुष होता है वह तो भावों—उच्च श्रेणी—में चढ़कर राग-द्वेष रूप सम्पूर्ण शत्रुओं को परास्त करता है। यदि राग-द्वेष पर विजय नहीं पाई तो नित्य नये शत्रु पैदा होते रहेंगे। चेतन के मूल शत्रु राग द्वेष ही हैं जिसने इन पर विजय पाई, उसने त्रिभुवन पर विजय पाई, जिसने इन को जीता, वह त्रिभुवन नाथ होगया—जगत पूज्य हो गया। हे भोले चेतन! धर्म का मर्म (रहस्य) औरों से क्या पूछता फिरता है। तू तो इन आनंदघन प्रभु के चरण कमलों को पकड़े रह अर्थात् तू अपने प्रत्येक कार्य में आत्मा को न भूल, प्रत्येक प्रवृत्ति मे यह देख कि मैं आत्म-भाव में हूं या अनात्म-भाव में हूं—पुद्‌गल भाव मे हूं ॥३॥

अखंड स्वरूप ज्ञान **५३** **राग—तोडी (टोडी)**

साखी—आतम अनुभी रस कथा, प्याला अजब विचार।
अमली चाखत ही मरै, घूमै सब संसार ॥*

आतम अनुभी रीति वरी री
मोर बनाइ निज रूप अनुपम, तीछन रुचिकर तेग करी री
॥आ०॥१॥

---

* यह साखी 'आ' और 'इ' प्रति में नहीं है। 'अ' और 'उ' प्रतियों में है। मुद्रित प्रतियों में भी नहीं है।

टोप सनाह सूर को बानो, इकतारी चोरी पहरी री
सत्ताथल में मोह विडारत, ए ए सुरजन मुह निसरी री
॥आ०॥२॥

केवल कमला अपछर सुंदर, गान करै रस रंग भरी री।
जीति निसाण बजाइ बिराजै, 'आनंदघन' सरवंग धरी री
॥आ०॥३॥

पाठान्तर—चाखत = चाखती (उ)। ही मरै = हां मरे (उ)। घूमै = घूमरइ (उ)। अनुभौ = अनुभव (अ.आ.उ)। तीछिन = तीछन (अ.उ)। तेग करी = नेग करी (आ.उ) तेगधरी (क.ब.वि.)। इकतारी चोरी = इकताली चोली (उ)। मुह = मोह (उ)। गान = ग्यान (उ)। रंग = रीति (आ)। विडारत = विदारत (क.ब.वि)।

शब्दार्थ—अमली = नशेबाज, अमल में (आचरण में) लाने वाला। अनुभौ=स्वरूप प्राप्ति से होने वाला आनन्द। वरी = वरण कर लिया, स्वीकार कर लिया। मोर = मुकुट। तीछिन = तीक्ष्ण, तेज। तेग = तलवार। सनाह = कवच। वानो = भेष। इकतारी चोरी = एकाग्रता रूपी चोली। सत्ताथल में = सत्तारूप युद्ध क्षेत्र में। विडारत = छिन्न भिन्न करना, दूर करना। सूर-जन = पंडित लोग। केवल कमला = केवल ज्ञान रूप लक्ष्मी। अपछर = अप्सरा रस रंग भरी री = प्रेम में लवलीन होकर। सरवंग = मस्तक।

अर्थ—आत्म अनुभव-रस-कथा का विचार अद्भूत है। इस रस का प्याला अमली-नशे बाज चखते ही मर मिट जाता है अर्थात् जो उस पर अमल (आचरण) कर लेता है वह उस पर मिट जाता है-आशक्त हो जाता है। अन्य लोग घूमते ही रहते हैं। साखी।

श्रद्धा सुमति से पूछती है-आत्म ने किस प्रकार अनुभव दशा से लग्न किया है। इसके उत्तर में सुमति कहती है-हे सखी! सुनो—

चेतन ने निज स्वरूप रूपी अनुपम मुकुट धारण किया फिर स्वरूप प्राप्ति के लिये गहरी रुचि रूप तेज तलवार को हाथ में ली है ॥१॥

विशेष–इस पद में अनेक महत्वपूर्ण बातें हैं। यदि इस एक ही पद का लक्ष्य जीव (चेतन) को बना रहे तो उसे सिद्धि प्राप्त करने में विलम्ब नहीं लगेगा। जिसे आत्मानुभव प्राप्त करना हो, उसे सबसे पहिले अपना आदर्श–ध्येय स्थिर करना होता है। यहाँ साधक का लक्ष्य है–'निज स्वरूप प्रकट करना'। कायरों को–कम हिम्मत वालों को–ढिल मिल (अस्थिर) विचार वालों को इस मार्ग में सफलता नहीं मिलती, यह तो वीर पुरुषों का मार्ग है। जो यह विचार रखता हो कि या तो सफलता प्राप्त करूंगा या मर मिटूंगा, (देहं पातयामि वा कार्यं साधयामि) वह ही इसमे सफलता प्राप्त करता है। केवल इच्छा से ही कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती है। धूप की गरमी से भात (चांवल) नहीं पकता, चूल्हे में डालने मात्र से ही सोना नहीं गलता। उस ही भांति इच्छा मात्र से कुछ नहीं होता है। तीक्ष्ण रुचि, दृढ़ संकल्प के बिना किसी कार्य मे सफलता नहीं मिलती। तीक्ष्ण रुचिवाला विघ्न-बाधाओं से नहीं घबराता, उसे मरने का भय नहीं होता। मरने का भय रख कर युद्ध विजय नही किये जाते। जिसने अपने स्वरूप को समझ लिया है, वही मृत्यु का भय छोड सकता है। यह आत्मा तो अविनाशी है और शरीर तो एक दिन नाश होने वाला ही है। ऐसे विचार प्रकट करना सरल है पर इस पर चलना कठिन है। जबतक अभ्यास नहीं किया जाता है प्रत्येक कार्य कठिन लगता है किन्तु अभ्यास के बल पर कठिन से भी कठिन कार्य आसान होते देखे जाते हैं। यदि मरण भय जीतने का अभ्यास किया जाय तो एक न एक दिन सफलता प्राप्त की जासकती है। हमने अनेक समय स्वकल्याण की इच्छा की, जिज्ञासु बने, मोक्षाभिलाषी कहलाये किन्तु इस इच्छा रूपी यथाप्रवृत्ति करण में ही रहे, कार्य–सिद्धि देने वाली

तीक्ष्ण रुचि रूप अपूर्वकरण को प्राप्त नहीं किया। अपूर्वकरण विना किसी को कभी भी स्वरूप ज्ञान न तो प्राप्त हुआ और न होगा। इस तीक्ष्ण रुचि रूपी तलवार से ही मोह का नाश किया जा सकता है, सम्यक्दृष्टि प्राप्त की जासकती है।

शूरवीर का भेष धारण करके अर्थात् समता रूप टोप (शिरस्त्राण), त्याग व ब्रह्मचर्य रूप कवच तीव्र भावना रूप चोली पहन कर मोह को सत्ता से ही इस प्रकार छिन्न भिन्न किया कि अनुभवी पंडितों के मुँह से प्रशंसात्मक शब्द निकल पड़े। जिस प्रकार युद्ध क्षेत्र में निज रक्षार्थ कवच, टोप आदि पहिरे जाते हैं उसी प्रकार मोहराज से युद्ध करने के लिये समता, त्याग, एकाग्रता की आवश्यकता है। मानसिक, वाचिक और कायिक चंचलता के त्याग विना मोह-शत्रु के आक्रमण सहने की शक्ति कभी प्राप्त नहीं होती। इसके लिये एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यता है। यही शक्ति सर्व सिद्धिदाता है। आत्म-शत्रुओं को नाश करने वाली है॥२॥

कर्म अनेक प्रकार के हैं किन्तु ज्ञानियों ने उन को आठ श्रेणियों में विभक्त कर समझने में सुविधा करदी है। इन में से चार कर्मों ने जीव के मूल स्वरूप को ढक रखा है। इस लिये इन्हें घाती कर्म कहा जाता है। ज्ञान व दर्शन को ढकने वाले कर्मों को ज्ञानावरण व दर्शनावरण कहते हैं। आत्मा की अनन्त शक्ति को रोकनेवाले कर्म को अन्तराय कर्म कहते हैं। यह सारी विकृति मोह के कारण होती है। इस मोहनीय कर्म को ही सबसे प्रबल माना है। इस प्रबलता से ही यह 'मोहराज' कहलाता है। इस के नाश होते ही, ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों कर्म स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं।

प्रत्येक कर्म की चार अवस्थायें हैं—बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता। राग-द्वेष परिणामों के कारण कर्म पुद्गल का आत्मा से

संबंध होने को बंध कहते हैं। कर्म की फलप्रद शक्ति को उदय, उदय में न आये हुये कर्मों को ध्यान-तप आदि के बल से उदय में लाने को उदीरणा, कहते हैं। जो कर्म तो बंध चुके है किन्तु उदय-उदीरणा में नहीं आये हैं, आत्मा के साथ लगे हुये हैं उन्हें सत्तागत कर्म कहा जाता है।

कवि ने इस पदमें मोह को सत्ता में ही नाश करनें की बात कही है। मोह का बंध नवें गुणस्थान तक होता है। क्षपक श्रेणी-वालों के दशम गुणस्थान के अंत में मोह की सत्ता का नाश हो जाता है। यहाँ सुमति का साथ भी जाता है अर्थात् वह सुमति वीतराग परिणति रूप शुद्ध चेतना का रूप ग्रहण कर लेती है जिसका साथ कभी नहीं छूटता है।

इस प्रकार दसवें गुणस्थान में मोहराज का ध्वंस करके विजय दुंदुभी बजवा कर बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्मों का नाश करके तेरहवें गुणस्थान में चेतन राज विराज मान हुये। चेतनराज के विजय-प्राप्त करने पर रसरंग से भरी हुई केवल ज्ञान रूप लक्ष्मी सुंदर अप्सराओं के समान सुमधुर शब्दों से सारे विश्व की बातें बताती है और आनंद स्वरूप चेतन, ज्ञानलक्ष्मी रूप शुद्ध चेतना को असंख्यात प्रदेशात्मक निज शरीर के प्रत्येक प्रदेश में धारण कर लेता है ॥३॥

पराभक्ति की पूर्णता ५४ राग–विलावल सूहो

सुहागनि जागी अनुभौ प्रीति।
नींद अनादि अज्ञान की मेटि गही निज रीति ॥सु०॥१॥
दीपक घट मंदिर कियो, सहज सुजोति सरूप।
आप पराई आपु ही, ठानत वस्तु अनूप ॥सु०॥२॥

कहा दिखावुं और कुं कहा समझावुं भोर ।
तीर न चूकै प्रेम का, लागै सो रहै ठोर ।।सु०।।३।।
नाद विलूधो प्रान कुं, गिनै न त्रिण मृगलोइ ।
'आनंदघन" प्रभु-प्रेम की, अकथ कहानी कोइ ।।सु०।।४।।

पाठान्तर—अनुभौ = अनुभव (अ,आ.उ) । दीपक········कियो = घट मंदिर दीपक कियो (क.ब) सहज·····सरूप = सहज सहज ज्योति सरूप (उ)। तीर·····पेमका = तीर चूकै पेमका (उ)। तीर अचूक है प्रेम का (क.ब)। प्रानकुं = प्रेमको (अ)। अकथ = अकह (इ) ।

शब्दार्थ—सुहागनि = सौभाग्यवती । अनुभौ = मति-श्रुति ज्ञान की परिपक्व अवस्था । सरूप = निजरूप, चेतन स्वरूप । ठानत=दृढ संकल्प करना, स्थापित करना । भोर = भोले मनुष्यों को । ठोर = स्थान । विलूधो = लुब्ध हुआ, आसक्त हुआ । त्रिण = तृण, घास । अकथ = अकथनीय, जो कही न जा सके ।

अर्थ—कवि आनन्दघनजी कहते हैं-मुझे सौभाग्यवती अनुभव प्रीति जागृत हो गई है । इस के जागृत होने से मैंने अनादि काल की मोह निद्रा (अज्ञान निद्रा) का नाशकर, स्वाभाविक दशा रूप निज परिणति ग्रहण कर ली है ।।१।।

इस पद से ऐसा ध्वनित होता है कि श्री आनंदघन जी को इस समय शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त हो चुका था ।

श्रीमदराजचन्द्र जी ने अपनी दशा का स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है—

'ओगणीसे' नै सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे ।
श्रुत अनुभव बधती दशा, निज स्वरूप अवभास्युं रे ।।

समयसार नाटक के कर्त्ता श्री बनारसीदास जी ने भी अनको दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—

अब सम्यक दरसन उनमान प्रगट रूप जानै भगवान।
सोलहसै तिरानवै वर्ष समैसार नाटक धारै हर्ष॥३८॥

(अर्धकथानक)

हृदय रूपी मंदिर में निज स्वरूप की सहज ज्योति का दीपक प्रज्वलित हो गया है जिस के प्रकाश में अपनी व पराई वस्तु का निर्णय अनुपम रीति से होरहा है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने पर हेय-उपादेय, आत्मभाव व जड भाव का निर्णय अनोखी रीति से स्वयं तुरत हो जाता है॥२॥

इस सहज ज्योति स्वरूप आत्मा को किस प्रकार दूसरे को दिखाऊँ व भोले (स्त्री, पुत्र व धन में आसक्त) प्राणियों को कैसे समझाऊँ; यह सौभाग्यवती अनुभव प्रीति आँखों से दिखाई नहीं देती तथा वाणी द्वारा इसके रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शक्कर प्रत्येक प्राणी खाता है किन्तु शक्कर के स्वाद का वर्णन करना कठिन है, चखने से ही उसके स्वाद का अनुभव होता है। उसी प्रकार इस अनुभव प्रीति का स्वाद जिन्होंने आस्वादन नहीं किया ऐसे भोले लोगों को इसका स्वरूप कैसे समझाया जा सकता है, परन्तु एक सामान्य से उदाहरण द्वारा यह कहा जा सकता है कि इस अनुभव-प्रेम का तीर अचूक है—रामबाण है, जिसे यह तीर लग जाता है, वह स्थिर हो जाता है अर्थात् परिणामों की चंचलता मिट जाती है। उसकी वृत्तियें विषय-वासना में न जाकर आत्मध्यान में लीन रहती हैं, मन बहिरात्म भाव में नहीं जाता और सब क्रियायें सहज भाव से होती है, बल प्रयोग नहीं करना पडता। लोक लाज या कीर्ति प्राप्त करने के लिये या लोगों के दिखाने के लिये यह स्थिर भाव नहीं होता, बल्कि जो कुछ होता है सहज भाव से होता है॥३॥

जिस प्रकार नाद (गायन) पर लुब्ध हरिण अपने प्राणों की तृण के टुकडे के समान भी परवाह नहीं करता, उसो प्रकार आनंद स्वरूप प्रभु-प्रेम में लीन व्यक्ति अपने प्राणों की तनिक भी परवाह नहीं करता। इस प्रभु-प्रेम की कथा तो अनिर्वचनीय है—अकथ है। इस लोक में इसे कोई विरले भाग्यशाली ही जानते हैं। शब्द शक्ति भी कितनी बलवती होती है कि हरिण उस पर लुब्ध होकर अपने प्राणों की परवाह नहीं करता, फिर चैतन्य सत्ता तो उस शब्द शक्ति से अनंतगुणी बलवान है। उस सत्ता में सम्पूर्ण वासनाओं को होमकर अपनी वृत्ति का लीन होना स्वाभाविक है परन्तु धन-कुटुम्ब की ममता में फँसे लोग इस स्वाभाविक दशा को भी नहीं समझ सकते। जिन्हें इस सत्ता की अनुभूति हो जाती है प्राण जाने पर भी इसे नहीं छोडते ॥४॥

अभेद अनुभव ५५ राग-कान्हडो (आशावरी)

देख्यो एक अपूरब खेला।
आप ही बाजी आप बाजीगर, आप गुरू आप चेला ॥दे०॥१॥
लोक अलोक बिच्चि आप विराजत, ग्यान प्रकाश अकेला।
बाजी छांडि तहाँ चढि बैठे, जहाँ सिन्धु का मेला ॥दे०॥१॥
वाग वाद षटवाद सहु मैं, किस के किस के बोला।
पाहण को भार कहा उठावत, इक तारे का चोला ॥दे०॥३॥
षट पद पद के जोग सिरीष सहै क्यु करि गज पद तोला।
आनंदघन' प्रभु आइ मिलो तुम्ह, मिटि जाइ मन का झोला ॥दे०॥४॥

पाठान्तर—देख्यो = देखी (इ.उ)। आप = आपही (उ)। लोक अलोक = लोकालोका (उ) विराजत = विराजित (उ)। चढि = चढ (इ.उ)। भार = भर (आ)। कहा = कही (इ.उ)। जोग सिरिष = जोग सरीखी (इ.उ) करि = कर

(इ.उ)। 'तुम्ह' शब्द 'उ' प्रति में नहीं है। मिटि जाइ = मिट जाय (इ.उ)।

शब्दार्थ—अपूरव = अपूर्व, अलौकिक। बाजी = खेल, संसार प्रपंच। बाजीगर = जादू के खेल दिखाने वाला, जादूगर। लोक अलोक = ये जैन पारिभाषिक शब्द हैं, लोक—जहाँ पंचास्तिकाय हो; अलोक—जहाँ केवल आकाश हो, और पुद्गल और जीव आदि जहाँ न हों। सिन्धु = समुद्र। मेला=मिलाप। वागवाद = वाणी-विलास, तर्क-वितर्क। पटवाद = पट्दर्शन। पाहण = पत्थर। षटपद = भ्रमर, भौंरा। झोला = संशय, चंचलता, परदा।

नोट—यह पद अ, आ, इ' प्रतियों में दो पदों में है और 'उ' प्रति में एक ही पद है। प्रथम दो पद—देखो""सिंधु का मेला ॥२॥' 'अ' प्रति में ६९ वां पद, 'आ' प्रति मे ५१वां पद, और 'इ' प्रति में ४३वां पद है। अंतिम दो पद—'वागवाद"""""मनका झोला ॥४॥' 'अ' प्रति में २७वां, 'आ' प्रति में ५२वां और 'इ' प्रति में ४४वां पद है। मुद्रित प्रतियों में दोनों भागों का एक ही पद है जैसा ऊपर है। वास्तव में दो पद ही होने चाहिये। ऊपर जो दो भाग बताये गये है, उनके विषय पृथक-पृथक है; सम्बन्धित नहीं हैं। दोनों के ही एक-एक पद या अधिक, संग्रह कर्त्ता के दोष से अलग हो गये है जिनकी खोज असम्भव है।

अर्थ—कवि अभेद ज्ञान को बताते हुये कहता है—संसार में एक अपुर्व-अलौकिक खेल देखा है। इस खेल की अलौकिकता यह है कि खेल और खेल दिखाने वाला पृथक पृथक नहीं है। जब अन्य खेलों में खेल अलग होता है और खेल दिखाने वाला—सूत्रधार अलग होता है। इस खेल में (जो देखा है) खेल भी स्वयं है और और सूत्रधार (खेल दिखाने वाला जादूगर) भी स्वयं ही है। आप ही गुरु है और आप स्वयं ही शिष्य है अर्थात चेतन स्वयं ही गुरु है और स्वयं ही शिष्य है। गुरु शिष्य में अभेद है—खेल खिलाड़ी में भेद नहीं है ॥१॥

अलोकाकाश में लोकाकाश स्थित है, उस लोकाकाश में यह चेतन सब स्थान में वर्तमान है—विराजमान है। जहां केवल

मात्र ज्ञान का ही प्रकाश है। जहां पर राग-द्वेष रूप वाजी—खेल को त्यागकर चेतन उस स्थान पर चढ जाता है जिस स्थान पर अपने सदृश ही मुक्त आत्माओं के सुख समुद्र का मिलाप होता है ॥२॥

. कवि ने इस पद में मुक्तात्माओं के स्थान का संक्षिप्त में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। अलोकाकाश में लोकाकाश की स्थिति है। जहाँ पर धर्म और अधर्म द्रव्य है, जीव और पुद्गल है और आकाश है तथा इन पाँच द्रव्यों के प्रदेश एक दूसरे से संलग्न हैं अतः ये अस्तिकाय कहलाते है किन्तु काल द्रव्य के प्रदेश जुड़े हुये नही हैं—संलग्न नहीं है इसलिये यह द्रव्य होते हुये भी अस्तिकाय नहीं है। काल के लिये इसीलिये यह प्रसिद्धि है—"गया वक्त फिर हाथ नहीं आता।"

लोकाकाश के अंत में मुक्तात्माओं के ठहरने का स्थान है। जहाँ अनत सुख अनंत ज्ञान दर्शन और अनंत शक्ति का मिलाप होता है। ऐसे स्थान पर चेतन पहुँच कर फिर कभी भी नीचे नहीं आता है।

आगे कवि कहते हैं—षड् दर्शन व नव मत मतान्तरों में तो अनेक प्रकार के तर्क वितर्क भरे हुये हैं। इस वाणी विलास के पृथक पृथक राग की गहनता का थाह पाना बडा कठिन है। किस किस के वचनों को (मान्यताओं को) प्रामाणिक माना जावे। एक तार का-एक तत्व का—एक स्वास का यह चोला—शरीर इन षडदर्शन रूप पर्वतों का भार (बोझा) कैसे उठा सकता है? अर्थात अल्प आयु में अनेक दर्शनों की जानकारी करना पर्वत के समान भारी है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस छोटे से जीवन में आत्मानुलक्षी बनकर ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है ॥३॥

(यहां षट्पद में श्लेष है—अर्थ है—(भ्रमर और षड दर्शन) षटपद—भ्रमर के पैरों के समान षडदर्शनों के ज्ञान की आत्मज्ञान रूपी गजपद से कैसे तुलना की जासकती है? षड्दर्शनों का ज्ञान

प्राप्त हो जाने पर भी आत्म-ज्ञान नहीं होता है। तब समानता कैसी ?

हे आनंद स्वरूप चेतन प्रभु! आपका साक्षात्कार हो जाय तो यह मन की सब उलझनें सुलझ जावें अर्थात मन का संशय और चंचलता नष्ट हो जावे।

आत्मज्ञान—भेद ज्ञान—की प्राप्ति ही मन की चंचलता नाश कर देती है।

चतुर्गति चौपड ५६ राग—धन्यासी

कुवधि कूवरी कुटिल गति, सुबुधि राधिका नारि।
चोपरि खेलै राधिका, जीतै कुविजा हारि॥ साखी

प्रानी मेरो, खेलै चतुरगति चोपर।
नरद गंजफा कौन गनत है, मानै न लेखे बुधिवर ॥प्रा०॥१॥
राग दोस मोह के पासे, आप बणाये हित घर।
जैसा दाव परै पासेका, सारि चलावै खिलकर ॥प्रा०॥२॥
पांच तलै है दुआ भाई, छका तलै है एका।
सब मिलि होत बराबर लेखा, इह विवेक गिणवेका ॥प्रा०॥३॥
चौरासी मांवै फिरै नीली, स्याह न तोरै जोरी।
लाल जरद फिरि आवै घर मैं, कबहुक जोरी बिछोरी ॥प्रा०॥४॥
भौर विवेक के पाउ न आवत, तब लगि काची बाजी।
'आनन्दघन' प्रभु पाव दिखावत, तो जीतै जीव गाजी ॥प्रा०॥५॥

पाठान्तर—कुवधि = कुवद (इ), कुवुधी (उ)। कूबरी = कुवरी (उ)। सुबुधि = सुबुद्धि (अ.उ)। नारि = नारी (उ)। चोपरि = चोपर (उ)। कुविजा = कुब्जा (अ), कुवज्या (इ), कुवजाहारी (उ)। प्रानी.....चोपर = खेले चतुर

गति चोगरि, प्रानी मेरो (आ)। गंजफा = गंजीफा (अ.इ)। मानै = मोने (उ)। बुधिवर = बुद्धिवरं (उ)। राग दोस मोह के = राग दोस दोई मोह के (अ)। वणाये = वनाए (इ), विनाये (उ)। हितधर = हितवरं (उ)। सारि = सार (अ.इ.उ)। खिलकर = खलकर (अ), खीलकर (क)। मिलि = मिल (इ.उ)। मांवै = मांचै (अ.इ.उ), मांहे (क.वि)। तोरैं = तोरी (इ.उ)। जोरी = जोरि (इ), जोर (उ)। भीर = धीर (अ), भाव (क.ब.वि)। पाउ = पास (अ)। लगि = लग (अ.इ)। पाव = पौव (अ), पाउ (उ)।

शब्दार्थ—चतुर गति = चारों गतियें–नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। नरद = चौपड की गोट, स्यार। गंजफा = एक प्रकार का छोटे पत्तों का खेल जिसमें आठ रंग और ९६ पत्ते होते हैं। दोस = द्वेष। हितधर = प्रसन्न होकर। सारि = गोटी। खिलकर = खेलकर। तलै = नीचे। पांच = संख्या-वाचक, पंचेन्द्रिय, पंचाश्रव। दुआ = दो, राग-द्वेष। छका = छै, छै काय के जीव, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, छै लेश्या। एक = एक, मन, आत्मज्ञान। चौरासी = ८४ लक्ष योनियें। नीली = नीली गोट, नीललेश्या। स्याह = काली गोटी, कृष्ण लेश्या। भीर = साझीदार। पाउ = पासे का दाव पौ बारह, शुद्ध स्वभाव। गाजी = धर्मयुद्ध विजेता वीर।

अर्थ—कवि ने चौपड़ खेल के माध्यम से जीवन चौपड की जो बाजी लग रही है उसे किस प्रकार जीना जासकता है, समझाया है। चौपड चार पट्टी और छियानवें खाने—घर की होती है। तीन चोकोर पासों से चौपड खेली जाती है। चार रंग—नीली (हरी) काली, (स्याह) लाल और पीली की १६ गोटियें—सारें होती हैं। प्रत्येक पासे में पांच :·: के नीचे की ओर दो : का चिन्ह, और छै ::: के नीचे की ओर एक . का चिन्ह होता है। जिस तरह के चिन्ह के पासे सन्मुख (ऊपर की ओर) होते हैं, उसी के अनुसार गोट चलती है। गोटी का जब तक तोड नहीं होता अर्थात् वह दूसरी गोटी मारकर हटा नहीं देती तब तक वह अपने घर में नहीं जा सकती है। यह

चौपड के खेल का स्वरूप है। आत्मा ने चार गति वाली चौपड खेल के लिये सजा रखी है। वह इसे विवेक पूर्वक खेलती है तो चौपड में विजय प्राप्त कर लेती है, नहीं तो ८४ के चक्कर में फंसी ही रहती है। इसी भाव को कवि ने इस पद में वतःया है।

कुटिल—खोटी चाल चलने वाली कुबुद्धि—कूवडी कुब्जा के समान है और सुबुद्धि सही चाल चलनेवाली–राधिका के समान है। ये दोनों आपस में चौपड का खेल खेलती है। बहुत वार कुबुद्धि कुब्जा के जीत के लक्षण प्रकट हो जाते है परन्तु अन्त में सुबुद्धि राधिका की विजय होती है। कुबुद्धि कुब्जा हार जाती है।

मेरा प्राणी-आत्मा चतुर्गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवता रूप चौपड का खेल खेलता है। इस खेल की—गोटवाली चौपड और ९६ पत्ते और आठ रंग वाले गजफा का खेल की क्या—समानता हो सकती है। चतुर्गति चौपड के सन्मुख इन खेलों की क्या गिनती है ? ये खेल इसके आगे तुच्छ है। विवेकशील इन खेलों को कोई महत्व नहीं देते हैं। बुद्धिमान कभी इन खेलों में अपना समय व्यर्थ नहीं खोते है। वे तो जीवन की चौपड को महत्व देकर उसमें विजयी होना चाहते हैं ॥१॥

इस आत्मा ने चतुर्गति चौपड खेलने के लिये राग, द्वेष और मोह के पासे वडे प्रेम से बनाये है। जैसा पासा आता है उसो के अनुसार गोट (सार) चलाई जाती है। इस चतुर्गति चौपड में आत्मा को राग द्वेष और मोह के कारण ही परिभ्रमण करना पडता है। अर्थात् रागद्वेष मोह की प्रवृत्तियों में जैसी जैसी वृतियाँ उभरी हैं, उसके अनुसार ही आत्मा को गतियों और उत्पत्ति स्थानो में जाना पडता है ॥२॥

चौपड के पासों में पांच के चिन्ह के नीचे दो का चिन्ह है और छै के चिन्ह के नीचे एक का चिन्ह होता है। पांच और दो सात होते

हैं और छै और एक भी मिलकर सात होते हैं, जीवन की चौपड में विवेकशील प्राणी अपने विवेक से काम ले तो वह वाजी जीत जाता है, वरना भटकता ही रहता है। पांच का अर्थ है, पंचाश्रव और दो का अर्थ है, राग और द्वेप की प्रवृत्ति, छै का अर्थ है, पट्काय और एक का अर्थ है, असंयम प्रवृत्ति। इन पासों की चालों में विवेक नहीं रखा गया-पंचाश्रवों में और राग द्वेष की प्रवृत्ति में और षट्काय हिंसा और असयम में लगे रहे—तो चार गति वाली जीवन चौपड में, पिटते रहे-मरते रहे, फिर बैठते रहे-जन्म लेते रहे तो वाजी हार की ओर चली जायगी। यदि विवेक को जागृत रखकर पंचाश्रव, राग द्वेष पर अंकुश रख कर और षट्काय की हिंसा और असंयम से निवृत्त होकर जीवन गोटी चलाई गई तो निश्चय पूर्वक खेल में विजय होगी। अर्थात् भव भ्रमण नप्ट होकर लक्ष की प्राप्ति हो जायगी ॥३॥

चौपड में चार रंग की गोटियां होती हैं। नीली (हरी), काली (स्याह), लाल, और पीली। इन्हें आत्मा की लेश्या-अध्यवसाय का प्रतीक समझना चाहिये। चौरासी खानों में—चोरासी लाख उत्पत्ति स्थानों में—नीली (हरी) गोट, स्याह गोट से अपनी जोडी न तोडकर (छोडकर) फिरती रहती है। लाल और पीली गोटी कभी कभी अपनी जोडी तोड कर अपने स्थान-घर में—आ जाती है।

जब तक कृष्ण और नील लेश्या के अध्यवसाय आत्मा के साथ है तव तक आत्मा चौरासी में भ्रमण करती ही रहती है। जब शुभ लेश्या के अध्यवसाय वाली आत्मा अशुभ लेश्या का साथ छोड़ देती है तो आत्म स्वभाव रूप घर में आ जाती है। और फिर वह अपने लक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है ॥४॥

जिस प्रकार चौपड के खेल में पौ नहीं आती है तब तक बाजी जीतने के आसार नहीं होते हैं अर्थात् गोटियाँ अपने गंतव्य की ओर नहीं जा सकती हैं। अतः वह वाजी (खेल) कच्चा (अधूरा) ही है।

उसी प्रकार आत्माके सिरी—साझीदार-विवेक के शुभ अध्यवसाय रूप पौ नहीं आती तव तक वह चतुगति रूप चौपड जीत नहीं सकता है। उसका खेल कच्चा ही रहता है। अर्थात् आत्मा अशुभ अध्यवसायों को त्याग कर शुभ अध्यवसायी नहीं होती तब तक अपने लक्ष की ओर अग्रसर नहीं हो सकती है।

आनंद की समूह आत्मा शुभ अध्यवसाय रूप या सम्यकत्व रूप पौ को प्रकट करे—दिखावे—तो गाजी (धर्म युद्ध में विजय वीर) वन कर वाजी—खेल–जीत लेता है। राग-द्वेष मोह आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर गाजी—विजय वीर बन जाता है ॥५॥*

---

* इसी आशय का महात्मा सूरदास का एक पद श्री नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'सूरसागर' में है। वह पद इस प्रकार है—

चौपरि जगत मडे जुग बीते।
गुन पांसे क्रम अक चार गति सारि न कबहूं जीते ॥
चारि पसार दिसानि, मनोरथ, घर, फिरि फिरि मिलि आनै।
काम क्रोध मद संग मूढ़ मन खेल हार न मानै ॥
वाल विनोद वचन हित अनहित, बार-बार मुख भाखै।
मानो वग़ वगदाइ प्रथम, दिसि आठ-सात दस नाखै ॥
षोडष जुक्ति, जुवति चिति षोडष, षोडष वरस निहारै।
षोडष अगनि मिलि प्रंजक पै छै दस अक फिरि डारै ॥
पन्नह पित्रकाज चौदह दस-चारि पठे, सर सांधै।
तेरह रतन कनक रुचि द्वादस अटन जरा जग बांधै ॥
नहि रुचि पंथ, पयादि डरनि छकि, पंच एकादस ठानै।
नौ दस आठ प्रकृति तृष्ना सुख सदन सात संधानै ॥

आशा व प्रमाद जय ५७ राग—आसावरी

जग आसा जंजीर की गति उलटी कुल मौर।
जकर्यो धावत जगत में, रहै छूटी इक ठोर ॥साखी॥
औधू क्या सोवे तन मठ में, जागि विलोकन घट में ॥
तन मठ की परतीत न कीजै, ढहइ परै एक पल में।
हलहल मेटि खबरि लै घट की, चिन्है रमता जल में ॥औधू०॥१॥
मठ में पंच भूत का वासा, सांसा धूत खबीसा।
छिन छिन तोहि छलनकुं चाहै, समझै न वौरा सीसा ॥औधू०॥२॥
निरपर पंच वसै परमेश्वर, घटमें सूछिम वारी।
आप अभ्यास प्रकासै विरला, निरखै धू की तारी ॥औधू०॥३॥
आसा मारि आसण धरि घट में, अजपा जाप जगावै।
'आनंदघन' चेतन मै मूरति, नाथ निरंजन पावै ॥औधू॥०॥४॥

पाठान्तर—धावत = धात (आ)। रहै छूटी = ववै छुटै (इ), रहि छूटो (उ)। इक = एक (उ)। औधू = अवधू (अ.उ)। सोवै = सोवइ (उ)। मठ = मन (अ)। ढहइ = ढहि (इ.उ), ढहे (अ)। एक = इक (अ.इ)। चिन्है रमता = विचरै समता (उ)। सांसा = सासा (इ.उ), संसा (अ)। धूत = भूत (उ)। खबीसा = खईसा (इ), खवासा (उ)। सीसा = सासा (आ)। निरपर = सिर पर (क,व.वि)। सूछिम = सूक्ष्म (इ.अ)। प्रकासे विरला = लिखावै

पंजा पंच प्रपंच नारि-पर भजत, सारि फिरि मारी।
चौक चवाउ भरे दुविधा छकि रस रचना र्चव धारी।
बाल किशोर तरुन जर जुगसौं सुपक सारि ढिग ढारी।
सूर एक पौ नाम बिना नर, फिरि फिरि बाजी हारी ॥६०॥

कोई (उ), लखे कोई (उ,क.व.त्रि)। निरखै=निरखत (उ)। घू = ध्रु (अ.इ.उ)। धरि = धर (उ)। मै = मय (अ.इ.उ)।

शब्दार्थ—गति = चाल। कुल = बिलकुल। मोर = मयूर, जीव। जकर्यो = बंधा हुआ। ठौर = स्थान। छूटो = खुला हुआ। जागि = जागृत होकर। विलोकन = देखता, विचारता। परतीत = प्रतीति, विश्वास। ढहई= गिरना। विन्है"""जल में = जल में खेलने वालों के चिन्ह (निशान) खोजना चाहता है। पंच भूत = पृथ्वी, जल, तेजस् (अग्नि), वायु और आकाश। धूत = धूर्त। सांसा = श्वास। खबीशा = बुराइयों का घर, दुष्ट, दानव। निर पर = जो पर (अन्य) नहीं है। सूछिम = सूक्ष्म। बारी = खिडकी। घू = ध्रुव। तारी = तारा। आशा मारि = आशा-तृष्णा त्याग कर। आसण = स्थिरता। अजपा जाप = ध्वनि रहित जाप, मन में चिंतन रहित होकर। चेतन मै = उपयोग मय। निरंजन = कर्ममल रहित।

अर्थ—संसार में आशा-तृष्णा के बन्धन की और जंजीर (रस्सी) के बन्धन की चाल एक दूसरे से बिलकुल ही उलटी-विपरीत है। जंजीर-रस्सी-से बंधा हुआ तो अपने स्थान से थोड़ा सा भी इधर उधर नहीं हो सकता है किन्तु आशा-तृष्णा से जकड़ा हुआ प्राणी संसार में दौड लगाता ही रहता है—भ्रमण करता ही रहता है और इस आशा-तृष्णा के बन्धन से छूटा हुआ—मुक्त हुआ—प्राणी एक स्थान पर स्थिर हो जाता है। वह भव-भ्रमण से मुक्त होकर आत्म सुखों में स्थिर हो जाता है ॥साखी॥

हे अवधूत! आत्मन्! इस शरीर रूपी मठ में सोता हुआ क्या पड़ा है? अचेत क्यों हो रहा है? जग जागृत होकर—सचेत होकर-अपने घट को (हृदय को) देख। विचार कर कि क्या हो रहा है? इस शरीर रूपी मठ (आवास) का किंचित भी विश्वास मत कर; इसका जरा भी भरोसा नहीं है कि न मालूम यह कब ढहकर क्षण मात्र में भूमिसात हो जावे—गिर पड़े। इसलिये अपनी सम्पूर्ण हल-

चल दौड़ रूप (मोह माया) को त्यागकर अपने हृदय को टटोल कि इसमें क्या है ? इस घट रूपी सरोवर के जल में रमण करने वाले आत्माराम को पहचान ।।१।।

इस शरीर रूपी मठ में पंचभूत निवास करते हैं। जिस प्रकार शरीर पंच भूतों का निवास स्थान है अर्थात् पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु आकाश का स्थान शरीर है वैसे ही मठ भी इनसे निर्मित हैं। और इस शरीर-मठ में श्वास रूप धूर्त, दुष्ट दानव भी है। जो क्षण क्षण में छलना चाहता है अर्थात् बहकाता रहता है। हे मठ निवासी भोले अवधूत शिष्य ! तू इस बात को समझता क्यों नहीं है ? यह शरीर जड पुद्गलों से बना हुआ है और तू ज्ञान घन चेतन है। यह तुझसे विजातीय है। शरीर तो इन जड पदार्थों में ही सुख मानने वाला है। इसलिये तू इनके संयोग से अनादि काल से ठगा जाकर अपने चैतन्य स्वरूप को भूला हुआ है। इस भूल को अब सुधार ।।२।।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु इन पंच परमेश्वरों का तेरे मस्तक में वास (निवास) है और तेरे घट में सम्यक्त्व रूप सूक्ष्म खिड़की है जिसके मार्ग से तू क्षायिक भाव रूप ध्रुवतारे का दर्शन कर सकता है। परन्तु यह प्रकाश किसी (विरले) भाग्यशाली को ही दीर्घ अभ्यास के द्वारा प्रकट होता है।

हृदय जब तक अनेक कामनाओं में फँसा हुआ है, जब तक नाना प्रकार के सुखों की व भोगों की आशायें हृदय में घर किये हुये हैं, तब तक आत्म-चिन्तन नहीं होता है। हृदय जब सब वासनाओं को त्याग कर केवल आत्म लक्षी हो जाता है तो उसे आत्म-दर्शन हो जाता है ।।३।।

सम्पूर्ण आशाओं को मारकर (त्यागकर), मन में दृढ़ स्थिरता रूप आसन जमाकर जो अजपा जाप अर्थात् उच्चारण रहित-चिन्तन

रहित जाप-ध्यान, करता है तो वह आनन्द स्वरूप ज्ञान दर्शनमय निरंजन स्वामी—परमात्मदेव को प्राप्त कर लेता है ॥४॥

आशायें त्यागे बिना कोई भी आत्म साधना में सफल नहीं हो सकता है। इस साधना में आसन का भी बहुत बडा महत्व है। आसन से काया के योग पर अंकुश रहता है। यदि शरीर ही स्थिर न रह सका तो मन का स्थिर होना असम्भव है। इसलिये यम-नियम के पश्चात् आसन योग का ही स्थान अष्टांग योग में है। आसन में शरीर का शिथिलीकरण ही मुख्य है। ज्यों-ज्यों शरीर शिथिल होता जावेगा, त्यों-त्यों मन एकाग्र होता जावेगा। मन की एकाग्रता ही आत्मसिद्धि का द्वार है।

आशा जय **५८** **राग—आशावरी**

आसा औरन की कहा कीजै, ज्ञान-सुधारस पीजै ॥
भटकै द्वारि-द्वारि लोकनकै, कूकर आसाधारी।
आतम अनुभव रसके रसिया, उतरइ न कबहु खुमारी ॥आ०॥१॥
आसा दासी के जे जाये, ते जन जग के दासा।
आसा दासी करे जे नायक, लायक अनुभौ प्यासा ॥आ०॥२॥
मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अगनि परजाली।
तन भाठी अवटाइ पीये कस, जागे अनुभौ लाली ॥आ०॥३॥
अगम पीयाला पीओ मतवाला, चिन्हे अध्यातम वासा।
'आनन्दघन' ह्वै जग में खेलै, देखै लोक तमासा ॥आ०॥४॥

पाठान्तर—कहा = क्या (अ.आ)। ज्ञान = ताते ध्यान (इ.उ)। आसाधारी = आसाधारी रे (अ.इ)। उतरइ = उतरै (आ), ऊतरे (इ.उ)। कबहु = कबहू (आ), कबहुं (इ), कबहूँ (उ)। जे = जग (अ)। अनुभौ = अनुभव (आ)। प्यासा = पियासा (उ), पिपासा (इ)। अगनि = अग्नि (अ)। भाठी = माठी

(आ), भठी (उ)। अवटाइ = अवटाई (अ.उ), औटाय (इ)। अगम = आगम (उ)। पीआला = पीआला (आ), पियाला (इ), प्याला (उ)। चिन्है = चीन्ह (आ), चीन्ही (इ), चीनी (उ)। आनन्दघन""खेले = आनंदघन वे जग में खेले (उ), आनन्दघन चेतन ह्वै खेलै (क.व.वि)। लोक = खलक (इ)।

शब्दार्थ—ओरनकी = दूसरों की। द्वारि-द्वारि = घर-घर, दरवाजे-दरवाजे। कूकर = कुत्ता। खुमारी = नशा। जाये = जन्मे, जन्म लिया। नायक = नेता, स्वामी। मनसा = मनकी भावना। ब्रह्म = शुद्ध स्वरूप। परजाली = प्रज्वलित करके, जलाकर। भाठी = भट्टी। अवटाइ = औटाकर। कस = काढ़ा, सत्व। अगम = अगम्य, गहन, दुर्लभ।

अर्थ—श्री आनन्दघनजी उद्‌बोधन दे रहे हैं—दूसरों की आशा क्या करते हो? दूसरे—जो अपने नहीं हैं, उनसे क्या आशा रखी जा सकती है? पौद्‌गलिक सुखों से शांति एवं सुख की क्या आशा की जा सकती है? वे तो क्षणिक सुख देकर (भुलावे—भ्रम में डालकर) फिर दुख और अशांति के दाता है। इन पौद्‌गलिक सुखों की आशा-तृष्णा त्याग कर ज्ञान रूप अमृत रस का आस्वादन करो। इस अमृत रस के पीने से निरंतर रहने वाले सुख और शांति की प्राप्ति होती है।

जो पौद्‌गलिक सुखों की आशा-तृष्णा के पीछे पडते हैं, वे उस श्वान (कुत्ते) के समान हैं जो भूंठे टुकडों की प्राप्ति की आशा लेकर लोगों के घर घर भटकता फिरता है। पौद्‌गलिक सुखों की आशा-तृष्णा लिये हुये भटकने से, वे सुख प्राप्त हो भी जाय, तो यह दुराशा मात्र है। इसलिये इन भूंठे सुखों की आशा त्यागकर जो आत्मानुभव रस के रसिकजन हैं, वे उस आत्मानुभव (ज्ञानामृत) रस को पीकर इतने मग्न (मस्त) हो जाते हैं कि उसका खुमार (नशा) कभी दूर होता ही नहीं है। वे सदा आत्मानन्द में गर्क—डूबे हुए रहते हैं॥१॥

संसार में जीवन में रस पैदा करने वाली आशा ही है। वह भविष्य के नये-नये स्वप्न संजोती रहती है। आशा-तृष्णा ही संसार

है। (अतः आत्मोत्थान करने वालों को आशा का त्यागकर भव-भ्रमण को घटाना चाहिये) जो संसार को—भव-भ्रमण—को घटाना चाहते है, उन्हें आशा रहित होकर अनित्य अशरग आदि भावनायें अपनाना चाहिये। ये भावनायें आशाओं पर अंकुश का काम करती हैं।

आशा-दासी की जो संतानें हैं, वे संसार की दास हैं—गुलाम है क्योंकि दासी के पुत्र तो दास ही होंगे, किन्तु जिन्होंने आशा को अपनी दासी वना लिया है—आशा दासी पर नेतृत्त्व कर अपने नियंत्रण में ले लिया है, वे स्वरूपानुभव की प्यास को तृप्त करने के अधिकारी है। आत्मानुभव के प्यासे, योग्य नेता हैं।

सांसारिक सुखों की आशा रखने वाले, वास्तव में जगत के दास ही हैं। वे प्रत्येक को प्रसन्न रखने के प्रयत्न में न मालूम क्या-क्या कर डालते हैं। दूसरों की खुशामद में लगे रहते हैं। अतः वे दास हैं। जो दास वृत्ति धारण कर लेते है उन्हें कटु और अपशब्द सहन करने पड़ते है, और जिन्होंने आशा को दासी वना लिया है—अपनी आज्ञाकारिणी वना लिया है अर्थात् पौद्गलिक सुखों की आशा को त्याग दिया है वे आत्मानुभव के अधिकारी वन गये हैं ॥२॥

आत्म शुद्धि की इच्छा रूप प्याले में स्वाध्याय रूप मसाला भर कर ब्रह्म-आत्म-तेज (तप) रूप अग्नि प्रज्वलित कर शरीर रूपी भट्टी में औटाकर जो उस मसाले का सत्व (कस) पीते हैं उन्हें अनुभव ज्ञान रूप लालिमा प्रकट हो जाती है ॥३॥

इस पद में कवि ने रूपक द्वारा आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया को समझाया है। ध्यान, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मा शुद्ध, शुद्धतर और अन्त में शुद्धतम अवस्था को प्राप्त हो जाती है। अंतिम अवस्था में पहुँचने पर उसे ज्ञान रूप लालिमा—प्रकाश प्राप्त हो जाता है।

यह ऊपर बताया हुआ सत्व (कस) से भरा हुआ प्याला अगम्य है—उसकी विशेषतायें हर व्यक्ति की समझ से बाहर है। उसे तो वे ही पहचानते है जो अध्यात्म में निवास करने वाले है। अर्थात् जो बहिरभाव में नहीं रहते और आत्मभाव में रमण करते हैं। ऐसे ही जन इस प्याले का आस्वादन कर मग्न हो जाते हैं। इसलिये इस रस के रसिको!—आत्मोद्धार के पथिको! इसका आस्वादन करो—पीओ। जिसने इस रस का आस्वादन कर लिया वह अबाधित आनन्द समूह चेतन बनकर चौदह राजु लोक का तमासा देखता है अर्थात् लोक में हुई, हो रही और होने वाली घटनाओं को देखता है। इस प्रकार शुद्ध बुद्ध मुक्त बन जाता है।

त्रिपदी रहस्य **५६** **राग–आसावरी**

(द्रव्य, गुण और पर्याय)

अवधू नटनागर की बाजी, जाणै न बांभण काजी॥
थिरता एक समय में ठानै, उपजै विनसै तबही।
उलट पुलट ध्रुव सत्ता राखै, या हम सुनी नही कबही॥अव०॥१॥
एक अनेक अनेक एक फुनि, कुंडल कनक सुभावै।
जल तरंग घट माटी रविकर, अगनित ताइ समावै॥अव०॥२॥
है नाहीं नही वचन अगोचर, नै प्रमाण सतभंगी।
निरपखि होइ लखै कोइ बिरला, क्या देखे मतजंगी॥अव०॥३॥
सरब मई सरवंगी माने, न्यारीं सत्ता भावै।
'आनन्दघन' प्रभु वचन सुधारस, परमारथ सो पावै॥अव०॥४॥

पठान्तर—बांभण = वांभण (उ)। समय = समै (आ), समें (इ)। उलट पुलट=उलट ध्रुव (आ)। या=एह (उ)। सुनी=सुणा (इ)। नही=न (इ)। एक=एकहु (इ), एकही (उ)। सुभावै=सुसावै(आ)। तरंग=तरंगे (उ)।

घट = घर (आ)। है नांही नही = है नहि नही है (आ), है नाहीं है (इ), है नाहीं हें (उ)। नै = नय (अ.इ.उ)। निरपखि = निरपख (इ.उ)। मत = मति (आ)। मइ = मांहि (अ)। न्यारी = नारी (उ)। सुधारस = अगोचर (उ)।

शब्दार्थ—अवधू = संसार से निर्लिप्त महात्मा। नागर = चतुर। बाजी = खेल। बांभण = ब्राह्मण, पंडित। थिरता = स्थिरता। ठानै = ठानता है, संकल्प करता है। उपजै = उत्पन्न होता है। विनसै = नष्ट होता है। उलट पुलट ध्रुव सत्ता राखै = रूप बदलता हुआ भी अपना अस्तित्व रखता है। फुनि = पुनि, फिर। कनक = स्वर्ण, सोना। कुंडल = कान में पहिनने का जेवर। कुंडल कनक सुभावै = सोने के कुंडल को तुडाकर फिर दूसरा गहना बना लिया जाता है किन्तु उसका स्वर्णपना वैसा का वैसा ही रहता है। ताइं = उसमें। समावे = समा जाती है, प्रवेश कर जाना। नै = नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत ये सात नय हैं। सतभंगी = सप्तभंगी न्याय, स्यात् अस्ति, स्यात नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्य। निरपखि = निरपक्ष, पक्षपात रहित। मतजंगी = अपने मत में मस्त, साम्प्रदायिक विवाद की रुचि वाला। सरवंगी = सब नय प्रमाण, सप्तभंगी नय।

अर्थ—*इस पद में जैन दर्शन के अनोखे सिद्धान्त—द्रव्य-गुण* और पर्याय का सुन्दर वर्णन है। द्रव्य सदा (त्रिकाल में) एक-सा रहता है चाहे उसके रूप सदा परिवर्तन होते ही रहें। द्रव्य के द्रव्यत्व का कभी नाश नहीं होता है। रूप सदा परिवर्तनशील होते है। आत्मा (जीव) पर्यायों के कारण सदा अन्य-अन्य रूप बदलता रहता है किन्तु फिर भी आत्मा—आत्मा ही रहता है। स्वर्ण एक रूप (कुंडल अंगूठी आभूषण आदि) से बार बार गलकर और—और रूप में प्रकट हो जाता है किन्तु फिर भी वह स्वर्ण का स्वर्ण ही रहता है। इस बात का दिग्दर्शन इस पद में किया गया है।

हे अवधू ! शरीर रूप नगर में वास करने वाला आत्मा रूप चतुर नट का खेल बडा ही विचित्र है। इसके रहस्य को वेदज्ञ ब्राह्मण और कुरानपाठी काजी जैसे बुद्धिमान पुरुष भी नहीं जान सके है।

यह आत्मा एक ही समय में उत्पन्न होता है फिर उसी समय नाश को प्राप्त हो जाता है, और उसी समय में अपनी निश्चल सत्ता में स्थिर (अटल) रहता है। यह उत्पाद-व्यय की उथल-पुथल सदा चलती रहती है किन्तु यह आत्मा अपनी ध्रुव सत्ता को कभी नहीं छोडता है। उत्पन्न होना, विनाश होना एवं उसी समय ध्रुव (स्थिर) रहना, यह बडी विचित्रता है। जो हमने कभी नही सुनी। हमने ही क्या, बडे बुद्धिमान वेदज्ञ ब्राह्मण और कुरान-पाठी काजी ने भी नहीं सुनी ॥१॥

जैन दार्शनिकों ने पदार्थ के स्वरूप का नाश न होना, नित्य का लक्षण माना है। इस लक्षण के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हो उसे सत् अथवा द्रव्य कहते हैं। आत्मा पूर्व भव को त्याग कर उत्तर भव ग्रहण करती है और दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा समान रूप से रहती है। इससे आत्मा में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सिद्ध होता है।

'उपन्नेइ वा विगमेइ वा ध्रुवेइ वा' इन तीन पदों पर ही—सिद्धान्तों पर—ही जैन दर्शन की नींव स्थिर है।

एक के अनेक रूप हो जाते हैं, अनेक फिर भी एक ही है। स्वर्ण का कुंडल हो जावे, अनेक प्रकार के अनेक आभूषण बन जावे फिर भी स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहता है। स्वर्ण का स्वर्णत्व सब आभूषणों में विद्यमान रहता है। वह कभी नाश नहीं होता है।

उसी प्रकार आत्मा एक द्रव्य तथा मनुष्य, गाय, बैल, कबूतर, शुक, पिक, देव नारक आदि उसके पर्याय है। इन पर्यायों में आत्मा सदा, सर्वदा वैसा का वैसा ही रहता है।

जल तरंग में भी पूर्व तरंग का व्यय, नवीन का उत्पाद है, किन्तु जलत्व तो दोनों में ध्रुव रूप से देखने में आता है। वैसे ही मिट्टी का घट आकार रूप उत्पाद, टूटने पर ठीकरे रूप में व्यय, किन्तु इन दोनों अवस्थाओं में मिट्टी का रूप एक ही है। सूर्य की किरणों में भी उत्पाद, व्यय और ध्रुवता देखने में आती है। अर्थात् सूर्य की किरणें अनेक दिशाओं में फैलकर अनेक दिखाई देती है किन्तु सूर्य रूप में वे एक ही है ।।२।।

है, नहीं है और वचन से जो कहा नहीं जा सकता, ऐसा स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्याद् अवक्तव्य इन तीनों भेदों के चार उत्तर भेद—(स्याद् अस्ति नास्ति, स्याद् अस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य)—मिलने से सप्तभंगी स्याद्-वादनय, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, निश्चय और व्यवहार नय और नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयों के प्रमाणों से परीक्षा करके आत्मा के वास्तविक स्वरूप को कोई भाग्यशाली ही अपना पक्षपात त्याग कर ही जान सकता है। लेकिन जो कदाग्रही है, विवादी है वे इसके वास्तविक स्वरूप को क्या जान सकते हैं ।।३।।

कितने ही परमात्मा को सब जड-जंगम और सब स्थानों में व्याप्त मानते है किन्तु फिर भी उसकी अलग सत्ता स्वीकार करते है। श्री आनन्दघनजी कहते हैं—आनन्द स्वरूप भगवान के अमृतमय वचनों को जानते है, उनके वचनों पर विश्वास करते हैं, वे ही परमार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करते है ।।४।।

अनेकान्तवादी आत्मा को शुद्ध ज्ञान की अपेक्षा सर्व व्यापी मानते है और वस्तु की अपेक्षा सर्व व्यापी नहीं मानते है। जाति की अपेक्षा, आत्मा को एक और वस्तु की अपेक्षा से आत्माओं को पृथक-पृथक मानते हैं। जो इस रहस्य को जान गये है वे ही परमार्थ को प्राप्त करते हैं॥

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्ति ६० राग—आसावरी

अवधू ! अनुभव कलिका जागी, मति मेरी आतम सुमरिन लागी ॥
जाइ न कबहु और ढ़िग नेरी, तोरी बनिता बेरी।
माया चेरी कुटंब करी हाथे, एक डेढ़ दिन घेरी ॥अव०॥१॥
जामन मरन जरा वसि सारी, असरन दुनियां जेती।
दे ढवकाय न वा गमैं मीयां, किस पर ममता ऐती ॥अवं०॥२॥
अनुभव रस में रोग न सोगा, लोक वाद सब मेटा।
केवल अच ॐ अनादि अबाधित, शिव शंकर का भेटा ॥अव०॥३॥
वरषा बूंद समुंद समानै, खबरि न पावै कोई।
'आनन्दघन' ह्वै जोति समावै, अलख लखावै सोई ॥अव०॥४॥

पाठान्तर—सुमरिन = सुमिरन (आ), सुमरन (इ.उ), सूं मिलन (क)। जाइ = जो (अ), जायै (इ)। कबहु = कहुं (उ)। तोरी = तेरी (इ.उ)। बेरी = चेरी (अ)। चेरी = बेरी (आ.उ)। करी हाथे = कडी हाथे (आ)। जामन = काया (उ)। दे ढवकाय····मीयां = डेढ़ वकाय न वाग में मीया (आ), डे ढव कायण वागमे पीया (उ), देढव कांई न बाग में मीयां (व)। पर = परि (आ)। ममता = मभतां (उ)। अनुभव = अनुभौ (इ)। रोग = राग (उ)। वाद = वेद (आ), वेट (उ)। सब = सत (उ)। शंकर का = संकर की (अ)। बूंद = बुंद (आ), समुंद = ममुद (अ)। समानै = समानि (आ) समानी (इ), खबरि = खबर (इ.उ)। ह्वै = है (आ)।'इ' प्रति में 'है' या 'ह्वै' शब्द नहीं है,

को (उ)। जोति समानै = ज्योति समावे (आ), जोत जगावै (उ)। लखावै = कहावे (आ)।

शब्दार्थ—जागी = जागृत हो गई, विकसित हो गई। मति = बुद्धि। ढिग = पास। नेरी = निकट। वनिता = विवशता। वेरी = वेडी। चेरी = दासी घेरी = घेरा डालकर। वसि = वश में करके। सारी=सब की। असरन = प्रभाव रहित, अशरण। दे ढवकाय = त्याग दे, दबा दे। न वा गमे = वो अच्छी नहीं लगती। लोकवाद = संसार के अन्यवाद, संसार के अन्य मत मतान्तर। भेटा = मिलन।

अर्थ—हे अवधू ! अब अनुभव ज्ञान रूपी कली विकसित हो गई है, इस कारण मेरी मति (बुद्धि) आत्म-स्मरण में लग गई है—आत्म रमण में लग गई है। अब आत्म भाव के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु में—अन्य किसी भी भाव के निकट नहीं जाती है। उसने (मेरी मति ने) विवशताओं की वेडी (बंधन) को तोडकर माया-दासी तथा उसके परिवार (लोभादि) को चारों ओर से एक डेढ़ दिन का घेरा डालकर अपने हाथ कर लिया है—अपने वश में कर लिया है। अब ये (माया लोभादि) कुछ विगाड नहीं कर सकती है ॥१॥

यह सम्पूर्ण संसार जन्म, मृत्यु वृद्धावस्था के वशीभूत हैं, इस लिये अशरण है, अर्थात् संसार में ऐसा कोई नहीं है जिस पर इनका प्रभाव न हो किन्तु अनुभव ज्ञान रूपी कलिका के विकसित होने से जन्म, मृत्यु और जरा का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं है। मुझे तनिक भी भय नहीं है। मुझे ये तनिक भी अच्छे नहीं लगते है और न इन पर मेरा ममत्व ही है इसलिये मैंने इन्हें दूर कर दिया है—छोड दिया है ॥२॥

अनुभव के रसा स्वादन से शारीरिक रोग और मानसिक शोक-संताप नहीं रहते हैं। आत्मा और शरीर के भेद-ज्ञान का नाम ही अनुभव है। आत्मा, ज्ञान स्वरूप और आनन्द

स्वरूप है। शरीर, रोगों का और मन शोक-संतापों का घर है। भेद ज्ञानी मानसिक व शारीरिक दुखों से कभी दुखी नहीं होता है। वह तो दर्शक वनकर देह और मन का नाटक देखता है और अपने ज्ञानानंद में मग्न रहता है। अनुभव ज्ञान होने पर निन्दा-स्तुति लोकापवाद दूर हो जाते है—इनका कुछ असर नहीं होता है। यहाँ (अनुभव ज्ञान में तो) केवल अचल, अनादि, व्राधा रहित कल्याण-कारण, मंगलदायक चैतन्य शक्ति का साक्षात्कार रहता है ॥३॥

वर्षा की बूंद जिस भांति समुद्र में समा जाती है—मिल जाती है और फिर उस बूंद की किसी को खवर नहीं लगती है कि वह बूंद कौन सी है वह तो समुद्र रूप हो जाती है। उसी भांति अनुभव ज्ञानी आनंदराशी की ज्योति में समा जाते हैं—सिद्ध परमात्म स्वरूप प्राप्त हो जाते है, इसलिये अलख-अलक्ष्य हो जाते हैं क्योंकि इस विपय पर विचार एवं लेखनी की गति नहीं होती। समुद्र में वर्षा की बूंद की खोज नहीं हो सकती क्योंकि वह समुद्रमय वन जाती है वैसे ही चेतन विशाल आनन्द समुद्र वन जाता है ॥४॥

नोट—इस पद में द्वितीय द्विपदी के दूसरे चरण "दे ढव्रकाय न वा गम मीया" का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। हमने इसका अर्थ पूर्वापर के सम्वन्धों को देखते हुये खेंचतान करके लगाया है। इस पद का अर्थ 'आनन्दघन पद संग्रह', के विवेचन कर्त्ता श्रीमद् बुद्धिसागर सूरीश्वर ने और ही दिया है, वह यहाँ दिया जाता है। उनका पाठ है—"देढव कांई न वाग में मीयां किस पर ममता ऐती" उन्होंने जो अर्थ किया है उसका सारांश यह है—"सव जीव जन्म, जरा और मृत्यु के वश में पडे हुये हैं। संसार में उन्हें कोई शरण नहीं है। मृत्यु से उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। संसार में दुखकारक पदार्थों को सुखकारक मानकर जीव उसमें फँस रहे हैं। जीव सुख का उपयोग करने का प्रयत्न करता है परन्तु उसे दुख ही प्राप्त होता

है। फिर भी सांसारिक जीव बाह्य वस्तुओं की ममता को छोडता नहीं है। इस पर दृष्टान्त देकर इसकी पुष्टी में कवि कहते है—कोई मीयां बाग में मीठी व कडवी निवौली (नीम का फल) एकत्रित कर रहा था। उस समय उसकी बीबी से किसी ने आकर पूछा कि मीयां कहां गया ? बीबी ने कहा बाग में गया है। मीयां निवौली एकत्रित कर रहा है उसी प्रकार सांसारिक जीव दुख भोगते हुए सुख मानता है, परन्तु अज्ञान भ्रांति से मियां के बाग में निवौली लेने की तरह वेदनीय कर्मरूप कडवी निवौली एकत्रित की तो उसे कडवा ही स्वाद आयेगा। सांसारिक पदार्थों पर ऐसी ममता रखना योग्य नहीं है।

अनिर्वचनीय रूप ६१ राग-गौडी

निसाणी कहा बतावुं रे, वचन अगोचर रूप ॥
रूपी कहुं तो कछु नहीं रे, बधइ कइसइ अरूप।
रूपारूपी जो कहुं प्यारे, अैसे न सिद्ध अनूप ॥नि०॥१॥
सिद्ध सरूपी जो कहूँ रे, बंध न मोख विचार।
न घटै संसारी दसा प्यारे, पाप पुण्य अवतार ॥नि०॥२॥
सिद्ध सनातन जो कहूँ रे, उपजइ विरणसइ कौन।
उपजइ विरणसइ जो कहूँ प्यारे, नित्य अबाधित गौन ॥नि०॥३॥
सरवंगी सब नइ धरणी रे, मानै सब परवान।
नयवादी पल्लो गहै (प्यारे), करइ लराइ ठान ॥नि०॥४॥
अनुभव गोचर वस्तु को रे, जारिणवो इह इलाज।
कहरण सुरणरण कुं कछु नहीं प्यारे, 'आनन्दघन' महाराज ॥नि०॥५॥

पाठान्तर—बतावुं = बताउं (इ)। वचन····रूप = तेरो अगम अगोचर रूप (अ)। तो = तउ (आ, इ.उ)। बंधइ = बंधै (इ) बंदै (उ)। कइसइ =

कसइ (आ), कैसै (इ), के सै (उ)। अैसे = इसे (उ)। सिद्ध = सुद्ध (आ.उ)। जो = जउ (आ)। उपजइ = उपजै (अ.इ)। विणसइ = विणसै (आ)। 'उ' प्रति में पद संख्या २ के स्थान पर तो तीन पद संख्या है और तीन के स्थान पर दो है। यथा—सुद्ध सरूपी जो कहू रे, उपजै त्रिसर्ण कौन। उपजै विणसे जो कहू प्यारे, निरय अबाधित गोन ॥२॥ सिद्ध सनातन जो कहूँ रे, बंधन मोक्ष विचार। न घटे संसारी दसा, पुण्य पाप अवतार ॥३॥ नइ = नै (आ)। गहै=ग्रहइ प्यारे (अ), गही प्यारे (इ)। करइ=करै (इ), करे (उ)। अनुभव= अनुभौ (इ)। को रे=हे रे (उ)। जाणिवो = जाणिवउ (आ), जाणवौ (इ), जाणवो (उ)। इह इलाज= इहै लाज (आ), एह इलाज (इ), एहि इलाज (उ)।

शब्दार्थ—निसाणी = पहिचान। वचन""रूप = वचनातीत, वचन-वाणी से जिसका रूप कहा न जा सके। रूपी = रूप वाला, साकार। अरूप= रूप रहित, निराकार। सिद्ध सरूपी = सिद्ध आत्मा जैसा। सनातन = अनादि। नित्य = सास्वत। अबाधित = बाधा रहित। गौन = गमन, गति। सरवंगी = सर्व रूप अनेकान्तवादी। सब नइ धणी रे = सब दृष्टियों के धारक। परवान = प्रमाण। नयवादी = न्याय शास्त्री, तर्कवादी, एक ही दृष्टिकोण को मानने वाला। पल्लो = किनारा, अंश। ठान = आयोजन करके, संकल्प करके।

अर्थ—चेतन—आत्मा के स्वरूप की मीमांसा करते हुये श्री आनन्दघन कहते हैं—चेतन की क्या पहिचान बताऊँ, उसका स्वरूप तो वचनातीत है। वाणी द्वारा उसका रूप नहीं बताया जा सकता है। यदि उसे रूपी—आकार वाला—कहता हूं तो वह कहीं दिखलाई नहीं देता है और यदि उसे अरूपी—निराकार कहता हूं तो कर्मों के बंधन में अरूपी कैसे बंध सकता है? यदि चेतन को रूपी-अरूपी-साकार, निराकार उभय रूप कहता हूं तो अनुपम (जिसकी कोई उपमा नहीं) सिद्ध भगवान का वह स्वरूप नहीं है अर्थात् सिद्ध भगवान के लक्षण से मेल नहीं बैठता है क्योंकि सिद्धों के कोई रूप नहीं है ॥१॥

यदि चेतन को सिद्ध स्वरूपी और (वर्ण, गंध, रस स्पर्श रहित) कहता हूं तो फिर बंध और मोक्ष का विचार ही नहीं हो सकता,

क्योंकि जो सदा शुद्ध है वही बंधन में पडे तो मुक्त जीव भी बन्धन में पडेंगे, फिर किसी आत्मा के लिये मुक्त शब्द चरितार्थ ही नहीं होगा, और सिद्ध स्वरूपी कहने से सांसारिक दशा भव भ्रमण सिद्ध नहीं होता है तथा पुण्य कर्म के अनुसार मनुष्य और देव रूप में जन्म लेना तथा पाप के फलस्वरूप नरक तिर्यंच में जन्म लेना घटित (सिद्ध) नहीं होता है ॥२॥

यदि चेतन को अनादिकाल से सिद्ध कहता हूं तो पैदा होने वाला और मरने वाला कौन है ? जो उसे उत्पन्न और विनाश होने वाला कहता हूं तो उसके नित्यत्व और अबाधितत्व का लोप हो जाता है ॥३॥

चेतन सर्वांगी रूप है, सब नयों का स्वामी है अर्थात् इसमें सब नय सिद्ध होते हैं–घटते हैं। जो इसे प्रमाण ज्ञान द्वारा समझने का यत्न करते हैं वे इसके स्वरूप को समझ सकते हैं, अर्थात् अनेकान्त दृष्टियों से चेतन का स्वरूप समझा जा सकता है, किन्तु नयवादी एक ही दृष्टिकोण को ग्रहण कर (अपना कर) विवाद (झगड़ा) करते रहते हैं ॥४॥

शास्त्रों में नय का लक्षण—'अनंत धर्मात्मके वस्तुन्येकधर्मोन्नयनं ज्ञानं नयः', वस्तु के अनेक धर्म होते हैं उनमे से किसी एक धर्म को प्रधानता देने वाले और दूसरे धर्मो को गौण रखने वाले ज्ञान को 'नय' कहते हैं। नय, वस्तु के एक देश का ही ज्ञान कराने वाला होता है। इससे वह प्रमाण ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में वस्तु में अनेक धर्म होते हैं उन धर्मो को बताने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है—"सकलधर्म ग्राहकं प्रमाणं" तथा "स्व पर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्"। वस्तु के अंशग्राही ज्ञान को नय कहते हैं। अतः वह प्रमाणिकता की कोटि में नहीं आता है क्योंकि वस्तु में अनेक धर्म विद्यमान हैं। सर्व अंशों के ज्ञान को ग्रहण करके वस्तु के स्वरूप की

ओर ले जाने वाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं। प्रमाण ज्ञान अनेकान्त दृष्टियों वाला होता है। वही वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने वाला है। चेतन का स्वरूप तो प्रमाण ज्ञान से ही समझा जा सकता है। वेदान्ती, बौद्ध, सांख्य दर्शनी आदि नयवादी वस्तु के एक देश धर्म को ही प्रधानता देकर झगड बैठते हैं—विवाद कर बैठते हैं।

(१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋजुसूत्र, (५) शब्द, (६) समभिरूढ, (७) एवंभूत ये सात नय हैं। प्रत्येक नय वस्तु के एक धर्म को ही बताता है।

व्यवहार और नैगम नय की अपेक्षा से चेतन रूपी कहा जाता है और निश्चय नय की अपेक्षा से अरूपी कहा जाता है। सांसारिक जीव कर्मवर्गणा की अपेक्षा रूपी, और रुचक प्रदेश, कर्मवर्गणा से अलिप्त होने से वह अरूपी कहा जाता है।

संग्रह नय की अपेक्षा से आत्मा की केवल सत्ता ग्रहण की जाती है क्योंकि चेतन स्वयं उत्पन्न नहीं होता, और न स्वयं मरता ही है। वह जैसा है, वैसा ही रहता है।

व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा द्रव्यत्व से नित्य है और पर्याय से अनित्य है। ऋजुसूत्र की अपेक्षा से वर्तमान में वस्तु का जो रूप है उसे ही प्रधानता दी जाती है।

शब्द नय की अपेक्षा से एक शब्द के अनेक पर्याय होने पर भी जो शब्द बोला गया है उसका ही ग्रहण किया जाता है, उसके पर्यायों का ग्रहण नहीं किया जाता।

इसके विरुद्ध समभिरूढ़ नय वाला प्रत्येक शब्द के पृथक्-पृथक् अर्थों को स्वीकार करता है। आत्मा जीव, चेतन आदि शब्द को

अलग अलग पर्यायवाची समझकर अलग अलग अर्थ स्वीकार करता है।

एवंभूत नय की अपेक्षा से कर्त्ता की जो क्रिया वर्तमान में चल रही हो, उसको कर्त्ता के साथ युक्त करके व्यवहार किया जाता है। जो आत्मा चंडाल का काम करती है, उसे चंडाल और जो साधु की क्रिया करती है उसे साधु कहा जाता है।

आगमसार ग्रंथ में मुनिराज श्री देवचन्द जी ने 'सिद्ध' को सात नयों से व्याख्या की है। उसका संक्षिप्त यह है—

(१) नैगम नय—समस्त जीवों को सिद्ध स्वरूप माना है।

(२) संग्रह नय—सब जीवों के मूलगुणों को सिद्धवत् मानता है।

(३) व्यवहार नय—विद्यालब्धि चमत्कार सिद्धी वाले को सिद्ध मानता है।

(४) ऋजुसूत्र नय—सम्यक्त्वी जीव को सिद्ध मानता है।

(५) शब्द नय—शुक्ल ध्यान के परिणामवाले को सिद्ध मानता है।

(६) समभिरूढ नय—केवल ज्ञानी यथाख्यात चरित्री तेरवें चौदवें गुण स्थान वाले को सिद्ध मानता है।

(७) एवंभूत नय—जो सकल कर्म क्षय करके लोकान्त में विराजमान है उन्हें सिद्ध मानता है।

इस प्रकार यह चेतन आत्मा सर्वांगी और स्वयं सब नयों का स्वामी है। उसका रूप एक नय द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। सब दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर ही उसका स्वरूप समझा जा सकता है।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं—यह आत्मा अनुभव से ही जानी जाने वाली है। इसके जानने का उपाय यही है जो ऊपर बताया जा चुका है। अनुभव गम्य आत्मा के सम्बन्ध में तो कहने सुनने वाली बात कुछ भी नहीं है क्योंकि यह आत्मा तो आनन्द समूह महात्मा है। इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता है। यह तो इन्द्रियातीत है। यह आत्मा तो आत्मा द्वारा ही जानी जाती है। इसकी पहिचान का तो एक ही इलाज—उपाय अनुभव ज्ञान है।

अनुभव का लक्षण कविवर श्री बनारसीदासजी ने इस प्रकार बताया है—

"वस्तुविचारत ध्यावतां, मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख उपजे, अनुभव वाको नाम।"

वस्तु का विचार करते समय, इसका ध्यान करते करते जब मन शांत होने लगे, उस समय आत्म रस के आस्वादन में जो अपूर्व सुख की निष्पत्ति होती है उसे अनुभव ज्ञान कहा जाता है

अनादित्व सिद्धि **६२** **राग—गौडी**

विचारी कहा विचारइरे, तेरो आगम अगम अपार॥
विनु आधार आधेय नहीं रे, विनु आधेय आधार।
मुरगी विन इंडा नहीं प्यारे, वा विनु मुरग की नार॥वि०॥१॥
भुरट बीज बिना नहीं रे, बीज न भुरटा टार।
निस विनु द्यौस घटइ नही प्यारे, दिन विनु निस निरधार॥वि०॥२॥
सिद्ध संसारी विनु नहीं रे, सिद्ध न विनु संसार।
करता विनु करणी नहीं प्यारे, विनु करणी करतार॥वि०॥३॥
जामण मरण बिना नहीं रे, मरण न जनम विनास।

दीपक विनु परकास के प्यारे, विन दीपक परकास ॥वि०॥४॥
'आनंदघन' प्रभु वचन की रे, परिणति धरि रुचिवंत ।
सास्वत भाव विचारते प्यारे, खेलो अनादि अनंत ॥वि०॥५॥

पाठान्तर—विचारइ = विचारै (आ), विचारो (उ) तेरो आगम.... अपार = अगम अथाह अपार (अ), आगम अगाह अपार (उ), तेरो आगम अगम अथाह (क.व) विनु = विन (इ)। आवार आधेय = आधे आधा (इ)। आवार = अवार (इ)। 'आ' प्रति में "यारे" शब्द नहीं है। वा = या (इ)। दिन....निरधार = विन दिन निस निरधार (इ)। विनु = विन (इ), विना (उ)। नहीं प्यारे = नहीं रे (अ), जामण = जांमन (इ), जनम (उ)। दीपक = दीपन (अ.इ)। परकास के प्यारे = परगास के प्यारे (अ), परगासता प्यारे (इ). परगासवो प्यारे (उ)। विन....परकास = दीपन विनु परगास (आ)। वचन की रे = वर्चन थीरे (उ)। धरि = धरइ (आ), धर (अ), धरूं (इ)। सास्वत = सासित (आ)। विचार ते प्यारे = विचार के प्यारे (अ.इ)। खेलो = खेल (आ), खेले (इ)।

शब्दार्थ—विचारी = विचारक, विचार करने वाले। अगम = अगम्य आवार = सहारा। आधेय = सहारे पर टिकी हुई वस्तु। भुरटा = भरभूंट; कांटे वाला पौदा। टार = विना। निस = रात्रि। दीस = दिन। निरधार = निर्णय। करणी = क्रिया। करतार = करने वाला, कर्त्ता। जामण = जन्म। विनास = विन्यास, स्थापन करना। परिणति = रूपान्तर की क्रिया;. फल। रुचिवंत = रुचि रखने वाला, विश्वास रखने वाला।

अर्थ—हे आत्मन्! विचार करने वाले (दार्शनिक) कहां तक विचार करें, तेरा शास्त्र तो अगम्य और अपार है। विना आधार के—सहारे के आधेयवस्तु कैसे टिक सकती है ? उसी प्रकार विना आधेय के आधार किसका ? नींव विना मकान कैसे बनेगा ? और मकान विना नींव किसकी होगी ? द्रव्यरूप आधार विना गुण पर्याय रूप आधेय कैसे संभव है तथा गुण पर्याय आधेय विना द्रव्य

रूप आधार कैसे संभव है ? इसी प्रकार मुर्गी के विना अंडा नहीं होता और अंडे के विना मुर्गी नहीं हो सकती। (मुर्गी नहीं होगी तो अंडा कहां से आवेगा और अंडा नहीं होगा तो मुर्गी कहां से उत्पन्न होगी) ॥१॥

पौवों (वृक्ष) के विना बीज नहीं होता है और बीज पौवे (वृक्ष) के विना नहीं होता। रात्रि विना दिन घटित नहीं होता और दिन विना रात्रि का निर्णय नहीं होता अर्थात सदा दिन ही बना रहे तो फिर रात्रि का निर्णय कैसे हो ॥२॥

सिद्ध संसार के विना नहीं हो सकते, अर्थात् संसार होने से ही मोक्ष की सिद्धि है। सिद्ध न हो तो संसार की संभावना कैसे हो, संसारी जीव ही सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं। कर्त्ता के विना क्रिया नहीं होती है और जहां क्रिया है वहां उसका कर्त्ता अवश्य है ॥३॥

मरण विना जन्म की संभावना नहीं है, और जन्म के विना मरण नहीं होता। प्रकाश, विना दीपक नहीं होता और दीपक प्रकाश विना नहीं होता है। प्रकाश से दीपक का होना निश्चित है तो दीपक से प्रकाश होना सिद्ध है ॥४॥

श्री आनन्दघनजी कहते हैं—रुचिवत—रुचि रखने वाले जिन्हें कुछ जानने की इच्छा है वे आनन्द के समूह प्रभु सर्वज्ञ के वचनों की परिणति को (परिणमन क्रिया श्रद्धा को) धारण कर शाश्वत भाव पर विचार करें तो उन्हें यह खेल (संसार) अनादि और अनंत मालूम होगा।

जड़ और चेतन दोनों शाश्वत और अनादि हैं। इनका सम्बन्ध अनादि काल से है और अनंतकाल तक रहेगा। यह सर्वज्ञ देव की वाणी है इस पर श्रद्धा रखो।

सत्संग महात्म्य ६३ राग–आसावरी

साधु संगति विनु कैसे पइये, परम महारस धामरी ।
कोटि उपाव करे जो वौरा, अनुभव कथा विराम री ॥साधु०॥१॥
सीतल सफल सत सुरपादप, सेवउ सदा सुख छाइरी ।
वंछित फलै टलै अनवंछित, भव संताप बुझाइ री ॥साधु०॥२॥
चतुर विरंचि विरोचन चाहै, चरण कमल मकरंदरी ।
कोहर भरम विहार दिखावै, सुद्ध निरंजन चंदरी ॥साधु०॥३॥
देव असुर इन्द्र पद चाहु न, राज समाज न काजरी ।
संगति साधु निरंतर पावु, 'आनन्दघन' महाराज री ॥सा०॥४॥

पाठान्तर—कोटि = कोट (इ), कोर (उ) । उपाव = उपाउ (उ) । जो = जउ (अ) । वौरा = वौरौ (इ), वोरो (उ) । विराम = विरांन (उ), विस-राम (क. वु.) । सेवउ = सेवो (अ.इ.उ) सेवै (क. वु.) । सुख छाइरी = सुच्छाईरी (अ), सुछायरी (इ.उ) । अनवंछित = अनुवंछित (आ) विरंचि = विरंच (अ. इ.उ) । विरोचन = विरंजन (क.वु,) । चंदरी = देवरी (उ) । इन्द्र = इन्द (इ), । चाहु न = चाहत (इ.उ) । राज""काजरी = राग समान काजरी (आ), नये जम सम काजरी (इ), राज न काज समाजरी (उ,क,वु) । पावुं = पावौ (अ) । नोट 'ई' प्रति में अंतिम पंक्ति नहीं है । 'उ' प्रति में इस प्रकार है—आनन्दघन प्रभु तुम विन और देव नहीं लाउंरी ।

शब्दार्थ—साधु = त्यागी मुनि । महारस = आत्मानुभव । धाम = घर । वौरा = पागल । सुरपादप = कल्पवृक्ष । विरंची = ब्रह्मा, शास्त्र रचने वाले विज्ञ पुरुष । विरोचन = प्रकाशमान । कोहर = कोहरा. धुंध । निरंजन = दोष रहित, परमात्मा ।

अर्थ—आनन्दघनजी महाराज कहते हैं—शास्त्रानुसार पूर्ण चारित्र पालने वाले संत पुरुषों के सत्संग विना आत्मानुभव रूप परम

महारस के स्थान को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। साधु संगति के अतिरिक्त अन्य करोड़ों यत्न करने वाले पागल ही हैं। साधु संगति विना अनुभव पूर्ण बातों के जानने में विराम—रुकावट हो जाती है। अथवा साधु संगति ही अनुभव वार्ता के लिए विश्राम स्वरूप है। कोई चाहे जितना तप करे, चाहे जितना शास्त्र पढ़े किन्तु साधु संगति के विना वह आत्मानुभव प्राप्त नहीं कर सकता ॥१॥

संत पुरुष कल्पवृक्ष के समान त्रिविध ताप को दूर करने वाले हैं और इच्छित फल देने वाले हैं अतः ये शीतल हैं और फल युक्त हैं। इनकी सुखद छाया में निवास करो। इससे आत्मानुभव रूप मनोकामना पूर्ण होती है। पुद्गलों की आसक्ति रूप अवांछनीय वस्तुयें दूर हो जाती हैं और भव-संताप—भवभ्रमण नाश हो जाता है ॥२॥

जो शास्त्रों के चतुर प्रणेता हैं और अपने ज्ञान से प्रकाशमान हैं वे भी संत पुरुषों के चरण-कमलों के पराग (धूल) को चाहते हैं। विद्वानों से सेवित संतजन भ्रम रूप कोहरे को दूर कर शुद्ध परमात्मा रूप चन्द्रमा के दर्शन करा देते हैं ॥३॥

आनन्दघनजी कहते हैं कि मैं देव या असुरों के इन्द्र पद का इच्छुक नहीं हूं। न मुझे राज्य और समाज से कोई काम है। मुझे तो साधु संगति निरंतर प्राप्त होती रहे यही मेरी कामना है ॥४॥

मूलोत्तर विचारणा　　६४　राग—प्रभाती, आशावरी, कलाहरी

मूदल थोड़ो रे माईड़ा व्याजड़ो घणेरो, किम करि दीधो जाय।
तल पद पूंजी व्याज में आपी सघली, तोही न पूरड़ो थाय ॥मु०॥१॥
व्यापार भागोरे माईड़ा जलवट थलवट रे, धीरे न निसाणी माइ।

व्याजड़ो छोड़ावी कोई खांदी परठवेरे, मूल आपूं सम खाइ ॥मु०॥२॥
हाटडुं माडूं रे रूडे माणक चोक मां रे, साजन नो मनड़ो मनाइ।
'आनन्दघन' प्रभु सेठ सिरोमणि, वांहड़ी झालैजो आइ ॥मु०॥३॥

पाठान्तर—मुदल = मुंदल (अ); मूल (इ.उ) मूलड़ो (क.वु.) । भाईड़ा = भाई (इ.उ), भाई (क.वु.) । पूंजी=पूंजी में (उ. क.व); 'व्याज में' 'इ.उ' और मुद्रित प्रतियों में यह शब्द नहीं है। आपी = आली (आ), आणी (उ) । तोही....थाय = तोहि पूरो नवि थाय (इ), तोहि नवि पूराडो थाय (उ), तोहे व्याज पूरू नवि थाय (क.वु) । 'भाईडा' यह शब्द इ.उ, और मुद्रित प्रतियों में नहीं है। थलवटेरे = थलवटे (अ), थलवटरे (इ)। माइ = माय (इ. उ, क.वु) । व्याजड़ो = व्याज (इ.क.वु.) । कोई = को (उ), 'इ' प्रति में यह शब्द नहीं है। खांदी = खांवी (आ), खंदी (इ.वु), खंदा (क) परठवेरे = परठ करै (आ) । आपूं = आलुं (आ), आपों (अ), आलों (उ) । मांडूं रे = माणुं रे (आ), माडूं (इ), मांड्योरे (उ) । रूडे = रूडा (अ), रूडा (इ.क.वु) । चोकमांरे = चोकै (आ), साजननो = सजननो (आ), साजनियानुं (अ) साजयां (इ), मनाइ = मनाय (इ.उ.क.वु) । सेठ = सेठि (अ) । झालैजो = झालोरे (उ), झालजोरे (क.वु) । आइ = आय (इ.उ.क.वु.) ।

शब्दार्थ—मुदल = मूल रकम, मूलधन, असली रकम । घणेरो = बहुत, अधिक । तलपद = मूल, खास, असल। आपी = देदी । सघली = सब । पूरडो = पूरा, भरपूर, यथेष्ठ । भागोरे = नष्ट हो गया । धीरे न = धीजते नहीं हैं, विश्वास नहीं करते । निसाणी=प्रतिष्ठा, प्रमाणिकता । खंदी=किस्त । परठवे= ठहरा कर, तय कर । समखाइ = सौगंध, शपथ । हाटडुं = हाट, दुकान । माणक चौक = व्यापार का मध्य स्थान । साजन नो = सज्जनों का । वाहडी = हाथ । झालैजो = पकड लेना ।

अर्थ—अरे भाई ! मूल रकम तो थोड़ी ही है किन्तु व्याज की रकम मल रकम से भी अत्यधिक हो गई है, वह किस प्रकार

चुकाई जा सकेगी। मैंने अपनी संपूर्ण मूल रकम व्याज में देदी फिर भी व्याज पूर्ण नहीं हुआ ॥१॥

अरे भाई ऐसी स्थिति से मेरा जलमार्ग का स्थल मार्ग का व्यापार सब नष्ट हो गया है, कोई धीज, पतीज मेरी नहीं रही है— मेरी प्रामाणिकता नही रही। अरी मां, अब मैं क्या करूं ? (अत्यन्त निराशजनक शब्द) मैं शपथ पूर्वक कहता हूं कि यदि कोई परोपकारी सज्जन व्याज छुड़ाकर मूल रकम की किश्त करा दे तो मैं मूल रकम दे दूंगा ॥२॥

मैं सज्जन पुरुषों को मनाकर उनकी दिल जमाई करके- विश्वास प्राप्त करके नगर के प्रमुख स्थान (बाजार) में हाट (दुकान) लगाकर, पैसा पैदाकर सब चुका दुंगा।

फिर हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है कि हे सेठों के सेठ आनंदघन प्रभु मेरा हाथ पकड़ो, मेरी रक्षा करो। निराधारों के आधार केवल आप ही हो ॥३॥

इस पद में श्री आनन्दघनजी ने कर्ज में फंसे हुए व्यापारी के मिस से आत्मा के ऊपर जो कर्मों का कर्ज है उसका दिग्दर्शन कराया है। वास्तव में आत्मा पर आठ कर्मो का कर्ज है किन्तु राग द्वेष के कारण भव-भ्रमण रूप व्याज इतना वढ़ गया है कि वह चुकाया नहीं जा रहा है। सम्पूर्ण आयु रूपी मूल पूंजी पूरी होने पर भी व्याज पूरा नहीं हो पाया। शांति प्राप्ति के लिए स्थल मार्ग और जल मार्ग से अनेक तीर्थों में भ्रमण होता है किन्तु स्थिरता रूप प्रामाणिकता न होने से कहीं पर भी आश्वस्त नहीं होता। यह आत्मा विचारता है कि कोइ ज्ञानी पुरुष राग-द्वेष रूप व्याज छुड़ा दे तो कर्मोदय रूप मूल द्रव्य को भोग कर चुकता करूं। ज्ञानी महा- पुरुष के संसर्ग से विरति के द्वारा भविष्य की कर्म वृद्धि रूप व्याज से छुटकारा मिलकर कर्म रूपी कर्ज चुक जावेगा।

राम कहौ रहिमान कहौ कोउ, कान्ह कहौ महादेवरी । ।
पारसनाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वमेवरी ।।राम०।।१।।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूपरी ।
तैसे खंड कलपनारोपित, आप अखंड सरूपरी ।।राम०।।२।।
निजपद रमै राम सो कहियै, रहम करे रहमान री ।
करषै करम कान्ह सो कहियै, महादेव निरवाण री ।।राम।।३।।
परसै रूप सो पारस कहियै, ब्रह्म चिन्है सो ब्रह्मरी ।
इह विध साध्यो आप 'आनन्दघन' चेतन मय निःकर्मरी ।।राम०।।४।।

पाठान्तर—कहावत = कहीवत (उ) । मृत्तिका = मृत्यका (अ.आ.उ) । सरूपरी = अनूपरी (उ) । रहम = रहिम (आ), रहिमांन (इ) । करषै = करखै (अ) । कान्ह = कान (अ.इ.उ) कहान (आ) । निरवाणरी = निरवानरी (अ.इ) परसे=परसइ (आ) पारसै (उ) । सो=श्री (उ) । ब्रह्म=ब्रह्मा (आ) । चीन्हैं=चीने (अ) । ब्रह्म''''ब्रह्मरी = ब्रह्मा चीन्है ब्रह्मरी (आ) । इह = यह (अ) । विध = विधि (इ) । साध्यो = सध्यो (आ), साधो (क.बु.वि) । निःकर्मरी = नहीं क्मरी (अ), निहि कर्म्मरी (आ.इ) ।

शब्दार्थ —स्वमेवरी = स्वयंही, खुद ही । भाजन = पात्र, वर्तन । भेद = विविधता । मृत्तिका = मिट्टी । खंड = भाग, हिस्से । कलपनारोपित = कल्पना से आरोपित किये हुये । अखंड = जिसका कोई टुकडा न हो । रमै = रमण करे । रहम = दया, करुणा । करषै = कर्मो को खेंचे—मिटाये । परसे = स्पर्श करे । चीन्हे = पहिचाने । साध्यो = सिद्ध किया है । चेतनमय = उपयोगमय, चैतन्य शक्ति युक्त । निःकर्मरी = कर्म-उपाधिरहित ।

अर्थ—उस परम तत्व को चाहे राम के नाम से कोई संबोधित करे, चाहे रहमान के नाम से, चाहे कृष्ण के नाम से या महादेव के नाम

से, चाहे पार्श्वनाथ के नाम से; चाहे ब्रह्मा के नाम से संबोधित करे, किन्तु वह महा चैतन्य स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही है ॥१॥

मिट्टी का रूप तो एक ही है। किन्तु पात्र से अनेक नाम कहे जाते हैं। (यह घड़ा है, यह कुंडा है यह गिलास है- इत्यादि)। उसी प्रकार इस परमतत्व के पृथक् पृथक् भाग कल्पना से किये गये हैं। किन्तु वस्तव में वह तो अखंड स्वरूप ही है ॥२॥

जो निज स्वरूप में रमण करे उसे राम कहना चाहिए, जो प्राणी मात्र पर दया करे उसे रहमान। जो ज्ञानावरणा दिकर्मों को नष्ट करे उसे कान्ह (कृष्ण) कहना चाहिए। जो निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करे उसे महादेव कहना चाहिये ॥३॥

अपने रूप को जो स्पर्श करे उसे पार्श्वनाथ कहना चाहिए और जो चैतन्य आत्म-शुद्ध रूप सत्ता को पहिचाने वह ब्रह्मा है।

कविराज आनन्दघन कहते हैं कि इस आनन्दमय परम तत्व की मैंने इसी प्रकार आराधना की है। यह परम तत्व तो निष्कर्म, (कर्म-उपाधि से रहित) ज्ञाता, दृष्टा, चैतन्यमय है ॥४॥

दर्शन वैचित्र्य **६६** **राग—मारू जंगलो**

मायडी मूनै निरपख किण ही न मूकी।
निरपख रहेवा घणु ही भूरी, धी में निजमति फूकी ॥मा०॥१॥
जोगिये मिलिने जोगण कीधी, जतिये कीधी जतनी।
भगते पकड़ी भगतणी कीधी, मतवाले कीधी मतणी ॥मा०॥२॥
राम भणी रहमान भणावी, अरिहंत पाठ पढाई।
घर घर ने हूँ धंधे विलगी, अलगी जीव सगाई ॥मा०॥३॥

कोइये मूंडी कोइये लोची, कोइये केस लपेटी ।
कोई जगावी कोई सूती छोड़ी, वेदन किणही न मेटी ।।मा०।।४।।
कोई थापी कोई उथापी, कोई चलावी कोई राखी
एक मनो में कोई न दीठो, कोई नो कोई नहि साखी ।।मा०।।५।।
धींगो दुरबल नै ठेलीजै, ठींगो ठींगो बाजे ।
अबला ते किम बोली सकिये, बड जोधाने राजे ।।मा०।।६।।
जे जे कीधूं जे जे कराव्युं, ते कहता हूँ लाजूं ।
थोड़े कहे घणुं प्रीछी लेजो, घर सूतर नहीं साजूं ।।मा०।।७।।
आप बीती कहेता रिसावे, तेहि सूं जोर न चाले ।
आनन्दघन प्रभु बांहडी झालै, बाजी सघली पाले ।।मा०।।८।।

उक्त पद हमारी केवल 'उ' प्रति मे ही है। पाठान्तर मुद्रित प्रतियों के ही हैं--

पाठान्तर—जोगिये = योगीयें (वु)। जोगण = योगण (वु)। जतिये = यतियें (वु)। कीधी = कीनी (बु) जतनी = यतनी (वु)। मतवाळे = मतवासी (क), मतवाली (वि)। यहां जो तीसरा पद है वह 'बु' प्रति में चौथा पद है। विलगी = वलगी (बु)। कोइये मूंडी = केणे मुकी (वु)। कोइये लोची = केणेलूंची (वु) कोइये = केणे (बु)। कोई जगावी कोई सूती छोडी = एक पखो में कोई न देख्यो (वु) वेदन = वेदना (वु)। कोई = केणे (बु)। कोई राखी = किणराची (वु)। एक मनो""साखी = केणे जगाडी केणे सुआडी, कोइनुं कोई नथी साखी (वु)। धींगो = धीगे (वु)। ते किम = ते केम (वु)। जोधा = योद्धा (वु)। ते = तेह (बु)। कहतां = कहेती (वु)। घर सूतर नहि साजूं = घरशुं तीरथ नहि बीजुं (वु)। तेहिंसूं = तेथी (वु)। प्रभु = वहालो (वु)। झालै = जाले (वु)। बाजी सघली पाले = तो बीजुं सघलुं पाले (वु)।

शब्दार्थ—मायडी = हे माता। निरपख = निष्पक्ष। किणही = किसी ने भी। मूकी = छोडा। झूरी = दुखित हुई, परेशान हुई। धीमें =

धीरे धीरे। फूकी = जला डाली। कीधी = की। मतवाले=ज्ञान मस्त योगी। भणी = पढा, कहा। धंधे = कार्य में। विलगी = मन लगाया। अलगी = पृथक, अलग। सगाई = संबंध। लोची = केश नोचे, वाल उखाडे। थापी = स्थापित किया। उथापी = उखाडा। एक मना = एक अभिप्राय वाला। दीठो = दिखाई पडा। धींगो = वलवान। ठेलीजै = ढकेलना, धक्का मार कर हटाना। वाजे = लडे। प्रीछी लेजो = समझलेना। घर सूतर = घर की व्यवस्था। रीसावे = क्रोध करे। वांहडी = हाथ। झालै = पकडै। वाजी = खेल।

इस पद में योगीराज श्री आनन्दघन ने विचित्र प्रकार से संसार के मत मतान्तर आत्मा चेतन और आत्मत्व चेतना के सम्वन्ध में क्या विचार रखते हैं, किस प्रकार मोक्ष मिलती है—आदि का दिग्दर्शन कराया है।

यद्यपि चेतन और चेतना पृथक् पृथक् नहीं है फिर भी समझने के लिए अलग दिखाने की कल्पना की गई है। इस पद में चेतना अपनी विवशता और व्यथा बताती है। आत्मा-चेतना जिस जिस मत धर्म के कुल में उत्पन्न होती है, वह वैसी ही वन जाती है। वास्तव में उसका रूप और ध्येय क्या है उसको उसका भान ही नहीं रहता। आत्मा को अपने स्वरूप प्राप्त करने में—मोक्ष प्राप्त करने में कोई भी मत पक्ष, कोई भी स्वरूप कोई भी स्थान, और कोई भी अवस्था वाधक नहीं है। आत्मा तो क्रमशः अपना विकास करता हुआ एक दिन शुद्ध बुद्ध बन जाता है। यही इस पद का आशय है।

अये मां! (यह किसी को सम्बोधन नहीं है, बल्कि स्वतः ही दुखित हृदय से निकला शब्द है। जैसे अरे राम! यह क्या हुआ, अये मां! अब क्या होगा इत्यादि) मुझे किसी भी मत-पक्ष वाले ने निरपक्ष-पक्षपात रहित नहीं छोड़ा (नहीं रहने दिया) मैंने निष्पक्ष रहने के लिये वहुत ही विलापात किये और बहुत ही प्रयत्न किये किन्तु मुझे

किसी ने निरपक्ष रहने नहीं दिया। धीरे धीरे अपने पक्ष में की मेरे कानों में फूंक मारी, मेरे कान भरे अर्थात् मुझे अपने पक्ष का बना लिया और मुझे वैसा बनना पड़ा। आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध चेतनत्व है। जिस कुल में वह उत्पन्न होती है उसके आचार विचार वैसे ही हो जाते हैं ॥१॥

योगियों ने मुझे योगिनी बना लिया और यतियों ने (जितेन्द्रियों ने) मुझे जतनी बना लिया। भक्ति मार्ग के अनुयायियों ने मुझे अपने रंग में रंगकर भक्तनी बन लिया। इसी प्रकार अन्य मत-धर्म के मानने वालों ने मुझे अपने अपने धर्म की बना लिया। इसीलिये चेतना पुकारती है कि मुझे किसी ने भी निष्पक्ष नहीं रहने दिया ॥२॥

राम के अनुयायियों ने मुझे राम नाम-पाठी बना लिया। रहिमान भक्तों ने मुझे रहिमान का भजन (प्रार्थना) सिखाई और अरिहंत के मानने वालों ने अपना पाठ पढ़ाया। किसी ने शंकर का, किसी नेकृष्ण का किसी ने ब्रह्मा का उच्चारण मुझसे कराया। इस प्रकार प्रत्येक घर के—मतमतान्तर के धन्धों—कार्यों में फंसी रही। मेरे (चेतना के) और चेतन के सम्बन्ध से सदा ही दूर रही हूं ॥३॥

किसी ने मेरा मुंडन कराया, किसी ने लोच कराया (केश उखाड़े), किसी ने लम्बी लम्बी जटाये लपेटी किसी ने मुझे जागृत रखा और किसी ने सोती हुई ही रखा अर्थात् पृथक् पृथक् मत—पक्ष वालों ने अपने अपने तरीके से रूप बनाकर धर्म क्रियायें की, किन्तु अब तक किसी ने मेरे स्वामी चेतन के विरह से उत्पन्न मेरी वेदना को दूर नहीं किया ॥४॥

हे मेरी मां! देखो, मेरा अलग अलग स्थानों पर कैसा हाल हुआ। किसी ने मेरी स्थापना की-आत्मा है। किसी ने मेरा अस्तित्व

ही उखाड़ फेंका, आत्मा नामक कोई वस्तु ही नहीं है। यह तो पृथ्वी अप, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों का खेल है। इस प्रकार किसी ने मेरे अस्तित्व को चलता किया और किसी ने उसकी रक्षा की। मुझे कोई एक भी ऐसा मत-पक्षवाला दृष्टिगोचर नहीं हुआ जो कि दूसरे का साक्षी हुआ हो, अर्थात् सब एक दूसरे का खंडन करते ही दिखाई देते हैं।॥५॥

संसार में जो बलवान हैं वे दुरबल-कमजोर को दूर हटा देते हैं। अनेक मत-पक्ष वाले आपस में शास्त्रार्थ करते हैं: जिसकी बुद्धि तेज है वह दूसरे को परास्त कर देता है किन्तु जो समान बलवान हैं-तीक्ष्ण बुद्धि वाले हैं वे आपस में झगड़ते ही रहते हैं। कोई किसी को हरा नहीं सकता है और न अपना पक्ष छोड़ सकता है। ऐसे बड़े योद्धाओं—अपने अपने पक्ष के मोह में रहने वालों—के मध्य में अबला क्या बोल सकती हूं। ऐसे एकान्तवादियों में मैं क्या कर सकती हूं ॥६॥

मुझसे तो जिस जिस ने जो जो कराया, मैंने तो वही वही किया, जिसका वर्णन करते हुए भी मुझे शर्म मालूम होती है। अर्थात् जिस जिसकी जैसी मान्यता थी उसके अनुसार मुझे बनना पड़ा, इसे बताने में लज्जा आती है। मैंने संक्षिप्त में ही यह कहा है उसे विस्तार पूर्वक ही समझो क्योंकि मेरे घर की व्यवस्था अच्छी नहीं है। मेरे पति चेतन विभाव दशा में भ्रमण करते रहते हैं। जब निज भाव में आवे तभी कुछ बात बन सकती है ॥७॥

मैं (चेतना) अपने पर गुजरी हुई बातें जब कहती हूं तो वे (चेतनजी) क्रोधित हो जाते हैं जिससे मेरा वश चलता नहीं है। अब तो बात तब ही बन सकती है जब आनन्द के स्वरूप चेतन स्वामी मेरा हाथ पकड़ ले। उनके हाथ पकड़ते ही सर्व कार्य सिद्ध हो जावेंगे। चेतन अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेवेगा ॥८॥

सम्यक्त्व पुत्र प्रेम ६७ राग—सोरठ गिरनारी

छोरा नै क्युं मारै छै रे, जायैकाट्या डैण ।
छोरो छै म्हारो बालो-भोलो, बोलै छै अमृत बैण॥छो०॥१॥
लेय लकुटिया चालण, लाग्यो, अब कांइ फूटा नैण ।
तूं तो मरण सिराणे सूतो, रोटी देसी कोण (कैंण) ॥छो०॥२॥
पांच पचीस पचासा ऊपर, बोलै छै सूधा बैण ।
'आनन्दघन' प्रभु दास तुम्हारो, जनम जनम के सैंण ।॥छो०॥३॥

यह पद हमारी केवल अ प्रति में है। पाठान्तर मुद्रित प्रतियों के दिये गये है ।

पाठान्तर—म्हारो = महारो (वु) मारो (क.वि) । छोरा = छोटा (वि) । काट्या = काड्या (वु) । लाग्यो = लागो (वु) । देसी = देशे (वु) । तुम्हारो = तिहारो (वु), तुमारो (क.वि) ।

शब्दार्थ—छोरानै = पुत्र को । जायै काट्या = पुत्र घाती (यह गाली है, अप शब्द है) । डैण = (यह भी गाली है) मूर्ख वृद्ध, अविचारी वृद्ध । वालो भोलो = ना समझ, भोला । नैण = नयन, नेत्र, आंख । पांच = पंच महाव्रत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । पचीस = पंच महाव्रत की पच्चीस भावनायें । पचासा = तप के भेद, उपवास, आयंबल, आदि पचासों भेद । सूधा = सीधे, कपट रहित । वैण = वचन । सैंण = सयण, सजन, स्वजन ।

अर्थ—सुमति मिथ्यात्व से कहती है—हे बाल घातक, अविचारी, मूर्ख, बुड्ढे ! मेरे सम्यक्त्व रूप बालक (पुत्र) को क्यों मारता है ? यह मेरा उपसम या क्षयोपसम रूप नव जात शिशु सम्यक्त्व अभी तो बिल्कुल भोला है—ना समझ है । यह अभी थोडा-थोड़ा अमृत के समान मधुर बोलने लगा ही है ॥१॥

यह लकडी के सहारे कुछ कुछ चलने लगा है। हे मिथ्यात्व! क्या तू जानता नहीं है? क्या तेरे नेत्र फूट गये है? क्या तुझे मालूम नहीं है कि सम्यक्त्व प्रकट होने पर तेरी मृत्यु समीप ही है। अव तुझे भोजन देने वाला कौन है? सम्यक्त्व किसी भी प्रकार का प्रगट हो (औपसमिक या क्षयोपसमिक) जाने पर अनंतानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ व मिथ्यत्व मोहनीय मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहनीय ये सात कर्म-प्रकृति रूप भोजन अब तेरा वंद हो गया है, अव तुझे रोटी देने वाला (पनपाने वाला) कोई नहीं है। इसलिये तेरी मृत्यु सिर पर आ गई है ॥२॥

पंच महाव्रत, पंच महाव्रत की पच्चीस भावनायें तथा पचास प्रकार के तप के ऊपर यह (पुत्र) सीधे-साधे वचन वोलता है—उनका अभ्यास करता है। सुमति कहती है—हे आनन्दघन प्रभु! यह सम्यक्त्व तो जन्म जन्म से आपका दास है। आप तो जन्म जन्मान्तरों से इसके स्वजन-स्नेही स्वामी हैं ॥३॥

इस पद का भावार्थ श्री ज्ञानसारजी महाराज के टव्वे की सहायता से किया है। श्री ज्ञानसारजी महाराज ने इतना विशेष लिखा है कि एक समयावच्छेदे असंख्याता उपसम समकित प्राप्त करते हैं। उन सव में यह आगमानुयायी शुद्ध वचन वोलता है क्योंकि यह क्षपक श्रेणी का प्रारंभी है। चार वार उपसम सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् जो पांचवी वार (अंतिम वार) उपसम सम्यक्त्वी वनता है, वह क्षपक श्रेणी का प्रारंभी है।

विरह व्यथा व विवेक से विनय **६८** **राग-वसंत**

प्यारे, लालन विन मेरो कोण हाल।
समझे न घट की निठुर लाल ॥प्यारे०॥१॥

वीर विवेक तुं मांझी मांहि, कहा पेट दाइ आगे छिपांहि ॥प्या०॥२॥
तुम्ह भावै सो कीजै वीर, मोहि आन मिलावो ललित धीर
॥प्या०॥३॥
अंचर पकरै न जात आधि, मन चंचलता मेटे समाधि ॥प्या०॥४॥
जाइ विवेक विचार कीन, 'आनन्दघन' कीने अधीन ॥प्या०॥५॥

नोट—यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति में ही है और में न होने से उनके पाठान्तर नहीं दिये जा सकते। पाठान्तर मुद्रित प्रतियों के हैं। 'प्यारे' शब्द वु. और वि. प्रतियों में नहीं है। कोण = कुन (क.वु.वि.)। समझै = समजे (क.वु.वि.)। तुं = जुं (क.वु.वि)। मांझी = मांजी (क.वु.वि)। मांहि = मांयि (क.वु) माइ (वि)। दाइ = दई (क.वु)। छिपांहि = छिपाई (क.वु.वि)। मोहि = सोई (क.वु.वि.)। ललित = लालन (क.वु.वि)। अंचर..... आधि = अमरे करे न जात आध (क,वु,वि)। मेटे = मिटे (क.वु.वि)। जाइ = जाय (क.वि), जान (वु)।

शब्दार्थ—लालन = प्रिय, पति। घटकी = हृदय की। निठुर = निष्ठुर, निर्दयी। मांझी = केवट, नाव चलाने वाला। भावै = अच्छा लगे। ललित = सुंदर। अंचर = आंचल। आधि = मानसिक पीडा।

अर्थ—सुमति कहती है—प्रिय स्वामी के विना मेरा क्या हाल हो रहा है? वे ऐसे निर्दयी हो गये है कि मेरे हृदय की व्यथा को समझते ही नहीं है ॥१॥

हे विवेक वीर! तू ही मेरी नाव को खेने वाला है—पार लगाने वाला है। तेरे से क्या पर्दा, कोई दाई के आगे भी पेट छिपाया जाता है क्या? ॥२॥

हे वीर! (भाई!) तुम्हें जो उचित लगे सो करो, किन्तु किसी भी प्रकार मेरे मनभावन स्वामी चेतन को लाकर मुझसे मिलादो ॥३॥

केवल अंचल (पल्ला) पकडने मात्र से ही मानसिक पीडा शांत नहीं होती। समता के विना कल्याण नहीं है—अर्थात् धैर्य पूर्वक समता भाव में रहे विना उद्धार नहीं। यह वात जव तक चेतन नहीं समझ लेता तव तक यहां आने मात्र से (मेरे से संवंध होने मात्र से) कुछ कार्य नहीं वनेगा। मन की चंचलता (अस्थिरता) मेटने से ही समाधि अवस्था प्राप्त होगी ॥४॥

चेतन के पास जाकर विवेक ने विचार विमर्श किया—समझाया और आनन्द स्वरूप चेतन को लाकर समता के अधीन कर दिया—वशीभूत कर दिया ॥५॥

आभार प्रदर्शन **६९** **राग-सोरठ**

कंत चतुर दिल ज्यानी हो मेरो कंत चतुर दिलजानी।
जो हम चीनी सो तुम कीनी, प्रीत अधिक पहिचानी हो ॥मेरो०॥१॥
एक बूंद को महिल वनायो, तामें ज्योति समानी हो।
दोय चोर दो चुगल महल में, वात कछु नहि छानी हो ॥मेरो०॥२॥
पांच अरु तीन त्रिया मंदिर में, राज करै रजधानी हो।
एक त्रिया सव जग वस कीनो, ज्ञान खड्ग वस आनी हो ॥मेरो०॥३॥
चार पुरुष मंदिर में भूखे, कवहू त्रिपत न आंनी हो।
इक असील इक असली वूझै, वूझ्यौ ब्रह्म ज्ञानी हो ॥मेरो०॥४॥
चारू गति में रुलतां वीते, करम की किनहु न जानी हो।
'आनन्दघन' इस पद कूं वूझै, वूझ्यौ भविक जन प्रानी हो ॥मेरो०॥५॥

नोट—यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति में ४८वीं संख्या पर है। मुद्रित प्रतियों में भी केवल आचार्य श्री वुद्धिसागर सूरीश्वरजी द्वारा सम्पादित

पुस्तक की भूमिका में है।

पाठान्तर—जानी = ज्ञानी। राज = राज्य। रजधानी = राजधानी। कीनो = कीनै। खड्ग = खंग। इक''''बूझै = दस असली इक असली बुजै। बूझ्यो = बुजै।

शब्दार्थ – दिल ज्यानी = अत्यंत प्रिय। चीनी = पहिचानी, जानते थे, विचारते थे। समानी = मिल गई, प्रकाशित हो गई। दोय चोर = राग-द्वेष। दोय चुगल = श्वासोश्वास। छानी = छुपी हुई। वस आनी = वस में कर रखा है। असील = खरा, सच्चा। ब्रह्म ज्ञानी = आत्म ज्ञानी।

अर्थ—हे मेरे चतुर तथा अत्यन्त प्रिय स्वामी! हे पुद्गल परिणति के प्रेमी मेरे आत्माराम! जैसा मैंने सोचा (विचारा) था वैसा ही आपने कर दिखाया। अर्थात् अनादि काल के पश्चात् आपने मानव शरीर बनाया है ॥१॥

हे चेतन देव! आपने एक बूंद का कायारूपी महल बनाया है। उसमें आपने अपनी ज्योति प्रकाशित की है। इस महल में राग-द्वेष रूपी दो चोर है जो आत्म स्वरूप की चोरी करते रहते हैं। श्वास व आयु रूपी दो चुगल है जो काल को आयु की स्थिति की सूचना चुपके चुपके देते रहते है। इस कारण इस काया रूपी महल की कोई भी बात गुप्त नहीं रह पाई है ॥२॥

इस तन-मंदिर में पांच इन्द्रिय तथा मन, वचन और काया बल ये आठ स्त्रियां है जो इस तन-मंदिर रूप राजधानी में राज्य करती है। इन आठों स्त्रियों में से एक मन रूप स्त्री ने इस शरीर ही को नहीं, बल्कि सम्पूर्ण संसार को ही ज्ञान रूपी खड्ग (तलवार) के द्वारा वशीभूत कर रखा है ॥३॥

इस तन मंदिर में चार पुरुष—क्रोध, मान, माया और लोभ हैं, जो अनादि काल से भखे हैं, सब कुछ खाकर भी तृप्त नहीं हुये हैं।

आत्मिक गुणों को खाकर—नष्ट करके भी इनकी तृप्ति नहीं हुई है। सौभाग्य से इस मंदिर में स्वभाव परिणति रूप एक ही असल खरी (सच्ची) वस्तु है जिसे ब्रह्म ज्ञानी—भेद ज्ञान को जानने वाला ही पूछता है, वही उसकी कदर करता है ॥४॥

चारों गतियों में—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव में-भटकते-भ्रमण करते हुये अनन्त काल (समय) व्यतीत हो गया है किन्तु कर्म की विचित्रता किसी ने भी नहीं जानी—पहिचानी है। योगीराज आनन्दघनजी कहते है—इस पद के मर्म को—आत्म स्वरूप को जानने वाला कोई विरला भव्य जन ही जान पाता है ॥५॥

प्रियतम उपालंभ ७० राग–वसंत

आ कुवुद्धि कूवरी कवन जात, जिहाँ रीझै चेतन ज्ञान गात ॥आ०॥१॥
आ कुच्छित साख विशेष पाइ, परम सिद्धि रस छारि जाइ ॥आ०॥२॥
जिहाँ अंगु गुन कछु और नाहि, गले पडेगी पलक मांहि ॥आ०॥३॥
प्यारे पाछै दे वाहि नाम, पटिये मीठी सुगुरण धाम ॥आ०॥४॥
देवै आगै अधिकार ताहि, 'आनन्दघन' प्रभु अधिक चाहि ॥आ०॥५॥

यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति में, और मुद्रित प्रतियों में है। पाठ भेद मुद्रित प्रतियों से दिये गये हैं।

पाठान्तर—आ.....जात = या कुवुद्धि कुमरी कौन जात (क.वु.वि)। रीझै=रीजै (वु. वि)। आ कुच्छित=कुत्सित (वु. वि)। पाइ=पाय (वु. वि.)। सिद्धिरस=सुधारस (क. वु. वि.)। छारि जाइ = वारिजाय (क. वु. वि)। जिहाँ....नाहि = जी आगु कछु और नाहि (क), जीया गुन जानो और नांही (वु. वि.)। प्यारे....नाम = रेखा छेदे वाहिताम (क. वु वि.)। पटिये = पढसे (क. वु. वि.)। देवै....चाई = ते आगे अधिकार ताहि, आनन्द प्रभु अधिकेरी चाहि (क), ते आगे अधिकेरी ताही, आनन्दघन प्रभु अधिकेरी चाही (वु.वि.)।

शब्दार्थ— कुवुद्धि = कुमति । कवन = कौन । ज्ञान गात = ज्ञान स्वरूप कुच्छित = कुत्सित, खराब, निंदनीय । साख = साक्षी, इज्जत, सहारा । परम सिद्धिरम = परम तत्व । छारि जाइ = त्याग कर । अंग = शरीर । गले पडेगी = इच्छा विरुद्ध प्राप्त होगी, पीछे पडेगी । वाहि = उसका । पटिये = मेल मिलाप होना, तै होना । चाहि = प्रेम ।

अर्थ— समता अपनी सखि श्रद्धा से कह रही है—हे सखि ! जिस पर यह ज्ञान स्वरूप चेतन राज रीझे हुये है—आसक्त हैं, वह विकृत अंग व स्वभाववाली कुबुद्धि किस जाति की है ? तुम जानती हो ? यह चेतन की जाति की तो है नहीं, और न यह जड जाति की है । यह तो चेतन और जड के संयोग से उत्पन्न दोगली मोह की कन्या है । इसकी प्रेरणा से चेतन भौतिक सुखों के लिये हिंसा, झूंठ, चोरी आदि कुकर्म करते हुये भी पीछे नहीं हटता है ॥१॥

इस नीच अधम कुबुद्धि का विशेष सहारा प्राप्त कर यह ज्ञान-धन चेतन अपने आनंद स्वरूप परमतत्व को छोड कर सांसारिक माया जाल में पडा हुआ है ॥२॥

जहाँ शरीर से संबंधित विषय वासना के अतिरिक्त अंश मात्र भी सद्गुण नहीं हैं । यह कुबुद्धि थोडा सा सहारा पाते ही गले पड जाती है—जबरदस्ती ही सबंध कर लेती है - बरबस फँसा लेती है ॥३॥

इसलिये हे प्रियतम चेतनराज ! इस कुबुद्धि को तो पीछे ही रखो, इसका नाम भी मत लो । सद्गुणो की खान मीठी सुमति से मेल मिलाप बढावो ॥४॥

समता के यह वाक्य सुनकर आनंद के धाम चेतन ने समता से प्रीतिकर उसे अपनी गृहस्वामिनी बनाकर अपने घर का सम्पूर्ण अधिकार दे दिया अर्थात अपने जीवन को समतामय बना लिया ॥५॥

क्षायिक सम्यक्त्व व लोकालोक प्रकाशक ज्ञान　　७१　　राग-सोरठ

अण जोवंता लाख, जोवो तो एको नहीं ।
लाधी जोवण साख, वाल्हा विण अहिलै गई ।।साखि।।
वांरू रे नान्ही बहू अै, मन गमतो अै कीधूं ।
पेट में पैसी मस्तक रहँसी, बैरी, सांईडउ सामीजी नइ दीधूं ।।१।।
खोलइ बइठी मीठुं बोलै, कांइ अनुभौ अमृत पीधूं ।
छानै छानै छमकलडां, करती आखइ मनडूं वीधूं ।।२।।
लोक अलोक प्रकाशक छइयो, जणतां कारिज सीधूं ।
अंगो अंग रंग भरि रमतां, 'आनन्दघन' पद लीधूं ।।३।।

पाठान्तर—जोवो = जोयौ (अ), जोवुं (उ) । तो=ते (आ), ता (उ) । जोवण = योवन (अ), जोवन (इ.उ) । वाल्हा = वाहला (अ.उ), वाला (इ) । अहिलै = अहले (उ) । वारूं रे....कीधूं = वारू रे नान्ही वहूये अणगमतो ए कीधूं (आ), 'मोटी वहूये ए' मन गमतो कीधूं (उ), वारू रे नांन्हडी वहू रे मन गमतू ए कीधूं (उ) । रहँसी = हर सै (अ), हरस्यै (इ), रहेसी (उ) । सांईडउ = सांइडुं (इ) । नइ दीधूं = नै दीधुं (अ.इ), ने दीधूं (उ) । खोलइ = खेले (अ), खोलै (इ) । वइठी = बैठी (अ), वैसी (इ) । अनुभौ = अनुभव (अ.इ) । छानै छानै = छानां छानां (उ) । छमकलडां = छटकलडा (अ), छनकलडा (इ), छरकलडा (उ) । 'करती और आखइ' शब्दों के मध्य 'आ' प्रति में 'छरती' शब्द और है । आखइ = आखै (अ), आंखे (इ.उ) । मनडूं = मनरूं (उ) । वीधूं = विधौं (आ), विधुं (अ.इ) । छइयो = छइयूं (इ), छैयों (उ) । जणतां = जनता (उ) । कारिज सीधूं = कारिज सीधौं (आ), कारज, सींधूं (इ.उ) । अंग = अंगइ (आ) । भरि = भर (इ.उ) । लीधूं = लीधौ (अ) लीधुं (अ) ।

शब्दार्थ—अण जोवंता = विना देखे, विना ध्यान दिये, विना उद्यम। जोदो = देखना। वाल्हा = प्रियतम। अहिलै = व्यर्थ। वारू रे = वलिहारी जातो हूँ। नान्ही = छोटी। मन गमतो = मन को अच्छा लगने वाला। खोउड = गोद में। वइठी = वैठकर। छानें छानें = गुप्त रूप से। छमकलडां= येन केन प्रकारेण कार्य सिद्धि की कला, जिस तिस प्रकार से कार्य सिद्धि की चतुराई। आखइ = सम्पूर्ण। वीधूं = वींद दिया, छेद दिया। जणतां = पैदा करते ही।

अर्थ—समता कह रही है—जव तक किसी कार्य करने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता,—पुरुपार्थ नहीं किया जाता तव तक लाखों विघ्न वाधायें सामने खडी नजर आती है और जव कार्य करने के लिये पुरुपार्थ कर लिया जाता है तब सव विघ्न-वाधायें दूर हो जाती हैं—नजर नहीं आती है।

जव पुरुषार्थ रूपी यौवन की साख (फसल) प्राप्त हो गई, तव विना प्रियतम (चेतन) के यह साख व्यर्थ जा रही है।

जव आत्म शुद्धि के लिये वातावरण वन गया उस समय चेतन का विभावावस्था को त्याग कर स्वभावावस्था में न आना यौवन में स्वामी-वियोग के समान है। साखी

मैं वलिहारी हूं छोटी वहू (पत्नि) ने वडा ही मन को आल्हादित करने वाला कार्य किया है जो स्वामी (चेतनराज) के पेट में घुसी-छुपी रहकर और मस्तक को आच्छादित कर स्वामी को विभावदशा में चारों गतियों में घुमाती रहती थी और स्वामी की गोद में वैठ कर मीठे वचन वोलती थी कि मानो अनुभव रूपी अमृत पी रखा हो। इस प्रकार वह सब्ज-वाग दिखाती रहती थी कि इनके (सांसारिक सुख सुविधाओं के) अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। और जिसने गुप्त रूप से छल छिद्र करके स्वामी का सम्पूर्ण

मन वेध रखा था–अपने वशीभूत कर रखा था। उस मेरी वैरिन (ममता) ने मेरे स्वामी को परमात्म गुणों को दे दिया ॥–१–२–॥

जव मोह ममता से स्वामी का साथ छूट गया तो मैंने (समता ने) अंग से अंग मिलाकर रमण किया अर्थात समतामय चेतन वन गया। उसका परिणाम लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान रूप वालक (पुत्र) का जन्म हुआ। इस प्रकार सर्व कार्य सिद्ध हो गये और स्वामी ने 'आनंदघन' (आनंद समूह) पद प्राप्त कर लिया ॥३॥

संसार में भ्रमण करती हुई भव्यात्मा नर भव (मनुष्य जन्म) प्राप्त कर अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करता हुआ अग्रसर होता हैं–गुणस्थानों का आरोहण करता हैं। दसवें गुणस्थान से वारहवें गुणस्थान में जाता है और मोह प्रकृतियों को क्षय–नाश कर तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है तो लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है और अनंत सुखों का स्वामी वन जाता है।

अव्याबाध आनन्दानुभूति ७२ राग–जैजैवंती त्रिताला

मेरे प्रान आनन्दघन, तान आनन्दघन ॥
मात आनन्दघन, तात आनन्दघन ।
गात आनन्दघन, जात आनन्दघन ॥मेरे०॥१॥
राज आनन्दघन, काज आनन्दघन ।
साज आनन्दघन, लाभ आनन्दघन ॥मेरे०॥२॥
आभ आनन्दघन गाभ आनन्दघन ।
नाभ आनन्दघन, लाभ आनन्दघन ॥मेरे०॥३॥

यह पद हमारी अ और उ प्रति में क्रमशः ७ और ७१ संख्या पर हैं।

पाठान्तर— राज = काज (बु) । काज = साज (बु.) ।

शब्दार्थ— तान = लय, । तात = पिता । गात = शरीर, देह । जात= पुत्र, जात-पांत । साज = सामान, सजावट । आभ = शोभा, आभा । गाभ= गर्भ, मध्य । नाभ = नाभि, मध्य भाग ।

(देहधारियों के पांच इन्द्रिय, मन वचन काय, श्वासोश्वास और आयु ये दस प्राण होते है । सिद्ध भगवान के इनमें से एक भी प्राण नहीं होता । उनके तो ज्ञान दर्शन रूप भाव प्राण होते हैं । ये दसों प्राण पुद्गल आश्रित है । ये जड संयोग से उत्पन्न होते है अतः द्रव्य प्राण कहलाते है । योगी जब भगवान को ही सब कुछ समझ लेता है तो उसकी देह व इन्द्रियों की सुध-बुध खो जाती है । पहले यह अवस्था अल्प समय तक रहती है किन्तु ज्यों ज्यों अभ्यास बढता जाता है यह संस्कार बढते जाते हैं, चारों ओर वही चैतन्य रूप दृष्टि-गोचर होता है । जब तक मेरापन (अहंभाव) का भाव है यह दृष्टि दृढ़ नही होती है । मेरा कुछ नहीं है, जब यह स्थिति आ जाती है और तदात्मता बढ़ जाती है उस स्थिति में इस पद के शब्द योगीराज श्री आनन्दघन जी के मुख से निकले हैं ।)

अर्थ— हे प्रभो ! मेरे जीवन प्राण आनन्दघन हैं । मेरी वाणी और तान भी आनन्दघन ही है । हे भगवान ! मुझे आत्म भाव आपने ही दिये हैं । इन भाव प्राणों के दाता होने से आप मेरे माता-पिता है । मेरा यह शरीर भी आप हैं । हे आनन्दघन ! मुझे तो आप का ही सहारा है इसलिये मुझे भविष्य की कोई चिन्ता नहीं सताती । आप हैं, वहाँ पुत्रादि सब हैं ॥१॥

हे भगवान आपके पास जो आनन्द है वह तो त्रिलोक की सम्पत्ति मिलने पर भी न होगा, इसलिये मुझे किसी राज्य की आवश्यकता नहीं है । मेरे तो आप ही राज्य हो । आप ही से मेरा काम (कार्य) है । आप ही मेरे सर्वस्व हो । मेरी आपको लाज है ॥२॥

मेरी शोभा आप ही हो, क्योंकि आप ही मेरे हृदय में बसे हुये हो–गर्भित हो। हे आनन्दघन प्रभो! आप ही मेरे परम लाभ हो।

इस पद में 'लाभ आनन्दघन' से संभवतः कविराज ने अपना लाभानन्द नाम सूचित किया है।

कैवल्य वीज **७३** **राग–सारंग**

मेरे घट ज्ञान भान भयो भोर।
चेतन चकवा चेतना चकवी, भागौ विरह को सोर ॥मेरे०॥१॥
फैली चिहुं दिसि चतुर भाव रुचि, मिट्यो भरम तम जोर।
आप की चोरी आप ही जानत, औरे कहत न चोर ॥मेरे०॥२॥
अमल कमल विकच भये भूतल, मंद विषै ससि कोर।
'आनन्दघन' इक वल्लभ लागत, और न लाख करोर ॥मेरे०॥३॥

पाठान्तर—ज्ञान = ग्यांन (इ. उ)। चतुर = चतुरा (क. वु.)। भरम = भर्म (अ)। तम = मन (उ)। औरे = और (अ)। न = नहीं (उ)। विकच = विक (आ)। करोर = किरोर (क.वु.)।

शब्दार्थ— घट = हृदय में। भान = भानु, सूर्य। भोर = प्रातः काल। सोर = शोर, कोलाहल। भाव रुचि = स्वाभाविक इच्छा। भरम तम जोर = भ्रम रूपी अँधकार की शक्ति। अमल = निर्मल। विकच = विकसित हो गये। भूतल = पृथ्वी। कोर = किरण। विषै = विषय वासना। वल्लभ = प्रिय। करोर = करोड।

अर्थ— मेरे हृदय में ज्ञान रूपी सूर्य का प्रातः काल हो गया है—प्रकाश हो गया है। चेतन रूपी चकवा और चेतना रूपी चकवी के विरह से उत्पन्न क्रंदन सर्वथा दूर हो गया है॥१॥

सर्वत्र चारों दिशाओं में विचक्षण स्वभाव में रमण रूप प्रकाश फैल जाने से भ्रम-मिथ्यात्व रूपी अन्धकार-वल जाता रहा-दूर हो गया है। अपनी चोरी गई वस्तु के चोर को मैं स्वयं ही जानता हूं, इसलिये अन्य किसी को चोर नहीं कहता हूं अर्थात् अपने आत्मिक गुणों का चोर मैं स्वयं ही था। किसी दूसरे ने मेरे ज्ञानादि गुणों को नहीं चुराया था। इसका अब निश्चय हो चुका है, इसलिये मैं अन्य को चोर नहीं ठहराता-दोप नहीं देता ॥२॥

सूर्योदय होने से जिस प्रकार पृथ्वी पर कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान रूपी सूर्य के उदय से हृदय-कमल खिल गया है—शुद्ध हो गया है और विषय वासना रूपी चन्द-किरणें मंद पड गई है। एक आनन्द स्वरूप चैतन्य सत्ता ही प्रिय लगती है और लाखों करोडों सांसारिक प्रलोभन अच्छे नहीं लगते हैं॥३॥

(इति आनन्दघन बहुत्तरी)

अन्य रचनायें

स्फुट पद

निस्पृह देश सुहामणो, निरभय नगर उदार हो, वसि अंतर जामी ।
निरमल मन मंत्री वडो, राजा वस्तु विचार हो; " ॥१॥
केवल कमलागार हो, सुणि सुणि शिवगामी ।
केवल कमलानाथ हो, सुणि सुणि निहकामी ॥
केवल कमलावास हो, सुणि सुणि शुभनामी ।
आतम तूं चूकिस मा, साहिव तूं चूकिस मा ।
राजिन्दा तू चूकिस मा, अवसर लही ॥टेक॥
गढ संतोस सामी दसा, साधु संगति दिढ पोलि हो ।
पोलियो विवेक सु जागतो, आगम पायक तोलि हो ॥२॥
दिढ़ विसवास वतागरो, सु विनोदी विवहार हो ।
मित्र वैराग विहडै नहीं, क्रीडा सुरती अपार हो ॥३॥
भावना वार नदी वहै समता नीर गभीर हो ।
ध्यान चहवचौ भर्यौ रहै, समपन भव समीर हो ॥४॥
उचालै नगरी नहीं, दुष्ट दुकाल न जोग हो ।
ईत अनीत व्यापै नही, 'आनन्दघन' पद भोग हो ॥५॥

(७४) निश्चयात्मक रूप से जो पद आनन्दघन जी के समझे गये हैं, उनकी शैली से इस पद की शैली भिन्न है । अतः शंका उत्पन्न होती है कि यह पद उनका है अथवा नहीं ।

पाठान्तर— सुहामणो = सोहामणो (इ.उ) । नगर = नयर (उ) । वसि= वसै (इ,.उ.क.बु.) । द्वितीय पंक्ति में निरमल शब्द के आगे मन शब्द "अ" प्रति में नहीं है । सुणि सुणि = सुनि सुनि (इ) । शिवगामी = सिवगामी (आ) । निहकामी = नीहकामी (आ), निःकांमी (उ) । सुणि....शुभनामी = सुणि

भनामी; कुछ अक्षर लेख दोष से गायब हो गये हैं, 'आ' प्रति में। सुनि सुनि सुभगामी (इ), सुणि सुणि सुभग नामी (उ)। आतम = आतमा (आ.क.वु.)। चूकिस = चूकि (अ), चूकीस (इ.उ)। साहिब = साहिबा (आ), साहेबा (क.वु)। लही = लही जी (आ), लहीजियो (उ)। गढ = इढ (वु)। समो दसा = सामो दसा (आ), सामोद सा (इ), सामोदिसा (उ), कामा मोदसा (क, वु)। पोलि= पौल (इ), पोल (उ)। वतागरौ = वितागरौ (आ,क.वु), दिढ़ चितदास विता गरो (इ), दिढ चित्रदा वितागरो (उ)। सुरति = सुमति (उ)। समता = सुमता (आ), समछा (उ)। रहै = है (आ)। चहबचौ = चैबचो (इ), चइबचो (उ)। समपन = समवन (आ)। उचालै = उचालो (आ)। जोग = योग (इ)। ईत = इति (आ.वु), ईति (क)।

शब्दार्थ—निस्पृह = लोभ या लालसा व तृष्णा रहित। सुहामणो = सुहावना, सुन्दर। निरभय = निर्भय, भय रहित, जहाँ किसी प्रकार का भय न हो, अभय। कमलागार = खजाना। शिवगामी = कल्याण मार्ग का पथिक। निहकामी = कामना-वासना रहित। चूकिस मा = मत चूके। अवसर लही = समय पाकर। गढ = किला। सामों = शान्त। पोलि = दरवाजा। पोलियो = पहरेदार। पायक = पैदल सिपाही, अनुचर। तोलि = तुल्य, बराबर। वितागरो = चतुर विदूषक। विनोदी = विनोद (मजाक-आमोद प्रमोद), मैत्री, प्रमोद आदि भाव वाला। विहडै नहीं = पृथक (अलग) नहीं होता। सुरति = वृत्ति, स्मरण, प्रेम। चहबचो = पानी का छोटा हौज। समपन = अपने इष्ट के प्रति समर्पण भाव। समीर = हवा। उचालै = उपद्रव। ईत = ईति, अति वृष्टि, अना वृष्टि आदि खेती को हानि पहुंचाने वाली।

अर्थ— लालसा—तृष्णा रहित—निस्पृह रूपी सुन्दर देश में निर्भय (अभय) नामक उदार नगर है जहाँ अंतरयामी चेतन का वास स्थान है—राज्य है। वस्तु (तत्त्व) स्वरूप का विचार करने वाला भेद ज्ञानी अनुभव वहाँ का राजा है और निर्मल मन वहाँ का प्रधान मंत्री है ॥१॥

हे आत्मन् ! तू केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी का स्थान है। हे मोक्ष गामी आत्मन् ! तू सुन। हे निष्कामी आत्मन् ! सुन, केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी का तू स्वामी है। हे शुभ नाम वाले आत्मन् ! सुन, तुझ में ही ज्ञान रूपी लक्ष्मी का निवास है। तुझ में ही चेतन गुण है। तेरा ही चेतन नाम है वाकी सव जड है। हे आत्मन् ! यह मानव भव दुर्लभ है अतः जरा भी मत चूक, हे स्वामी ! तू मत चूक, हे राज राजेन्द्र ! तुझे यह दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ अव किंचित भी न चूक ॥

योगी राज अपनी आत्मा को इस भांति जागृत कर रहे हैं। इस निस्पृह देश के निर्भय नगर के संतोप रूपी गढ (किला) है। अर्थात संतोप–आत्म तृप्ति ही इस निर्भय नगर का गढ है। इस गढ के साधु–संगति रूप दृढ़–मजवूत दरवाजा है। (इस कारण यहाँ मोह का प्रवेश नहीं हो सकता है) इस गढ के दरवाजे पर विवेक रूपी द्वारपाल सर्वदा जागता रहता है। यहाँ आगम मार्गदर्शक के तुल्य हैं—समान हैं ॥२॥

यहाँ दृढ़ श्रद्धान रूपी निपुण सूत्रधार–संचालक है। इस ही के संकेत पर सम्पूर्ण शासन चलता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, मध्यस्थ भाव मय यहाँ का विनोद पूर्ण व्यवहार है। वैराग्य रूपी मित्र कभी विछुडता नहीं है—साथ नहीं छोडता है। आत्म-रमणता ही यहाँ की अपार क्रीडा है ॥३॥

यहाँ वारह भावना रूपी नदियें सदा वहती हैं इन नदियों में समता रूपी गहरा जल है। इन वारह भावना रूपी नदियों के समता रूप जल से ध्यान रूप छोटा होज (कुंड) सदा ही भरा रहता है और यहाँ समर्पण भाव रूप हवा सदा चलती रहती है ॥४॥

इस निर्भय नगरी में किसी भी प्रकार का उपद्रव नहीं है। इस नगरी में रहने वालों का मन कभी उचाट नहीं होता–अस्थिर नहीं होता। और यहाँ पर-भाव रमण रूप दुष्ट अकाल का भय

नहीं हैं। यहाँ अति वृष्टि आदि ईतियों का भय नहीं है। यहाँ अनीती अनाचार का प्रवेश नहीं है। ईति रूपी अनीतियाँ यहाँ व्याप्त नहीं है। यहाँ तो आनन्द ही आनन्द का भोग है ॥५॥

योग सिद्धि ७५ राग—रामगिरि

आतम अनुभव प्रेम को, अजब सुण्यो विरतंत।
निरवेदन वेदन करे, वेदन करै अनत ॥ साखी ॥
म्हारो बालूडो सन्यासी, देह देवल मठवासी ॥
इडा पिंगला मारग तजि जोगी, सुखमना घरि आसी।
ब्रह्मरंध्र मधि आसण पूरी बाबू. अनहद नाद बजासी ॥म्हारो ॥१॥
जम नियम आसण जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी।
प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी ॥म्हारो०॥२॥
मूल उत्तर गुण मुद्राधारी, परयंकासन चारी।
रेचक पूरक कुंभककारी, मन इन्द्री जयकारी ॥म्हारो०॥२॥
थिरता जोग जुगति अनुकारी आपो आप विचारी।
आतम परमातम अनुसारी, सीझे काज सवारी ॥म्हारो॥४॥

(७५) इस पद की साखी (दोहा) 'अ' और 'इ' प्रति में नहीं है। इस पद में कवि का नाम नहीं होने से कहा नहीं जा सकता कि यह किसका है अतः यह शंकास्पद है।

पाठान्तर—प्रेम को = रसिकको (क.वु.) निरवेदन = निर्वेदी (क.वु.) इडा = इंगला (इ) जोगी = योगी (इ.उ.) सुखमना=सुषमना (उ,क.), । घरि= घर। (इ.उ) आसी=वासी (क.वु.)। नाद = तान (इ.क.वु.)। जम=जिन (आ), यम (इ.क.वु.)। परयंकासन = पर्यंकासन (क), पर्यंकासन (वु) । चारी = वासी (वु) । कुंभककारी = कुंभकसारी (आ.उ.क.वु.)। जयकारी = जयकासी

(नु.)। जोग जुगति = योग युगति (अ.उ.) विचारी = विमासी (इ.बु.क.)। सवारी = समासी (इ.बु.)।

शब्दार्थ—अजब = आश्चर्यकारक। विरतंत = वृत्तांत, वर्णन। निरवेदन = स्त्री पुरुषादि वेद रहित, केवली भगवान। वेदन करे = वेदते हैं, भोगते हैं, जानते है। बालूडो = अल्पवयस्क, बालक। देवल = मंदिर, मकान। इडा = वामनाडी, वामनाक का छिद्र, वाम नाक से चलने वाला स्वर, चन्द्रनाडी। पिंगला = दाहिनीनाडी, दाहिनी नाक का छिद्र, दाहिने नाक के छिद्र से चलने वाला स्वर, सूर्यनाडी। सुखमन = सुष्मनानाडी, नाक के दोनों छिद्रों से चलने वाला स्वर। ब्रह्मरंध्र = मस्तक के बीच में गुप्त छिद्र। मधि = मध्य, बीच में। आसन पूरी = बैठकर, स्थिर करके। अनहदनाद = कान बंद करने पर सुनाई देने वाला स्वर, अंतरध्वनि। जम = यम, अहिंसा, सत्य आदि पांच यम जो आजीवन पालन किये जाते हैं। नियम = अल्प समय के लिये पाले जाने वाले नियम। यम, नियम, आसान, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ये योग के आठ अंग हैं। इनकी पूर्णजानकारी के लिये श्री हेमचंद्राचार्यका योगशास्त्र, श्री शुभचंद्राचार्य का ज्ञानार्णव श्री चिदानंद जी महाराज का स्वरोदय तथा अन्य आचार्यों के योग संबंधी ग्रंथ देखने चाहिये। समासी = समा जाता है, लीन हो जाता है। मूल = मूलगुण, यम अहिंसा आदि। उत्तर = उत्तरगुण, नियम अहिंसा आदि को पुष्ट करने वाले नियम। मुद्राधारी = योग की अनेक मुद्राओं (आकृतियों) को धारण करने वाला। परयंकासन = पर्यंकासन एकप्रकार का आसान (योग के ८४ आसनों में से)। चारी = चलने वाला, अभ्यासी। कुंभक=अंदर और बाहर जाने वाले श्वास को रोकना जयकारी = जीतने वाला। थिरता = स्थिरता। अनुकारी = अनुकरण करने वाला, आज्ञाकारी। सीझै = सिद्ध हो जाता है। सवारी = शीघ्र। अनुसारी = अनुसरण करने वाला, अनुयायी।

अर्थ—आत्म अनुभव प्रेम का वृत्तान्त आश्चर्यकारक सुना जाता है। इस आत्मानुभव को पुरुष, स्त्री, और नपुंसक-तीनों वेदों से रहित ही व्यक्ति वेदन कर सकता है,—भोग सकता है—जान

सकता है अर्थात् केवली भगवान ही इसे अनंत काल तक भोगते है ॥साखी॥

वेदोदय नवें गुणस्थान तक ही होता है और इसकी सत्ता भी नवें गुणस्थान तक ही है। क्षायिक भाव से तो वेदोदय व सत्ता का नाश नवें गुणस्थान में हो जाता है किन्तु उपसम श्रेणी वाले के इनका उपसम भाव रहता है इसलिये उन्हें अपूर्वकरण ग्यारहवें गुण स्थान तक पहुंचा तो देता है पर क्षायक भाव बिना आगे न बढ़कर उन्हें पीछे लौटना ही पड़ता है। इसलिये केवली भगवान ही वेदन करते हैं।

मेरा बाल-अल्पवयस्क (अल्प अभ्यासी, अल्प कालिक सम्यक्त्वी) सन्यासी जो देह-शरीर रूपी मंदिर-मठका निवास करने वाला है; वह इडा, पिंगला नाडियों का मार्ग छोडकर सुषुम्नानाडो के घर आता है। आसन जमाकर सुषुम्ना नाडी द्वारा प्राणवायु को ब्रह्म रंध्रा में लेजाकर अनहदनाद बजाता हुआ चित्तवृत्ति को उसमें लीन कर देता है ॥१॥

यम-नियमों को पालन करने वाला, एक आसन में दीर्घकाल तक बैठने वाला, प्राणायाम का अभ्यासी, प्रत्याहार, धारणा व ध्यान करने वाला शीघ्र ही समाधि प्राप्त कर लेता है ॥२॥

वह बाल सन्यासी संयम के मूलगुण और उत्तर गुणों को धारण करने-वाला है। पर्यंकासन का अभ्यासी है। रेचक, पूरक और कुंभक प्राणायाम क्रियाओं को करने वाला है और मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला है ॥३॥

इस प्रकार योग साधना अनुगमन करता हुआ वह सन्यासी स्थिरता ग्रहणकर अपने आत्म स्वरूप का विचार करता हुआ आत्मा और परमात्मपद का अनुसरण करता है तो उसके सर्व कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं ॥४॥

प्रीतम उपालम्भ **७६** **राग–जैजैवंती**

तरस कीजई दइ को दई की सवारी री ॥
तीच्छन कटाच्छ छटा, लागत कटारी री ॥तरस० ॥१॥
सायक लायक नायक प्राण को प्रहारी री ।
काजर काज न लाज बाज न कहुं वारी री ॥तरस० ॥२॥
मोहनी मोहन ठग्यो, जगत ठगारी री ।
दीजियै 'आनंदघन' दाद हमारी री ॥तरस० ॥३॥

(७६) यह पद कुछ अटपटा होने से शंकास्पद मालूम होता है। लगता है संग्रहकार के दोष से वास्तविक पाठ गडवडा गया है।

पाठान्तर—कीजइ, = कीजिये (इ), कीजइरी (उ) तीच्छन = तीक्ष (आ), तीछन (इ), तिक्षन (उ)। कटाच्छ = कटाक्ष (आ), कटाछ (इ), कटाक्ष (उ) काजर = कांजर (उ)। लाज बाज न = लाजन बाजु (आ)। वारी री = वारी (आ)। दाद = दाइ (उ)।

शब्दार्थ—तरस = दया। दइको = दैवको विधाता को। दई की = विधाता की, कर्म की। सवारी = वाहन, जलूस, लश्कर। तीच्छन = तीक्ष्ण, तेज, पैने। कटाच्छ = कटाक्ष, टेडी नजर, व्यंग, अपेक्षा। छटा = प्रभा, झलक। कटारी = कटार। सायक = बाण। लायक = योग्य, जिज्ञासु। नायक = नेता, सरदार (आत्मा)। प्रहारी = प्रहार करने वाला, चोट पहुंचाने वाला, घातक। काजर = काजल। वारी री = मना करके, दूर करके। बाज = दूर होना, अलग होना। दाद = सहायता।

पूर्व पाठिका—मोहनीय कर्म के उदय से जब चेतन ऊपर के गुणस्थान में चढ़कर पीछे गिरता है, उस समय चेतना बडी दुखी होती है।

चतुर्थ गुणस्थान में आत्मज्ञान सम्यकत्व प्राप्त होना है। पांचवें में देशविरति, छठे में सर्वविरति, सातवें अप्रमत होता है, आठवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान-आत्मध्यान ध्याते हुये जीव ऊपर चढता है। फिर दो घड़ी में सम्पूर्ण कर्म मल का नाश करते हुये, नवें, दसवें, फिर बारहवें गुण स्थान को पार करते हुये केवल ज्ञान स्वरूप तेरहवें गुणस्थान को जीव प्राप्त कर लेता है। आठवें गुणस्थान में चेतना चेतन से एकता अनुभव करती है और तेरहवें गुणस्थान में एकत्व प्राप्त कर लेती है।

चौथे गुणस्थान से जब पतन होता है तो बहुत अल्प समय जीव दूसरे गुणस्थान में रूक कर पहिले में जा पहुंचता है। सम्यक्त्व प्राप्त कर जब जीवं गिरता है, उस समय की परिस्थिति का इस पद में दिग्दर्शन है। चेतना विलाप करती हुई कहती है—

हे विधाता! जरा दया कीजिये। यह आपकी कैसी सवारी है?—कैसा जलूस है? इसके तीक्षण कटाक्ष (भ्राकुटी) की प्रभा मेरे कटार के समान पार हो जाती है ॥१॥

हे सयाने नायक! (चेतन) ये सांसरिक प्रलोभन तीर के समान प्राणों पर प्रहार (चोट) करवाने वाले हैं। इस दृश्य प्रपंचको देखने के लिये न तो अंजन लगाने की आवश्यकता है और न लोक-लाज की बाधा (रुकावट) हैं। स्वेच्छा से प्रलोभन नहीं रुकते हैं और इन्हें रोकने वाला बिरला ही होता है ॥२॥

जगत को ठगने वाली मोहनी ने मेरे मन-मोहन चेतन को ठग लिया है। हे आनंदघन प्रभो! मेरी सहायता कीजिये। आपकी सहायता से ही चेतन मोहनी के फंदे से अलग हो सकता है ॥३॥

अखंड स्मरण ७७ राग—रामगिरी

हमारी लौ लागी प्रभु नाम।

आम खास अरु गोसलखाने, दर अदालत नहीं काम
॥हमारी०॥१॥

पांच पचीस पचास हजारो, लाख करोरी दाम।
खाये खरचे दिये बिनु जात हैं, आनन करि करि श्याम
॥हमारी०॥२॥
इतके न उतके सिव के न जिउ के उरझि रहे दोउ ठाम।
संत सयानप कोई वतावे, 'आनंदघन' गुणधाम ॥हमारी०॥३॥

(७७) भाषा और शैली की भिन्नता ही इस पद के शंकास्पद का कारण है संभव है यह पद भक्त कवि आनदघन का हो।

पाठान्तर—लौ = ल्यै (उ), लय (क.बु.) आम = आंव (अ), अमव (आ), अंव (उ)। गोसलखाने = गुसलखाने (आ)। दर = अंदर (इ) अदालत = यदालत (उ) करोरी = किरोरी (इ), किरोडी (उ)। खाये = खाई (इ), दिये विनु = दिए विना (अ), दिइ विनु (उ)। 'इ' प्रति में पाठ इस प्रकार है— "खाई खरची दिन वितियत हैं, यों तन कर कर स्याम"। इतके न उतके = इतके उतके (इ.उ.)। इनके न उनके (क.बु.)। जिउके = जिनके (इ.उ.)। दोउ = विन (आ.) विनु (इ)। सयानप = सयाने (इ.उ.)। कोई = कोय (इ)।

शब्दार्थ —लौ = लगन, चित्तवृत्ति, आशा। आम = जनसाधारण के एकत्रित होने का स्थान, आम दरवार,। खास = विशेष व्यक्तियों के एकत्रित होने का स्थान, दरवारे खास। गोसलखाने = स्नानघर, वह स्थान जहां वादशाह विशेष (निकट) व्यक्तियों से मिलते हैं। दर = में, अंदर, द्वार। आनन = मुख। श्याम = काला। इतके न उतके = इधर के न उधर के। ठाम = स्थान।

अर्थ— मेरी लगन—चित्तवृत्ति तो भगवान (अरिहंत-सिद्ध) के नाम स्मरण में लग रही है। प्रभु के ज्ञानादि गुण स्मरण में मेरा मन दत्त चित्त है। यह मेरा सालंवन ध्यान है जिस में मैं लीन होता हूं। मुझे वादशाहों के आम और खास दरवारों में जाने, वादशाह के एकान्त स्थान में जाकर प्रतिष्ठा पाने की इच्छा नहीं है। और न

मुझे न्यायालय के अधिकारी बनने से ही काम है, क्योंकि मेरा मन तो प्रभु स्मर्ण में लीन है ॥१॥

संसार में मानव पांच पच्चीस व पच्चास हजार यहां तक कि लाखों करोडों रुपया संग्रह करने में लव लीन रहता है, और विना खाये–उस धन को विना भोगे, विना खर्चे किये ही, अपने मुख में कालिख पोत कर–लगाकर चला जाता है सव का सव समय तृष्णा के चक्कर में लगा कर मानव अपना जन्म—आयु खो देता है विना भगवद् भजन के ही संसार से चला जाता है ॥२॥

ऐसे मानव न इधर के रहते हैं, न उधर के, न उनका यह लोक सुखप्रद होता है और न परलोक ही सुधरता है। न तो वे अपने शरीर संबंधी सुख ही भोगते हैं और न आध्यात्मिक कार्य ही करते हैं। इस प्रकार वे दोनों के वीच उलझे रहते हैं। कोई विचक्षण आत्म ज्ञानी सन्त मुझे (जिसे प्रभु के नाम की लगन है) आनन्द के घन और उनके गुणों के स्थान प्रभु का साक्षात्कार करा देवें तो मेरे सर्व कार्य सिद्ध हो जावें ॥३॥

प्रिय मिलन **७८** **राग–वसंत**

प्यारे आई मिलो कहा, अंठे जात।

मेरो विरह व्यथा अकुलात गात ॥प्यारे०॥१॥

एक पईसारी न भावै नाज, न भूषण नहि पट समाज ॥प्यारे०॥२॥

मोहि निरसनि तेरी आस, तुम ही शोभ यह घर की दास ॥प्यारे०॥३॥

अनुभवजी कोऊ करो विचार, कद देखों ह्वै वाकी तन में सार ॥प्यारे०॥४॥

जाई अनुभव समझाय कंत, घर आए "आनंदघन" भए वसंत ॥प्यारे०॥५॥

(७८) यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति में है औरों में नहीं है। भाषा और शैली भिन्नता के कारण शंकास्पद है।

पाठान्तर—आइ = आय (क.बु.)। कह = कहां (क.बु.) अंठे = यंते (क.बु.)। पईसारी = पेसाभर (क.बु.)। मोहि........दास = मोहन रास न दूसत तेरी आसी, मदनो भय है घर की दासी (क.बु.)। अनुभवजी........विचार = अनुभव जाय के करो विचार (क,बु.)। जायके = जाइके (बु)। देखों = देखे (क.बु.)। ह्वै = ह्वै (क.बु.)। जाइ = जाय (क.बु.)। अनुभव = अनुभव जई (क.बु.)।

शब्दार्थ—कहा अंठे जात = क्यों अकडे जा रहे हो। गात = शरीर। नाज = अनाज। भूपरण = आभूपरण, जेवर। पट = वस्त्र। निरसनि = निराश। कद = कव। वाकी = उनकी।

अर्थ—शुद्ध चेतना कहती है—हे चेतन ! आकर दर्शन दीजिये। इतने क्यों अकठे (ऐंठे) जा रहे हो ? नाराज क्यों हो रहे हो ? मैं वार वार आपको अपने घर बुला रही हूं फिरभी आप नहीं आ रहे हो। आपके विरह के दुख से मेरा शरीर आकुल-व्याकुल हो रहा है ॥१॥

मेरी ऐसी दशा हो रही है कि मुझे एक पैसे भर भी अन्न अच्छा नहीं लगता है—न गहने वस्त्र पहिनना, अच्छा लगता है और न समाज में कहीं जाना-आना अच्छा लगता है ॥२॥

हे चेतनराज ! इस शरीर रूपी घर की शोभा आप से ही है। मैं तो आपके घर की दासी हू। हे चेतनराज ! आपके आने की आशा से मैं निराश हो गई हूं। मुझे अब आपके आने की आशा नहीं रही है ॥३॥

अब चेतना अनुभव से कह रही है—हे अनुभवजी ! कुछ विचार तो करो। वह (चेतन) तो कव देखेंगे, परन्तु तुम तो देखो। उनकी याद रूपी सार मेरे शरीर में लगी हुई है। जिस प्रकार खाती की सार

लकडी को वींध डालती है उसी प्रकार उनकी याद रूपी मार मेरे शरीर को छेद रही है ॥४॥

शुद्ध चेतना की वात सुनकर अनुभव ने जाकर चेतन को समझाया। स्वरूपानंद के धनी चेतन अपने स्वभाव रूपी घर आगये और उनके आने से मानो वसंत का आगमन हो गया हो आनंद लह-लहा गया हो ॥५॥

प्रियतम को प्रार्थना ७९ राग–वसंत

प्यारे जीवन एह साच जान।
उत वरकत नांहि तिल समान ॥१॥
उत न मगो हित नांहिनै एक।
इत पकर लाल छुरी खरे विवेक ॥२॥
उत सठ ठग माया मान डुंव, इत ऋजुता मृदुता निजकुटुंव ॥३॥
उत आसा तिसना लोभ कोह, इत शांत दांत संतोष सोह ॥४॥
उत कला कलंकी पाप व्याप, इत खेले 'आनंदघन' भूप आप ॥५॥

(७९) यह पद केवल हमारी 'अ' प्रति में ही है।

पाठान्तर—नांहि = नांहिन (क), नाही (वु)। उत……एक = उनसे मांगुं दिन नांहि एक (क), उनसे मांगु दिन नाहि एक (वु)। छुरी खरे = छु-'री' करि (क), छुरि करि (वु)। उत……कुटुंव = उत शठता माया मान डुंव, इत ऋजुता मृदुता नीज कुटुंव (क), उत, शठता मायाः मान डुंव, इत रुजता मृदुता मानो कुटुंव (वु)।

शब्दार्थ—एह = यह। उत = उधर। वरकत = वृद्धि, लाभ। मगो = मांगो, चाहो,। नाहिनै एक = भी नहीं। छुरी = छडी, आसा। खरे = खड़े

हुये । दुंब = दंभ कपट । ऋजुता = सरलता । तिसना = तृष्णा, लालसा । कोह = क्रोध । दांत = इंद्रियजय, इंद्रियों पर विजय । सोह = शोभायमान है ।

अर्थ—सुमति चेतन से कह रही है—हे प्रिय ! हे जीवन प्राण ! यह बात सच मानिये कि उधर ममता के फंदे में पड़ने से तिल के बराबर भी सद् गुणों की वृद्धि नहीं है। उधर की वृद्धि से जरा भी हित नहीं होने वाला है ॥१॥

उधर से (ममता की ओर से) कुछ भी न मांगिये क्योंकि उधर आत्म-हित की एक भी बात नहीं है । आत्महित की जरा भी गुंजाइश नहीं है । इधर विवेक भेदज्ञान की छडी लिये हुये खड़े है जो अनीति की राह से रोकते रहते है ॥२॥

उधर धूर्त ठग, मान, माया और दंभ भरे हुये हैं । इधर (सुमति की ओर) सरलता, मृदुता विनय रूप अपना परिवार है ॥३॥

उधर (ममता की ओर) वासना, तृष्णा, लोभ और क्रोध हैं । इधर (सुमति की ओर) शांति, इंद्रिय-जय और संतोष शोभायमान है ॥४॥

उधर (ममता की ओर) कलंकी पाप की कला व्याप्त हो रही है । इधर स्वयं आनंदस्वरूप चेतन राज का क्रीडा स्थल है, जहां चेतनराज क्रीडा करते हैं ॥५॥

जड चेतन–विवेक ८० राग–वसंत

कित जाए मतै हो प्राणनाथ, इत आई निहारो नै घर को साथ ॥१॥
उत माया काया कवण जात, उह जड तुम चेतन जग-विख्यात ॥२॥
उत करम भरम विष वेल संग, इत परम नरम मति मेलि रंग ॥३॥

उत काम कपट मदमोह मान, इत केवल अनुभव अमृत पान ॥४॥
अलि कहै समता उत दुख अनंत, इत खेले आनंदघन वसंत ॥५॥

(८०) यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति में है। पद सं. ७९ और यह पद एक ही भाव को व्यक्त करते हैं। इन दोनों ही पदों में शैली अन्य पदों से भिन्न है। अतः शंका उत्पन्न होती है।

पाठान्तर—जाए = जान (वु), जांन (क)। उह = यहु (क), वह (वि) संग = अंग (वु)। खेले = खेल्हु (क)।

शब्दार्थ—कित = कहां, मतै = विचार। निहारो = देखो। उह = वे।

अर्थ—हे प्राण नाथ चेतन देव! किधर जाने का विचार है? आप कृपा कर इधर आकर देखिये तो सही। यहां अपने परिवार क्षमा आर्जव, मार्दव, सत्य आदि का साथ है॥१॥

उधर छद्मवेश धारिणी माया और काया को क्या असलियत है? क्या जाति है? अरे यह तो जड है और आप विश्व-विख्यात चेतनराज हो। इस जड के प्रसंग से अपने चेतन भाव को क्यों भूल रहे हो॥२॥

उधर ज्ञानावरणादि आठ कर्म प्रकृति से उत्पन्न भ्रम रूप जहरीली वेल छाई हुई है, जिसने चारों ओर से आप को जकड रखा है और इधर समता, श्रद्धा आदि परम कोमल वृत्तियें आपके रंग में रंगी हुई हैं॥३॥

उधर काम, कपट, मद, मोह और मान हैं और उधर केवल आत्मानुभव रूप अमृत का पान है॥४॥

समता कहती है—हे सखि! उधर अनंत दुःख हैं और इधर आनंद राशि-भगवान वसंतोत्सव खेलते हैं॥५॥

जिन-स्मरण-लीनता **८१** **राग—अलियो बेलावल**

जिन चरणे चित ल्याउं रे मना।
अरहंत के गुण गाऊं रे मना ॥जिन०॥
उदर भरण के कारणें रे गौवां वन में जाय।
चार चरै चिहुं दिस फिरे, वाकी सुरति वछरुआ मांहिरे ॥जि०॥१॥
सात पांच सहेलियां रे, हिलमिल पाणी जाय।
ताली दिये खड खड हंसरे, वाकी सुरति गगरूआ मांहि रे ॥जि०॥२॥
नटुआ नाचै चौक में रे, लाख करै लोक सोर।
बांस गृही बरते चढै, वाको चित न चलै कहूं ठोर रे ॥जि०॥३॥
जूआरी-मन में जूआरे, कामी के मन काम।
'आनंदघन' प्रभू यूं है, इम ल्यौ भगवत नाम रे ॥जि०॥४॥

(८१) यह पद केवल हमारी 'अ' प्रति मे है। इस पद की भाषा और शैली भिन्न होने से शंकास्पद है।

पाठान्तर—जिन = अैसे जिन (क.वु.) अरिहंत = अैसे अरिहंत (क.वु.) गौवां = गौआं (क.वु.)। मांहिरे = मांहेरे (क.वु.)। लाख···· सोर = लोक करै लख सोर (क.वु.) गृही = ग्रही (क.वु.) भगवंत = भगवंत को (क.वु.)।

शब्दार्थ—चितल्याउं = मनलगाऊं। उदर = पेट। चार = चारा, घास आदि। चिहुं = चारों। सुरति = चित्तवृति। खड खड हंसे = मुक्त कंठ से हंसती हैं, खिल खिलाकर हंसती है। वरते = वरत्रा, रस्सी।

अर्थ—हे मन ! राग-द्वेष-विजयी जिनराज भगवान के चरणों में अपनी वृत्तियों को इस प्रकार लगा, आत्म शत्रुओं के नाशक अरि-

हन्त भगवान के गुणों का इस प्रकार स्मर्ण कर जिस प्रकार अपना पेट भरने के लिये गायें जंगल में जाती हैं और वह चारा-घास आदि चरती हैं, चारों दिशाओं में घूमती हैं किन्तु उनकी चित्तवृत्ति तो अपने वछडे (वत्स) में ही रहती है ॥१॥

विशेष—हे जीव ! यदि तू अन्तराय कर्म के उदय से सर्व विरति का सेवन न कर सके तो भी अपनी चित्त वृत्तियों को सदा आत्माभिमुख रख। इसमें तनिक भी प्रमाद न कर। सब कार्य करते हुये आत्म जागृति रख। अपने में कर्तृत्व का अरोपण न करके साक्षी भाव का अरोपण कर, अर्थात् साक्षी भाव से रह।

आगे योगीराज फिर कहते हैं—पांच सात सहेलियां हिलमिल कर पानी भरने के लिये जाती है, वे तालियें बजाती है, खिल खिला-कर हंसती हैं किन्तु उनकी चित्तवृत्ति तो मस्तक पर रखे हुये घडे (गररी) में ही रहती है। अर्थात् सब कार्य करते हुये भी उनका ध्यान यही रहता है कि कहीं घडा सिर पर से गिर न जाय ॥२॥

कविराज पुनः उदाहरण देते हुये कहते हैं-नट सरे बाजार चौक में नाच (नृत्य) करता है। आने जाने वाले, दर्शकगण लाखों बातें करते हैं, शोरगुल करते हैं। वह नट बांस लेकर रस्सी पर चढकर अनेक कलायें दिखाता है, लोगों के शोरगुल की ओर ध्यान न देकर वह तो अपने चित्त को अपने कार्य की ओर ही रखता है। उसका चित्त किसी दूसरी जगह जाता ही नहीं है ॥३॥

विशेष—इन तीन पदों में—पहिले पद में अहार प्राप्त करने के लिये जाने वाली गायों का वर्णन है, दूसरे पद में पानी लाने वाली विनोदी स्त्रियों का वर्णन है, और तीसरे में पेटार्थी लोक रंजन का धन्धा करने वाले नट का दृष्टान्त है। इन सब का आशय यहीहै कि चाहें अपनी रोजी के लिये उद्यम करते हो, चाहे मित्र मंडली

में विनोद करते हो, चाहे पेट पालन के लिये लोगों का मन-रंजन का कार्य करते हो, ये सब करते हुये भी अपने को किसी भी अवस्था में, अपने आत्मा को नहीं भूलना चाहिये। सर्वदा आत्म जागृति रखनी चाहिये। उक्त तीनों कार्य करने वाले जिस प्रकार अपने मूलभूत कार्य को नहीं भूलते हैं उसी प्रकार हमें भी जिनेश्वर देव का स्मरण दत्तचित्त होकर करना चाहिये। सांसारिक–व्यवहारिक कार्य करते हुए भी चित्त प्रभु में रखो।

कविराज आनन्दघनजी दो सांसारिक उदाहरण देते हुये कहते हैं--जिस प्रकार जुआ खेलने वाले की वृत्ति हमेशा जुआं के दाव पेंच में, और कामी (व्यभिचारी) पुरुष का मन सदा स्त्रियों में लगा रहता है, उसी प्रकार हे भव्य प्राणियों! अपनी प्रबल लगान से तुम प्रभु के नाम व गुणों का स्मर्ण करो ।।४।।

महासत्ता,-सामान्य-विशेष ८२ राग–धन्यासिरी

चेतन सकल वियापक होई।
सत असत गुण परजाय परिणति, भाउ सुभाउ गति जोई ।।चे०।।१।।
स्व पर रूप वस्तु की सत्ता, सीझै एक नहीं दोई।
सत्ता एक अखंड अबाधित, यह सिद्धंत पच्छ जोई ।।चे०।।२।।
अन्वय अरु व्यतिरेक हेतु को, समझि रूप भ्रम खोई।
आरोपित सब धर्म और हैं, 'आनंदघन' तत सोई ।।चे०।।३।।

(८२) मुद्रित पुस्तकों में यह पद दो स्थानों पर है। एक तो ५५वीं संख्या पर है जिसमें 'चेतन अपा कैसे लोई' से आरंभ हुआ है तत्पश्चात– 'सत्ता एक अखंड""तत सोई' तक ऊपर जैसा ही है। दूसरे ८९वीं संख्या पर ऊपर जैसा है वैसा ही है। हमारी 'आ प्रति में उक्त पद की दूसरी और तीसरी पंक्ति नहीं है।

पाठान्तर— होई = दोइ (आ)। परजाय = परज़य (क.वु.वि.)। जोई = दोइ (क.वु.), होइ (वि.) सिद्धंत = सिधंत (आ), सिद्धांत (उ.क.वु.वि.)। पच्छ = पछ (आ,इ.), पख (क.वु.वि.)। पथ (उ)। जोइ = होइ (आ,क,वु.)। दोई (उ)। अन्वय अरु व्यतिरेक = अनवय, व्यतिरेक (आ,क.वु.)। हेतु को = हेतु कउ (आ)। समझि = समजी (क.वु.वि.)। और है = ओराहि (आ)।

शब्दार्थ—वियापक = व्यापक। गुण = आत्मगुण ज्ञानदर्शनादि। परजाय = पर्याय। (सहभावी धर्म गुण और क्रमोपभावी धर्म पर्याय कहलाते हैं) परिणति = परिणमन शीलता, आत्मा के गुण पर्यायों का परिणमन ही आत्म परिणति है, सिद्धों के स्वभाव परिणति है। भाउ = भाव, पारिणामिक, औदयिक औपशमिक, क्षयोपशमिक तथा क्षायिक। सुभाउ = स्वभाव। गत = अवस्था, ढंग। जोई = देखकर, विचार कर। स्व = निज, आत्मा की। पर = अन्य की, जड की। रूप = स्वरूप। सत्ता = अस्तित्व। सीझै = सिद्ध होती है। सिद्धंत पच्छ = शास्त्रीय पक्ष। अन्वय = कार्य कारण संबंध। व्यतिरिक = जहाँ कार्य का अभाव वहां कारण का भी अभाव। हेतु = कारण। आरोपित = एक वस्तु में अन्य वस्तु के गुण की कल्पना। तत = तत्व, सार वस्तु।

अर्थ—यह चेतन राज सर्व व्यापक बना है अर्थात् कर्म-मल के नाश होने पर उसके ज्ञान में सर्व ज्ञेय (जानी जाने वाली वस्तु) भासते है। लोक, अलोक की सब स्थिति वह (आत्मा) जानता है, देखता है। इस अपेक्षा से चेतन सर्व व्यापक होता है। अथवा केवली समुद्घात के समय यह आत्मा लोक प्रमाण अपने आत्म प्रदेशों को फैलता है—इस प्रकार भी वह सर्व व्यापक होता है। अन्यथा तो यह आत्मा शरीर प्रमाण ही होता है। यह दोनों अवस्थायें पूर्ण ज्ञान--केवल ज्ञान प्राप्ति पर ही होती है। योगीराज आनंदघनजी वही स्थिति प्राप्त करने के लिये कहते हैं—हे चेतन! सर्व व्यापक बनो। ऐसा उद्यम करो जिससे केवल ज्ञान प्राप्त हो।

इस चेतन में सत-असत-अस्ति, नास्ति दोनों धर्म हैं। स्व-द्रव्य की अपेक्षा इसमें अस्ति धर्म है, पर-द्रव्य की अपेक्षा नास्ति धर्म है। आत्मा अपने ज्ञानादि गुण, मनुष्यादि पर्याय-इन गुण-पर्याय की परिणति-परिणमन, क्षायिकादि भाव तथा निज चेतन स्वभाव की गति से यह चेतन सत है व जड धर्म की अपेक्षा से असत है, अर्थात् जड पदार्थ के गुण वर्ण गंध रस स्पर्श इसमें (चेतन में) नहीं हैं ॥१॥

स्व एवं पर वस्तु का स्वरूप व सत्ता एक ही सिद्ध नहीं होती, वह भिन्न-भिन्न है, दो हैं। अर्थात् चेतन की स्व सत्ता चेतन रूप है तथा जड की सत्ता जड रूप है। यह जड भाव व चेतन भाव दोनों एक वस्तु में सिद्ध नहीं होते। यह सिद्धान्त पक्ष है कि चेतन एक अखंड व अबाधित सत्ता है ॥२॥

उस चैतन्य सत्ता को अन्वय और व्यतिरेक हेतु से समझकर, स्वरूप सम्बन्धी सम्पूर्ण भ्रम मिटा देने चाहिये। मानसिक, वाचिक और कायिक धर्म भिन्न हैं। ये आत्मा के धर्म नहीं हैं। इन सब आरोपित धर्मों को भिन्न समझ कर आनंद के समूह रूप ज्ञान दर्शन स्वरूप आत्मा को जानना चाहिये, यही तत्व रूप परम सत्य है। इस चेतन शक्ति की पूर्णता प्राप्त करना ही सर्व व्यापाक होना है ॥३॥

प्रियतम उपालंभ **८३** **राग–वसंत**

प्यारे, अब जागो परम गुरु परम देव।
मेटहु हम तुम बीच भेद ॥

आली लाज निगारो गमारी जात, मोहि आन मनावत विविध भांति
॥प्यारे०॥१॥

आली पेर निमूली चूनडी कांनि, मोहि तोहि मिलन बिच देत हानि
॥प्यारे०॥२॥

आली पति मतवाला और रंग, रमे ममता गणिका के प्रसंग
॥प्यारे०॥३॥

अब जड ते जडता घात अंत, चित फूले 'आनंदघन' वसंत
॥प्यारे०॥४॥

(८३) यह पद केवल हमारी 'अ' प्रति में है। इस पद की भाषा और शैली भिन्न है और शीर्षक पद में पति को संबोधित किया गया है, और आगे सखी से बात चीत होती है। पूर्वापर का संबंध नहीं है। तीसरा और चौथा पद तो ऊपर के पदों से सर्वथा भिन्न पड़ जाते हैं। संग्रहकार ने कोई पद कहीं का और कोई पद कहीं का मिलकार यह पद बना दिया हो, ऐसा लगता है। अतः शंकास्पद है।

पाठान्तर—मुद्रित प्रतियों में 'प्यारे' शब्द 'परमदेव' के पीछे है। आली पेर....कांनि = अली पर निर्मूली कुलटी कान (क.बु.वि)। मोहि तोहि = मुनि तुहि (क.बु.)। मतवाला = मतवारे (क.बु.वि) तीसरे पद के आदि में जो 'आली' शब्द है, वह मुद्रित प्रतियों में नहीं है। अब....अंत = जब जडतो जडवास अंत (क.वि.) अब जडतो जडवास अंत (बु)।

शब्दार्थ—आली = सखी। गमारी = गंवार। आन = आज्ञा। पेर = पेलना, सताना। घात = प्रहार, चोट।

अर्थ—सुमति कहती है—हे परम गुरु देवादिदेव! अब तो सचेत होवो। आपके और मेरे मध्य जो अन्तर पड़ रहा है उसे मिटा डालो॥

हे सखी! लाज निगोडी गंवार जाति है। वह मुझे तरह तरह की आज्ञायें देकर उनका पालन कराना चाहती है॥१॥

हे सखी! वह निर्मूली लज्जा चूनडी पहिनकर, सजधजकर (शृंगार करके) आपके और मेरे मिलन में बाधा उत्पन्न करती है। मैं अपनी लज्जावश आपके पास नहीं आ रही हूं॥२॥

हे सखी ! स्वामी तो ममता रूपी गणिका के फंद में (जाल में) पडकर मतवाले हो रहे हैं और उसी रंग में रम रहे हैं ॥३॥

अव तो जडवस्तु के ममत्व का अंत होने पर ही—पौद्गलिक भाव का नाश होने पर ही आत्मज्ञान रूप वसंत का आगमन होकर मेरा चित्तरूपी पुष्प खिलेगा और अतिशय आनदप्राप्त होगा ॥४॥

अव ऐसे शंकास्य पद दिने जाते हैं जो हमारी प्रतियों में तो हैं नहीं, किन्तु मुद्रित प्रतियों में है। इनकी भाषा और शैली आनंदघन जी के पदों से भिन्न है। ये पद किसी अन्य जैन कवि के या और कवियों के हो सकते हैं। भविष्य में शोधकरने वालों को अन्य कवियों के पद मिलेंगे तो वहुत कुछ वातें स्पष्ट होजावेंगी।

८४ राग—आशावरी

बेहेर बेहेर नहि आवे रे अवसर, बेहेर बेहेर नहि आवै ॥अव॥१॥
ज्यूं जाणें त्यूं करले भलाई, जनम जनम सुख पावै ॥अव०॥२॥
तन धन जोवन सवही झूठो, प्राण पलक में जावै ॥अव०॥३॥
तन छुटे धन कौन काम को, कायकूं कृपण कहावै ॥अव०॥३॥
जाके दिल में सांच वसत है, ताकू झूंठ न भावै ॥अव०॥४॥
'आनदघन' प्रभु चलत पथ में, समरि समरि गुण गावै ॥अव०॥५॥

(८४) शब्दार्थ - वेहेर वेहेर = वारवार। अवसर = समय, मौका। पलक में = क्षण में, पल मे। कायकूं = किस लिये। भावै = अच्छी लगती है। समरि समरि = वरावर स्मर्ण करके।

नोट—यद्यपि यह पद हमारी 'अ' प्रति में एक स्थान पर लिखा हुआ है। किन्तु उस स्थान पर इस पद पर कोई क्रम संख्या नहीं है। मुद्रित पुस्तकों के पाठ से भी भिन्नता नहीं है अतः पाठान्तर नही दिये गये। यह पद

मुद्रित प्रतियों में क्रम संख्या १०० पर है। इस पद पर श्री कापडिया जी ने भी आनंदघनजी के होने में शंका की है।

अर्थ—ऐसा समय बार बार नहीं आवेगा ऐसा संयोग फिर फिर नहीं मिलेगा। अर्थात् यह मानव जन्म फिर नहीं मिलेगा। इसलिये जिस समय भलाई करने का अवसर हो उस समय भलाई करलो, जिससे जन्म जन्मांतरों में भी सुख प्राप्त हो ॥१॥

शरीर, धन-दौलत और यौवन अवस्था ये सब झूठे है, क्षणभंगुर हैं क्यों कि यह प्राण पल मात्र में ही उड जाता है ॥२॥

जब शरीर ही नहीं रहे तो धन किस काम आता है फिर किस लिये कृपण कहलाता है ॥३॥

जिसके हृदय में सत्य का निवास है, उसे झूठ कभी भी अच्छी नहीं लगती है ॥४॥

कविराज आनंदघनजी कहते हैं—मार्ग में चलते चलते बार बार आनंदघन प्रभु का स्मरण करके उनका गुणगान करले ॥५॥

८५ राग—वेलावल

दुल्हन री तूं बडी बावरी पिया जागे तूं सोवे ॥
पिया चतुर हम निपट, अग्यानी, न जानूं क्या होवे।
'आनंदघन' पिया दरस पियासे, खोल घूंघट मुख जौवे ॥१॥

नोट—यह पद हमारी किसी प्रति में नहीं है। मुद्रित प्रतियों में इसकी क्रम संख्या १६ है। श्री कापडियाजी ने इस पद को श्री आनंदघनजी की कृति होने में शंका की है। वास्तव में इस पद की भाषा और शैली आनंदघनजी की भाषा-शैली से भिन्न है अतः यह शंकास्पद है।

अर्थ—हे दुलहन-नई नवेली स्त्री ! (चतुर्थगुण स्थान में प्राप्त श्रद्धा, सम्यक्त्वी आत्मा) तू बडी ही पगली है क्यों कि तू जानती है कि पति बहुत ही कठिनता से मिलेगा तोभी तू तो सो रही है और पति जागरहा है। पति विभाव दशा में हैं।

दुलहन जवाब देती है मेरा स्वामी बहुत ही चतुर है और मैं बिल्कुल अज्ञानी हूं मै नहीं जानती कि मुझे क्या करना चाहिये।

आनद के समूह प्रियतम के दर्शनों के लिये यह दुलहन तृपातुर है। लाज शर्म को त्यागकर-घूंघट (परदा) हटाकर प्रियतम का मुख देखने लग गई। और आशा करने लगी कि अब यह प्रियतम मेरी ओर देखेंगे। (विभावदशा त्याग कर स्वभाव दशा में आवेंगे)।

शृंगार धारण ८६ राग–गौडी आसावरी

आज सुहागन नारी अवधू ॥
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अँग चारी ॥अवधू॥१॥
प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जीनी सारी।
महिंदी भक्त रंग की राची, भाव अंजन सुखकारी ॥अवधू॥२॥
सहज सुभाव चूरियां पेनी, थिरता कगन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पिय गुन माल आधारी ॥अवधू॥३॥
सुरत सिंदूर माँग रँग राती, निरतैं वेनी समारी।
उपजी ज्योत उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी ॥अवधू॥४॥
उपजी धुनि अजपाकी अनहद, जीत नगारे वारी।
झंडी सदा 'आनन्दघन' बरखत, बन मोर एकन तारी ॥अवधू॥५॥

(८६) यह पद मुद्रित प्रतियों में २० वीं संख्या पर है। भाषा-शैली आनन्दघन जी की न होने से शंकास्पद है। यहाँ थोडा पाठ भेद है वह दिया जाता है—चूरियां पेनी = चूरी मैं पेनी (क)। कंगन = कंकन (क.वि)। मोर एकन तारी = विन मोरे एक तारी (बु.)।

शब्दार्थ— सुध = खबर । अँगचारी = सहचरी, दासी । प्रतीत = विश्वास, आस्था । रुचि = चाह, इच्छा । जीनी = झीनी, वारीक, महीन । भारी= मूल्यवान । उर वसी = गले में पहिनने का एक आभूषण । उरमें = हृदय में । आवारी = धारण की । सुरत = स्मर्ण, शुद्ध उपयोग । राती = रक्त । निरतै= लवलीन, एकाग्रता । समारी = सुधारी, गूंथी । उद्योत = प्रकाश । आरसी = दर्पण । कारी = वना कर । धुनि = ध्वनि । झडी = मेघ धारा । एकन तारी= एक तार, एकाग्र होकर ।

अर्थ— चेतना चेतन से कह रही है—हे अवधूत –आत्मन्–हे अविनाशी चेतन ! आज आपने मेरे सुधि-खवर ली है, मैं वडी सौभाग्यशालिनी हूं कि आपने मुझे अपनी सहचरी—सेवा करने वाली वना ली है । ममता का साथ छोड कर आज आपने मुझे स्वीकार कर लिया है । इससे अधिक मेरा सौभाग्य क्या होगा ? ।।१।।

सौभाग्यशालिनी चेतना ने सद्गुणों के प्रेम व श्रद्धा के रंग में रंगी रुचिकर रंगवाली वारीक साडी पहन ली (पति के सद्गुणो में एक रस हो गई) । भक्ति रूपी राचनी मेंहदी लगाई और भाव रूपी सुखदायक अंजन (काजल) आंखों में लगाया ।।२।।

सहज स्वभाव रूप (ज्ञान दर्शन चारित्रादि) चूडियें और स्थरता रूप मूल्य वान कंगन हाथों में पहिने । ध्यान रूप उरवशी माला प्रियतम के गुणों से पिरोई हुई अपने गले में धारण की ।।३।।

अनुभव ज्ञान रूपी दर्पण में प्रतिविम्ब देख कर शुद्धोपयोग रूपी सुन्दर रंग वाला सिन्दूर मांग में लगाया और पति के गुणों में लवलीनता रूपी वेणी (चोटी) को सजाया । इससे हृदय में एक नवीन ज्योति का प्रकाश फैल गया ।।४।।

इस प्रकार श्रंगार करने के पश्चात् हृदय में अजपा जाप की ध्वनी उत्पन्न हो गई और अनहद नाद के विजय नगारे दरवाजे पर

वजने लगे। इससे आनन्द-मेघ की झडी लग गई और मन-मयूर उस आनन्द में एक तार हो गया—लव लीन हो गया ॥५॥

उपदेश ८७ राग–काफी

ए जिनके पाय लागरे, तुने कहिये ये केतो ।
आठोइ जाम फिरे मद, मातो, मोह निंदरियाशूं जागरे ॥तूने०॥१॥
प्रभु जी प्रीतम विन नहीं कोई प्रीतम, प्रभु जी नी पूजा घणी मांग रे ॥तूने०॥२॥
भव फेरा वारी करो जिनचंदा, आनन्दघन पाय लाग रे ॥तूने०॥३॥

(८७) यह पद मुद्रित प्रतियों में क्रम संख्या १०२ पर है। इस पद की भाषा-शैली आनन्दघन जी की भाषा-शैली से भिन्न है। जिस प्रकार से आनन्दघनजी ने अपने भाव अन्य पदों मे व्यक्त किये हैं, उस प्रकार इसमें नहीं है अतः यह पद उनका नहीं दिखाई देता। श्री कापडिया जी ने भी इसे शंकास्पद माना है। हमारे विचार में यह पद 'जिनदचं' नामक किसी कवि = का होना चाहिये।

शब्दार्थ—केतो = कितना। जाम = याम, प्रहर। निंदरियाशूं = नींद से। घणी = अधिक। माग रे = मांग ले। वारी = निवारण, दूर। पाय = पद, चरण।

अर्थ—हे मन तुझे कितना कहा, कितना समझाया, तू जिनेश्वर भगवान के चरणों में लग जा। आठों ही प्रहर—दिन—रात तू मोह—नींद में मस्त होकर फिरता है। अरे अब तो इस मोह—नींद से जागृत हो ॥१॥

यह जिनेश्वर देव ही सबसे प्रिय हैं इनके विना संसार में और कोई प्रियतम नहीं है। अतः इन प्रभुजी के चरणों की पूजा अधिक से अधिक याचनकर, उसमें लग जा ॥२॥

अरे जिनचंद आनन्द के समूह जिनेश्वर देव के चरणों में लग कर इस संसार के आवागमन को दूर कर ॥३॥

निराधार विरहिणी ८८ राग–सोरठ या रामेरी

निराधार केम मूकी, श्याम मुने निराधार केम मूकी।
कोई नहीं हूँ कुंणशूं बोलूं, सहु आलम्बन टूकी ॥श्याम०॥१॥
प्राण नाथ तुमे दूर पधार्‌या, मूकी नेह निरासी।
जंण जणना नित्य प्रति गुण गातां, जनमारो किम जासी ॥श्याम०॥२॥
जेहनो पक्ष लहीने बोलूं, ते मन मां सुख आणे।
जेहनो पक्ष मूकी ने बोलूं, ते जनम लगे चित ताणे ॥श्याम०॥३॥
बात तमारी मन मां आवै, कोण आगल जइ बोलूं।
ललित खलित खल जो ते देखूं, आम माल धन खोलूं ॥श्याम०॥४॥
घटें घटें छो अन्तरजामी, मुज मां कां नवि देखूं।
जे देखूं ते नजर न आवैं, गुणकर वस्तु विसेखूं ॥श्याम०॥५॥
अवधें केहनी वाटडी जोऊं, विण अवधें अति झूरूं।
'आनदघन' प्रभु वेगे पधारो, जिम मन आशापूरूं ॥श्याम०॥६॥

(८८) यह पद मुद्रित प्रतियों में क्रम संख्या ९४ पर है। यह पद भी शंकास्पद है। क्योंकि भाषा व शैली भिन्न है। इस पद को श्री बुद्धि सागर जी ने शंकास्पद माना है।

पाठान्तर— कोई नही ...वोलू = कोई न नेहु ने कुण सु वोलु (क)। लहीने = लईने (क)। तनारी = तुमारी (क)। देखू = देणु (बु)। केहनी = कहीनी (क)।

शब्दार्थ — निराधार = विना सहारे। केम = किस प्रकार, क्यों। कुणशू = किस से। मूकी = छोड़ी। सहु = मत्र। आलंबन = अवलंभ सहारा। टूकी = टूट गये। निराशी = निराश करके, ना उम्मीद करके। जण जणना = प्रत्येक व्यक्ति के। जनमारो = जीवन। जेहनो = जिसका। लहीने = लेकर। सुख आणे = सुख मानेगा प्रसन्न होगा। चित नाणे = मन में खिचा हुआ रहेगा, वैर रखेगा। तमारी = तुम्हारी। आगल = आगे, सन्मुख। जइ = जाकर। ललित = सुन्दर। खलित = स्खलित, पतित। खल = दुष्ट। श्राम = इस प्रकार। माल धन = सम्पत्ति, रहस्य। घटें घटें = प्रत्येक हृदय की। कां = क्या। गणकर = भलाई करने वाले। विसेखू = खास कर के। अवधे = अवधि, मियाद। वाटडी = मार्ग, प्रतीक्षा। भूरूं = दुःख उठाती हूँ, विलापात करती हूँ।

अर्थ— चौथे गुग स्थान से च्युत चेतन राज को दुखित सुमति या चेतना कह रही हैं—हे श्याम! हे नाथ! आपने मुझे बिना आधार (सहारे) के ही क्यों छोड दिया। मुझे निराधार छोडने का क्या कारण है। मेरा तो अब कोई नहीं है। मैं किससे हृदय खोल कर वात चीत करूं? मेरे तो सब अवलंबन (आश्रय) दूर हो गये है—भ्रष्ट हो गये है ॥१॥

हे प्राण नाथ! आप तो मुझे छोड कर दूर चले गये हो। (चौथे गुण स्थान से प्रथम गुण स्थान मे) मै आपके स्नेह (प्रीति) की प्राप्ति में निराश हो गई हूं। अब मैं क्या करूं। आपके बिना, आपके विरह में हर रोज हरेक के (मुझ से जिनका मेल नहीं—कुत्सित मनो-वृत्तियें) गुण गाते हुये मेरा जीवन किस प्रकार व्यतीत होगा? ॥२॥

हे प्राणनाथ चेतन ! मैं जिसका पक्ष लेकर बोलती हूं—जिस की तरफ दारी करती हूं वह तो मन में प्रसन्न होता है, जिसके विपक्ष में-विरोध में कुछ कहती हुं वही जीवन पर्यन्त वैर भाव रखने लगता है ॥३॥

(चेतन और सुमति या चेतना का अभेद है जहाँ चेतन है वहाँ चेतना है प्रथम गुणस्थान में गए हुए चेतन के साथी मिथ्यात्व को ही वढाते हैं। इसलिए चेतना कहती है कि इस अवस्था-मिथ्यात्व में प्राप्त हरेक (मनोवृत्ति) के अनकूल वोलती हूँ तो वे प्रसन्न होते हैं अर्थात् मिथ्यात्व वढता है और यदि विरोव में कुछ हूं कहती तो वे मनोवृत्तियाँ तन जाती हैं) ।

विरहिणी चेतना कहती है—हे स्वामिन् ! मेरे मन में तो आपके संवंध की ही वाते आती हैं। मैं आपकी याद जरा भी भूलती नहीं हूं। आपके विना आपकी वातें किसके आगे—सामने जाकर कहूं। सुन्दर और पतित दुष्टों को (पतित करने वाली मनो वृत्तियों को) अपने सामने जव देखती हूं तो उनके सम्मुख अपना रहस्य कैसे खोलूं ? (चेतन की जव सम्यक्त्व दृष्टि हो तभी मैं उससे अपना रहस्य कह सकती हूं) ॥४॥

हे स्वामिन् आप तो घट-घट के अन्तरयामी हैं किन्तु मैं तो अपने में आपके दर्शन कर पाती ही नहीं हूं। जव मैं अपने में देखने लगती हूं तो आप कहीं नजर ही नहीं आते हैं। मैं तो आपको गुणमय मानती हूं—ज्ञान दर्शनादिमय मानती हूं। वे गुण मुझे कहीं नजर नहीं आते हैं ॥५॥

हे नाथ ! कोई मुहूर्त वताकर जाते तो मैं आपकी संतोष से प्रतीक्षा करती—राह देखती रहती किन्तु आपने मुहूर्त-समय की

अवधि भी नहीं बताई इससे मैं विलापात करती हूं। (चौथे गुण-स्थान से प्रथम गुणस्थान में जाकर चौथे में आने का कोई निश्चित समय नहीं है, अतः चेतना—सुमति विलापात करती है) मेरी इस निराधार दशा को देख कर हे आनंद के समूह स्वामी ! आप जल्दी से जल्दी पधारो जिससे मेरे मन की आशा पूर्ण हो। (चेतन मिथ्यात्व त्यागकर सम्यक्त्वी होवे और क्षपक श्रेणी चढ कर शुद्धबुद्ध बने तो मेरी सब आशायें—अभिलाषायें पूर्ण हों) ॥५॥

मदन विजय **८९** **राग–सूरति टोडी**

प्रभु तो सम अवर न कोई खलक में।
हरि हर ब्रह्मा विगूते सो तो, मदन जीत्यो तें पलक में ॥प्रभु०॥१॥
ज्यों जल जग में अगन बुझावत, वडवानल सो पीये पलक में।
'आनंदघन' प्रभु वामारे नंदन, तेरी हाम न होत हलक में ॥प्रभु०॥२॥

(८९) यह पद मुद्रित प्रतियों में ८२वां पद है। श्री आनंदघनजी की चौवीसी प्रसिद्ध है। इस चौवीसी में उनके २२ही पद कहे जाते हैं। जिस शैली में चौवीसी के पद हैं। इस पद में वह शैली नही है। अतः यह पद उनका मानने में वाधा उपस्थिति है। संभव है यह पद किसी अन्य जैन कवि का हो और आनंदघनजी के नाम पर चढ गया हो।

शब्दार्थ—अवर = दूसरा। खलक में = संसार में। विगूते = असमंजस में डाल दिया, वुद्धि भ्रष्ट करदी। अगन = अग्नि। वडवानल = समुद्र की आग। हाम = हिम्मत, शक्ति हामी, स्वीकृति। हलक में = कंठ में। तेरी..... हलक में = तू अनिर्वचनीय है।

अर्थ—हे अश्वसेन राजा और वामा देवी के पुत्र पार्श्वनाथ प्रभो ! आपकी बराबरी करनेवाला इस संसार में दूसरा कोई भी

नहीं है। विष्णु, महादेव और ब्रह्मा ये तीनों महान् देव कहे जाते हैं। इन तीनों महान् देवों को कामदेव ने धर दबाया, भ्रष्ट कर दिया अर्थात् सरस्वती जो ब्रह्मा की पुत्री कही जाती है, उसे देखकर ब्रह्मा कामातुर हो गये, विष्णु लक्ष्मी के सहवास में सदा रहते हैं और महादेव भीलनी का रूप देखकर मोहित हो गये। इस प्रकार तीनों महान् देवों को कामदेव ने भ्रष्ट कर दिया। उस कामदेव को आपने हे प्रभो ! एक क्षणमात्र में विजय कर लिया—जीत लिया ॥१॥

संसार में जिस प्रकार अग्नि को जल—पानी शमन कर देता है—बुझा देता है और अग्निशामक जल को वडवानल एक क्षण में पी जाता है इसी प्रकार आपने भी कामाग्नि को पी लिया है—शमन कर लिया है। आनंदघनजी कहते हैं—हे वामा देवी के पुत्र पार्श्वनाथ भगवान ! आपकी शक्ति का वर्णन कंठों से नहीं कहा जा सकता है अर्थात् आपकी काम विजय शक्ति अनिर्वचनीय है। अर्थात् आपने जो ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया है उसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता है, वह अनिर्वचनीय है ॥२॥

बिरह व्यथित उद्गार ९० राग—मालसिरी

वारे नाह संग मेरो यूं ही जोवन जाय।
ए दिन हसन खेलन के सजनी, रोते रैन विहाय ॥वारे०॥१॥
नग भूषण से जरी जातरी, मो तन कछु न सुहाय।
इक बुद्धि जीय में ऐसी आवत है, लीजैरी विष खाइ ॥वारे०॥२॥
ना सोवत है लेत उसासन, मनही में पिछताय।
योगिनी हुय कैं निकसूं घर तैं 'आनंदघन' समजाय ॥वारे०॥३॥

(९०) मुद्रित प्रतियों का यह पद ३६वाँ है। भाषा-शैली श्री आनंदघनजी की भाषा शैली से भिन्न होने से शंकास्पद है।

शब्दार्थ—वारे = वाल, छोटे। रैन = रात्रि। विहाय = व्यतीत होती है। नग भूषण = आभूषण।

अर्थ –शुद्ध चेतना अपनी सखी समता से कह रही है— हे सखी ! छोटे पति के साथ (वालभाव छद्मस्थ अवस्था वाले चेतन के साथ) मेरा यह यौवन व्यर्थ ही जा रहा है। यह समय तो— यौवनावस्था तो हंसने खेलने मौज-मजा करने के दिन है किन्तु पति के छोटे होने के कारण मेरी रात्रि तो रोते रोते ही व्यतीत होती है। अर्थात् यौवन अवस्था रूप धर्म साधनाकाल तो हंसने-खेलने रूप ज्ञान ध्यान तप आदि करने का समय है। किन्तु यह समय चेतन प्रमाद-कषायों में व्यतीत कर रहा है। इस दुख से दुखित मेरी शांति रूप रात्रि रोते हुये वियोग में व्यथित व्यतीत हो रही है ॥१॥

क्षमा, शील, संतोष आदि रत्नों से जटित व्रत रूप आभूषण चेतन स्वामी के वालभाव में होने के कारण, अच्छे नहीं लगते है— व्यर्थ हो जाते हैं। ऐसी अवस्था से तो (चेतन के स्व-भाव अवस्था में नहीं आने से) मेरे मन में ऐसी आती है कि इस दुख से छुटकारा पाने के लिये विष पान करलूं ? ॥२॥

हे सखी ! मुझे सोना भी नसीव नहीं है। स्वामी के वालभाव से दुखित निश्वासे डालती रहती हूं और मन ही मन पश्चात्ताप करती रहती हूं। स्वामी चेतनराज पर-भाव दशा त्यागकर स्व-भाव दशा में नहीं आ रहे है। यह दुख मुझे वहुत वडा है। सखी ! उन आनंद के घर चेतनराज को समझाओ, नहीं तो मैं योगिनी बन कर घर से निकल जाऊंगी। कुछ भी करने योग्य नहीं रहूंगी ॥३॥

सच्ची लगन **६१** **राग–ईमन**

लागी लगन हमारी, जिनराज सुजस सुन्यो मैं ॥लागी०
काहूके कहे कबहू नहि छूटे, लोकलाज सब डारी।
जैसे अमली अमल करत समें, लाग रही ज्यूं खुमारी ॥जिन०॥१॥

जैसे योगी योग ध्यान में, सुरत टरत नहिं टारी।
तैसे 'आनंदघन' अनुहारी, प्रभु के हूँ बलिहारी ।।जिन०।।२।।

(९१) मुद्रित प्रतियों में इस पद की संख्या ८४वीं है। यह पद भी शंकास्पद है, क्योंकि इस पद की भाषा-शैली आनंदघनजी की भाषा-शैली से भिन्न है।

पाठान्तर—कबहू = कबही (बु.)। नहि = न (बु.) डारी = मारी (त्रि)

शब्दार्थ—लगन = दृढ़ प्रीति। अमली = अफीम खाने वाला, नशाबाज। अमल = अफीम खाना। समे = समय। खुमारी = नशे का प्रभाव। सुरत = स्मरण की तल्लीनता। टरत = टालने प भी, दूर करने पर भी। अनुहारी = अनुरूप, समान, अनुकरण करने वाला, अनुसरण करने वाला।

अर्थ—हे जिनराज! हे जिनेश्वर देव! मैंने जब से आपका सुयश सुना है—आपकी विषय-कषायों की विजय और मैत्री प्रमोद, कारुण्य तथा मध्यस्थ भावना के संबंध में सुना है तब से ही मेरी दृढ प्रीति आप में लग गई है।

यह आप में लगी हुई मेरी लगन किसी के कहने से भी नहीं छूट सकती है। इस आपकी प्रीति के पीछे मैंने सब लोक लज्जा का त्याग कर दिया है। जिस प्रकार अफीम का नशा करने वाले पर नशा करते समय, नशे का प्रभाव बढता जाता है, उसी प्रकार मेरी लगन आप में बढती जा रही है।।१।।

जिस प्रकार योग मुद्रा में ध्यानस्थ योगी की स्मर्ण में लगी तल्लीनता दूर करने पर भी दूर नहीं होती है, उसी प्रकार आनंदघन प्रभु जिनेश्वर देव में लगी हुई मेरी लगन (दृढ प्रीति) अमली और योगी की तल्लीनता की अनुसरण करने वाली है। जिस आनंद की वर्षा करने वाले प्रभु में मेरी लगन लगी हुई है उस प्रभु की मैं बार-

वार वलिहारी हूं अर्थात् में उन पर आत्मोत्सर्ग करता हूं। उनके अनुरूप वनना चाहता हूं ॥२॥

बालपति एवं स्वार्थी कुटुम्ब ९२ राग—धनाश्री

अरी मेरो नाहेरी अतिवारो, मैं ले जोवन कित जाऊं।
कुमति पिता बँभना अपराधी, नउवा है वजमारो ॥अरी०॥१॥
भलो जानि के सगाई कीनी, कौन पाप उपजारो।
कहा कहिये इन घर के कुटुम्ब ते, जिन मेरो काम विगारो
॥अरी०॥२॥

(९२) यह पद मुद्रित प्रतियों में ९६वीं संख्या पर है। इस पद में आनंदघनजी का नाम नहीं है। भाषा और शैली भी भिन्न है अतः शंकास्पद है। इस पद को श्री कापडियाजी भी शंकास्पद मानते हैं।

पाठान्तर—नउवा है वजमारो = न उवाहै व जमरो (क), नउ वाहै व जमारो (बु.)।

शब्दार्थ—नाहेरी = पति, प्रथम गुणस्थान वाला चेतन। अतिवारो = अत्यन्त छोटा। कित = कहां। नउवा = नाई। वजमारो = वज्र गिरे सिर पर। सगाई = संवंध। उपजारो = उत्पन्न हुआ, प्रकट हुआ। विगारो = विगाड दिये, नष्ट कर दिये।

अर्थ—अंतरमुखी शुद्ध चेतना कह रही है-अरी सखी समता! मेरा पति तो अत्यन्त ही छोटा है अर्थात् प्रथम गुणस्थान में ही है। मैं अपनी यह यौवन अवस्था (धर्म साधन का समय) लेकर कहाँ जाऊँ? मेरे पिता (सम्यक्त्व) की बुद्धि पर तो पडदा छा गया। वह संवंध कराने वाला पुरोहित ही अपराधी है। उस नाई के सिर पर वज्र गिरो जिसने यह संवंध जुड़ाया है—मिलाया है। अर्थात् सम्यक्त्व

से च्युत करने वाले विचार तथा शुभ अध्यवसायों से दूर हटाने वाली वृत्तियों पर वज्र गिरो जिन्होंने मेरा संबंध अशुद्ध चेतन से कराया है ॥१॥

मेरे पिता सम्यक्त्व और माता श्रद्धा ने तो चेतन को भला व्यक्ति (अनंत ज्ञान दर्शन चारित्र का धनी) समझ कर ही संबंध किया था किन्तु अब यह कौनसा पाप उदय में आया है। अशुद्ध चेतन के परिवार वाले लोगों (कषायादि) को क्या कहा जाये—क्या उपालंभ दिया जावे; इन्होंने तो मेरा सारा ही कार्य बिगाड़ दिया है। अर्थात् मुझे चेतन से मिलने ही नहीं दिया जाता है। मैं चेतन को अपनी ओर खेंचती हूं—शुद्धता की ओर (ज्ञान दर्शन चारित्र तप की ओर) लाना चाहती हूं किन्तु ये दुष्ट कुटुम्बी (कषायादि) चेतन को छोडते ही नहीं हैं। इस दुख से व्यथित हो रही हूं। चेतन को शुद्ध बुद्ध बनाने वाली क्षमता रूप जवानी को लेकर मैं कहाँ जाऊँ ? ॥२॥

ऋषभ देव स्तुति ९३ राग—आसावरी

मनु प्यारा मनु प्यारा रिखभदेव प्रभु प्यारा ॥
प्रथम तीर्थंकर प्रथम नरेसर, प्रथम यतिव्रत धारा ॥रिखभ०॥१॥
नाभिराया मरुदेवी को नंदन, जुगला धर्म निवारा ॥रिखभ०॥२॥
केवल लही मुगते पोहोंता, आवागमन निवारा ॥रिखभ०॥३॥
'आनंदघन' प्रभु इतनी विनती, आ भव पार उतारा ॥रिखभ०॥४॥

(९३) यह पद मुद्रित प्रतियों में १०१वां पद है। भाषा शैली की भिन्नता होने से यह पद शंकास्पद है। इस पद को श्री कपाडिया जी भी शंकास्पद मानते हैं।

शब्दार्थ—मनु = मन को। नरेसर = राजा, नरेश्वर। तीर्थंकर = तीर्थ—साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका तीर्थों की स्थापना करने वाले। यतिव्रत =

साधुव्रत । नंदन = पुत्र । जुगला धर्म = युगलिया धर्म, एक साथ जोडा उत्पन्न होने वाला नियम । निवारा = निवारण करने वाले, दूर करने वाले । केवल = केवलज्ञान । लही = प्राप्त कर । पोहोंता = पहुंचे । आवागमन = आना जाना, जन्ममरण । भव = संसार ।

अर्थ—मेरे मन को भगवान ऋषभदेव बहुत ही प्यारे लगते हैं। वे भगवान ऋषभदेव सबसे प्रथम होने वाले प्रथम तीर्थंकर (तीर्थों की स्थापना करने वाले) हैं। सबसे प्रथम होने वाले राजा है। उन्होंने ही सर्वप्रथम साधु व्रतो को धारण किया है, स्वीकार किया है ॥१॥

वे ऋषभदेव भगवान महाराजा नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र हैं। उन्होंने ही एक साथ जोडा (पुत्र पुत्री) उत्पन्न होने के नियम का निवारण किया है ॥२॥

भगवान ऋषभदेव ने साधु व्रतों का पालन कर केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त की और संसार में आने-जाने का क्रम दूर किया है ॥३॥

आनंदघनजी प्रार्थना करते हैं हे ऋषभदेव भगवान ! मेरी इतनी ही विनय है कि मुझे इस संसार के पार उतार दो। मुझे भी जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा दिला दो ॥४॥

निजमन उद्‍बोधन ९४ राग—केरबो

प्रभु भजले मेरा दिल राजी रे ॥प्रभु०॥

आठ पहोर की साठज घडियां, दो घडियां जिन साजी रे ॥प्रभु०॥१॥

दान पुण्य कछु धर्म करले, मोह माया कूं त्याजी रे ॥प्रभु०॥२॥

"आनंदघन' कहे समज समज ले, आखर खोवेगा बाजो रे॥प्रभु०॥३॥

(९४) यह पद मुद्रित प्रतियों में १०३वां पद है। यह पद भी भाषा-शैली भिन्न होने से शंकास्पद है। श्री कापड़ियाजी भी इसे शंकास्पद मानते हैं।

पाठान्तर—साठज = चोसठ (का.)।

अर्थ—हे चेतन ! हे मेरे मन ! तू प्रभु जिनेश्वरदेव का भजन कर, स्मर्ण कर, इससे—स्मर्ण करने से प्रसन्नता प्राप्त होगी।

दिन-रात के आठ प्रहर होते हैं और आठ प्रहर में आठ घड़ियां (एक घडी २४ मिनिट की) होती है। इन साठ घड़ियों में से कम से कम दो घडी (एक मुहुर्त) तो तू श्री जिनेश्वरदेव की भक्ति-भावना में लगा ॥१॥

अरे चेतन मेरे ! मोह माया को छोड़ कर—संसार के भ्रमजाल को छोड़कर—कुछ दान-पुण्य कार्य और आत्म शुद्धि के लिये धर्म कार्य करले ॥२॥

आनंदघनजी कहते हैं—हे चेतन ! अच्छी तरह सोच विचार करले, यदि तूने दान पुण्य और धर्म नहीं किया तो अन्त में मानव भव की बाजी खो बैठेगा—मनुष्य जन्म व्यर्थ चला जायेगा ॥३॥

श्री आनंदघनजी के पदों में अन्य कवियों के वे पद जो 'आनंदघन' नाम की छाप के हैं और हमारी प्रतियों में भी है। यहाँ मूल मात्र दिये जाते हैं—

दिव्य प्रकाश में भवान्तर दर्शन ९५ राग—मारू

व्रजनाथ से सुनाथ बिन हाथोंहाथ विकायो।
बीचको कोउ जन कृपाल, सरन नजरि नायो ॥टेक॥
जननी कहुं जनक कहुं, सुत सुता कहायो।

भाई कहुं भगिनी कहुं, मित्र शत्रु भायो ॥व्र०॥१॥

रमणी कहुं रमण कहुं, राउ रज तुलायो ।
सेवक पति इन्द चन्द, कीट भृंग गायो ॥व्र०॥२॥

कामी कहुं नामी कहुं, रोग भोग मायो ।
निसपति धरि देह गेह विविध विधि धरायो ॥व्र०॥३॥

विधि निषेध नाटक धरि, भेष ठाट छायो ।
भाषा षट् वेद चारि, सांग सुध पठायो ॥व्रज०॥४॥

तुम्ह से गजराज पाइ, गर्दभ चढि धायो ।
पायस सुगृह को विसारि, भीख नाज खायो ॥व्रज०॥५॥

लीला मुँह टुक नचाइ, कहौ जु दास आयो ।
रोम रोम पुलकित हुं, परमलाभ पायो ॥व्रज०॥६॥

(९५) पाठान्तर—विन = विण (आ) । हाथों हाथ = हाथ हाथ (आ), हाथां हाथ (उ) । जन = जिन (उ) । नजरि = नजर (अ), निज (उ) । कहुं = कहीं (अ), कहूं (उ) । रमण = रमणि (आ) । राउ = राव (अ), रहूं (उ) । मायो = गमायो (उ) । विधि = विध (आ) । नाटक = नाटिक (उ) । ठाट = ठाठ (अ) = वाट (उ) । सुगृह = सुंगको (उ) । लीला = जीला (उ) भुँह = मुँह (आ) । जु = ज (उ) । दास = दीस या यौ (उ) । पुलकित हुं = पुलकित कहुं (आ),

शब्दार्थ—जन = भक्त व्यक्ति । जननी = माता । जनक = पिता । सुत = पुत्र । सुता = पुत्री । भगिनी = वहिन । भायो = हुआ । रज = मिट्टी । तुलायो = तुलना किया गया । कीट = कीडा । भृंग = भंवरा । मायो = समाया हुआ, लिप्त । निसपति = सम्बन्ध, विवाह । गेह = घर । धरायो = पकडा गया, बद्ध हुआ, धारण किया । ठाट = वनाव-शृंगार, तडक भडक । भाषा षट = छै भाषा । संस्कृत, महाराष्ट्री, सौरशेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश ।

सांग = स्वांग। सुध = शुद्ध। पठायो = भेजा। गजराज = हाथी। गर्दभ = गधा। पायस = खीर। बिसारि = भूलकर नाज = अन्न। लीला = कौतुक से। भुँह = भौंहे। टुक = थोड़ा।

पद सं० ९५वां—'व्रजराज से.....' 'अ' प्रति में ११वां, 'आ' में ९वां और 'उ' में १८वां पद है। 'इ' प्रति में यह पद नहीं हैं।

पतित की पुकार ९६ राग--झिंझोरी दादरा

हरि पतित के उधारन तुम्ह, कैसो पावन नामी।
मोसो तुम्ह कब उधार्यो, क्रूर कुटिल कामी ॥ह०॥१॥

और पतित केइ उधारे, करनी छिन करता।
एक काहू नाम लेहु. झूठे विरद धरता ॥ह०॥२॥

करणी करि पार भये, बहुत निगम साखी।
सोभा दई तुम्ह को नाथ, आपनी पत राखी ॥ह०॥३॥

निपट अगति पापकारी, मोसो अपराधी।
जानुं जो सुधारि होऽब, नाव लाज साधी ॥ह०॥४॥

और को उसांपक हौं, कैसे के उधारौं।
दुविधा यह रावरी न, पावरी विचारौं ॥ह०॥५॥

गई सो गई नाथ, फेरि नई कीजै।
द्वारि पर्यो ढींगदास, आपनो करि लीजै ॥ह०॥६॥

दास को सुधारि लेहु, बहुत कहा कहीयै।
'आनंदघन' परम रीति, नांव की निबहियै ॥ह०॥७॥

पद सं० ९६वें 'हरि पतितन.....' 'अ' प्रति में १०वां, 'आ' प्रति में १०वां, 'इ' प्रति में ७०वां और 'उ' प्रति में ७८वां

पद है। मुद्रित प्रतियों में इन दोनों पदों का एक ही पद है जिसकी संख्या ६३ है।

(६६) **पाठान्तर**—कैसो.....नामी = कहै सो पीवत मामी (आ), कहै सो पीतम मामी (उ)। कव = कवन (इ,उ)। उधार्‌यो=उधार्‌या (इ.उ)। कामी= कानी (इ.उ)। विन = विण (आ), विनु (इ)। विरद = विरुद (इ.उ)। दई = हुइ (अ), ई (इ), 'उ' में यह शब्द नहीं है। आपनी = अपनी (उ)। पत = पति (अ)। निपट = निकट (उ)। अगति = अग्यानी (अ), अगनि (इ), अननि (उ)। अपराधी = अपराधि (आ), अपाराधि (इ)। सुधारि होंऽव = सुधारि हौं (अ), सुधाविह (इ.उ), नाव लाज = नाउ लाल (आ), नाव दला जस (उ)। और = उर (उ)। हौं = हु (आ)। उधारों = उधारूं (आ)। दुविधा..... न = दुविधा यह रावरी नई (आ), दुवि दुविधा यह रावतीन (इ.उ)। विचारीं = विचारूं (आ)। नई = नई न (अ)। द्वारि = द्वारे (इ.उ)। ढींगदास = ढीठदास (आ,इ), ढीदास (उ)। आपनो = अपनो (अ)। करि लीजै = कलीजै (आ), सुख संपति दीजै (इ,उ.)। बहुत = बहोत (इ)। नाव = नांउ (अ), नाऊ (इ.उ)।

शब्दार्थ—कैसो = कैसा। पावन = पवित्र। निगम = वेद। विरद = विरुद, प्रसिद्धि, यश। पत = प्रतिष्ठा। पावरी = कुछ तो। ढींगदास = दुष्ट, कुमार्गी, पापी। नांव = नाम। निवहीये = पालन कीजिये।

ये दोनों पद ब्रज भाषा में है। श्री आनंदघनजी की भाषा' ब्रज' नहीं है, राजस्थानी है। दोनों पद जैन मान्यता से मेल नहीं खाते हैं। जैन दर्शन ईश्वर को सुख दुख देने वाला, पाप–पुण्य का फल देने वाला नहीं मानता है। आत्मा स्वयं के सुख-दुख की कर्त्ता है, पाप-पुण्य की भोक्ता है और स्वयं के ही पुरुषार्थ से इनसे छुटकारा प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध बन जाती है, ऐसा मानता है। इन दोनों पदों में ही 'ईश्वर' से भक्त प्रार्थना कर रहा है कि मुझ पापी का भी उद्धार अपने नाम के विरुद्ध को ध्यान में

रखकर कर दीजिये। श्री आनंदघनजी के किसी भी पद में इस तरह का किंचित भी संकेत नहीं है और न जैन दर्शन की यह मान्यता है कि ईश्वर ही पापियों का उद्धार करता है। अतः ये दोनों पद आनंदघनजी के नहीं हो सकते हैं। ये दोनों पद किसी व्रज भाषा के टकसाली भक्त कवि के हैं। बहुत संभव है ये दोनों पद महात्मा सूरदासजी के हों क्योंकि इन की शैली और भाषा उन से मिलती है। सूरसागर बहुत बड़ा ग्रंथ है उसमें से खोज निकालना इस समय संभव नही है। फिर पुराने संस्करण हर जगह उपलब्ध भी नहीं है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ये पद आनंदघनजी के नहीं हैं।

गुरुगम मताग्रह व आशाजय ९७ राग--आशावरी

अवधू राम नाम जग गावै, विरला अलख लखावै ॥

मतवाला तो मत में माता, मठवाला मठ राता।
जटा जटाधर पटा पटाधर, छता छताधर ताता ॥अवधू०॥१॥

आगम पढि आगमधर थाके, मायाधारी छाके।
दुनियाधार दुनी सो लागे, दासा सब आसा के ॥अवधू०॥२॥

बहिरातम मूढा जग जेता, माया के फंद रेता।
घट अन्तर परमातम भावै, दुरलभ प्राणी तेता ॥अवधू०॥३॥

खगपद गगन मीन पद जल में, जो खोजे सो बोरा।
चित 'पंकज' खोजै सो चीन्है, रमता अंतर भँवरा ॥अवधू०॥४॥

पाठान्तर—मतवाला = जा मतवाला (उ)। पटाधर = दटाधर (उ)। छता = राजा (उ)। माया = माया (उ)। दुनी = दुनियाँ (उ)। रेता = राता (उ)। घट = घर (उ)। परमातम = वरमातम (उ)।

दुरन्भ = दुरल (आ), दुर्लभ (अ,उ.)। खोजै = खोलै (आ), चोले (उ)। चीन्है = चीने (उ)। अंतर = आनंद (इ)। भँवरा = भौंरा (इ), अंतर रमता भमरा रे (उ)।

शब्दार्थ—विरला = कोई। अलख = अलक्ष (ब्रह्म) में ध्यान लगाने वाला। राता = अनुरक्त। पटाधर = सिंहासन वाले। छताधर = छत्र धारन करने वाले। ताता = तप्त। दुनी = संसार। रेता = रहता है। तेता = ऐसे। गगन = आकाश। वोरा = पागल।

यह पद 'अ' प्रसि में ८१वां, 'आ' प्रति में २८वां, 'इ' प्रति में २०वां, और 'उ' प्रति में १३वाँ तथा मुद्रित प्रतियों २७वां पद है। मुद्रित प्रतियो में और 'इ' प्रति में आनंदघनजीं का पूरा नाम नहीं है। केवल 'आनंद' नाम है। अ, आ, और उ प्रतियों में आनंदघनजी का नाम नहीं है और न आनंद शब्द ही है, इसके स्थान पर 'अंतर' शब्द है जो समीचीन लगता है। अतः यह पद आनंदघनजी का नहीं है। यह पद, 'पंकज' नामधारी कवि का है। जैसा कि पद की अंतिम पंक्ति में "चित 'पंकज' खोजै" में स्पष्ट दिया है। संग्रहकर्त्ता ने 'आनंद' नाम देखकर ही इस पद को आनंदघनजी का समझने की भूल की है। आनंदघनजी के किसी पद में भी 'आनंद' शब्द अपने नाम के लिये उपयोग नहीं किया है।

श्री कृष्ण के रूप में इष्ट दर्शन **९८** **राग—सोरठ मुलतानी, नट रागिणी, सहेलो**

साइडां दिल लगा बंसीवारे सुं, प्राण पियारे सुं ॥
मोर मुकट मकराकृत कुंडल, पीतांबर पटवारे सुं ॥सा०॥१॥
चंद्र चकोर भये प्रान पपइया, नागरि नंद दुलारे सुं।
इन सखा के गुण ग्रंधप गावैं, 'आनंदघन' उजियारे सुं ॥सा०॥२॥

(९८) पाठान्तर—साइडां = सारा (क. बु.)। पपइया = पपैया (क), पपईया (बु.)। दुलारे = डुलारे (बु.)। सखा = सखी (क. बु.)।

शब्दार्थ—मोरमुकट = मयूर के पंखों का ताज। मकराकृत = मगर के आकार का। कुंडल = कान में पहिनने का एक जेवर। पीताम्बर = पीले वस्त्र। पटवारे = वस्त्र वाले। नागरि = चतुर। ग्रंधप = गंधर्व।

यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति में ही है जिसकी संख्या ६ है और मुद्रित प्रतियों में ५३ वीं संख्या पर है। जैन महात्मा के लिये श्री कृष्ण का उपासक होना असंभव है। इस पद की भाषा व्रज है और शैली आनंदघनजी के पदों की शैली से मेल नहीं खाती है। अतः यह पद जैन महात्मा आनंदघनजी का नहीं है। 'आनंदघन' नामक एक भक्त कवि और हुये हैं जिनकी पदावली तथा कुछ और ग्रंथों को प्रकाश में श्री विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र 'घनानंद और आनंदघन' नामक ग्रंथ में ला चुके हैं। इस पुस्तक के पृ० २६१ पर पद सं० २८६ ऊपर के पद मे कुछ कुछ मिलती है। अतः यह पद उन भक्त कवि आनंदघनजी का मान लेने में कोई आपत्ति दृष्टिगत नहीं होती। पूरा पद इस प्रकार है—
राग–ईमनकाफी

मन लाग्यौ री वंसीवारे सों, व्रजमोहन छवि गतिवारे सों।
दृग चकोर भए प्रान पपीहा, आनंदघन उजियारे सों॥

संग्रहकर्त्ता ने तो आनंदघन का नाम देख कर ही जैन महात्मा आनंदघन का पद समझकर आनंदघन जी के पदों में संमिलित कर दिया किन्तु वास्तव में यह पद कोई पंत्ति किसी की, कोई पंक्ति किसी की लेकर जन मुख पर चढ़ गया प्रतीत होता है। इस पद' में सारा दिल लागा वंसीवारेसु" तो "मन लाग्योंरी वंसीवारे सों" का प्रतिविम्ब है। "मोर मुकट आदि पद किसी अन्य कवि के पद से लिये हुये प्रतीत होते है। अंतिम पंक्ति "आनंदघन उजियारे सु" भक्ति कवि आनंदघन से मिलती ही है अतः यह पद जैन महात्मा आनंदघनजी का नही होसकता।

प्रिया प्रालाप | ९९ | राग–कान्हरो

भमरा किन गुन भयो रे उदासी।
पंख तेरी कारी मुख तेरा पीरा, सब फूलन को वासी ॥१॥
सब कलियन को रस तुम लीनो, सों क्यूं जाय निरासी।
'आनंदघन' प्रभु तुम्हारे मिलनकुं जाय करवत ल्यूं काशी ॥२॥

(९९) पाठान्तर—तुम्हारे = तुमरे (इ. उ. क. हु.) भमरा = यह शब्द अन्य प्रतियों में 'उदासी' शब्द के पश्चात है।

शब्दार्थ —भयो = हुआ। वासी = बसने वाला। निरासी = निराश, अनासक्त।

यह पद हमारी 'अ' प्रति में २८ वां, 'इ' प्रति में ७७ वां, 'उ' प्रति में ८१ वां तथा मुद्रित प्रतियों में १०६ वां पद है। इस पद की भाषा की ओर दृष्टि दें तो यह भाषा आनदघनजी की चौवीसी और उनके अनेक पदों से नहीं मिलती है। यह भाषा तो निर्गुण पंथी कबीर आदि की भाषा जैसी है। शैली भी वैसी ही है। साथ ही एक बात इस पद में और है। इस पद की अंतिम पंक्ति में 'काशी करवत' लेने का उल्लेख जैन दर्शन के अनुकूल नहीं है। जैन दर्शन इस प्रकार की आत्महत्या को प्रश्रय नहीं देता है। इस प्रकार की क्रियायें जैन सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। आनंदघनजी जैसे विद्वान वैराग्य भावना से ओतप्रोत संत की लेखनी से इस प्रकार आत्महत्या को मुक्ति-साधन प्रचारित किया जाना असंभव है। अतः यह पद आनंदघनजी का नहीं है।

अब इससे आगे वे पद दिये जा रहे हैं जो हमारी किसी प्रति में नहीं है और मुद्रित प्रतियों में है किन्तु वे पद आनंदघनजी के नहीं है, अन्य कवियों के हैं।

१०० राग–सारंग या आशावरी

अब हम अमर भये न मरेंगे ।
या कारण मिथ्यात दियो तज क्यु ं कर देह धरेंगे ॥अब०॥१॥
राग दोस जग बंध करत हैं, इन को नास करेंगे ।
मर्‌यो अनंत काल ते प्राणी, सो हम काज हरेंगे ॥अब०॥२॥
देह निवासी हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे ।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे है निखरेंगे ॥अब०॥३॥
मर्‌यो अनंत बार बिन समझे अब सुख दुख विसरेंगे ।
'आनंदघन' निपट निकट अक्षर दो, नहि समरे सो मरेंगे ॥अब०॥४॥

पाठान्तर—सारंग या आशावरी = आसावरी (द्या)। क्यु ं = क्यों (द्या)। कर = करि (द्या)। मर्‌यों''''हरेंगे = उपजै मरै काल तें प्रानी, ताते काल हरेंगे (द्या), यह पंक्ति द्यानंतरायजी के पद में दूसरे पद की पहिली पंक्ति है और दूसरी पंक्ति, इस पद की पहिली पंक्ति है। हूँ = मै (द्या)। अपनी गति = भेद ज्ञान (द्या)। मर्‌यो = मरे (द्या)। सुख दुख = सब सुख (द्या)। आनंदघन = द्यानत (द्या)। नहि''''मरेंगे = बिन सुमरे सुमरेंगे गे (द्या)।

यह पद द्यातनरायजी का है। द्यातन विलास में पद संख्या ८८ पर हैं। संग्रहकर्त्ता के दोष से आनंदघनजी के पदों में सम्मिलित कर लिया गया है। यह पद श्री भीमसिंह माणक, श्री कापडियाजी, तथा श्री बुद्धिसागरजी की पुस्तकों में संख्या ४२ पर है। हमारे पास वाली किसी प्रति में नहीं है।

१०१ राग–आशावरी

अवधू ऐसो ज्ञान विचारी, वामें कोण पुरुष कोण नारी ॥अवधू०॥

बम्मन के घर न्हाती धोती, जोगी के घर चेली ।
कलमा पढ पढ भई रे तूरकडी, तो आप ही आप अकेली ॥अव०॥१॥

ससरो हमारो बालोभोलो, सासू बाल कुमारी ।
पियुजी हमारो पोढे पारणीये, तो मैं हुँ झुलावन हारी ॥अव०॥२॥

नहीं हुं परणी नही हुं कुंवारी, पुत्र जणावन हारी ।
काली दाढी को मैं कोई नहीं छोड्यो, तो हजु हुं बाल कुमारी
॥अव०॥३॥

अढी द्वीप में खाट खटूली, गगन ओशीकुं तलाई ।
धरती को छेडो आभकी पिछाडी, तोय न सोड भराई ॥अव०॥४॥

गगन मंडल में गाय वीआणी, वसुधा दूध जमाई ।
सउरे सुनो भाई बलोणूं बलोवे, तो तत्व अमृत कोई पाई
॥अवधू०॥५॥

नहीं जाउं ससरीए ने नहीं जाउं पीयरीए, पीयुजी की सेज बिछाई ।
'आनंदघन' कहे सुनो भाई साधु, तो ज्योति में ज्योति मिलाई
॥अवधू०॥६॥

(१०१) शब्दार्थ—विचारी = विचारो । बम्मन = ब्राह्मण । न्हाती धोती = स्नान आदि करती । बालोभोलो = भोला मनुष्य, भद्रीक, सीधासाधा । पियुजी = प्रिय, पति । पोढे = सोते हैं । पारणीये = पालन में, झूले में । परणी = विवाहिता । पुत्र = लडका, अहंकार । काली दाढी = युवक, कामासक्त । हजु हुं = अभी तक । अढीद्वीप = मनुष्य लोक । खाट = पलंग । खटूली = शय्या । ओशीकुं = तकिया । तलाई = बिछावण । छेडो = धोती । आभ = अकाश । पिछोडी = पछेवडी, ओढने का खादी का वस्त्र ।

सोड = मोटी रजाई। तोयन = तोभी। वियाणी = प्रसूता हुई, बच्चा बच्ची दिया। वलूणो = विलोवना, जमा हुआ दही। वलोवे = मथना, विलोना। सासरिये = ससुराल, पति का घर। पीयरीये = पिता का घर।

यह पद मुद्रित प्रतियों में किसी में ९८वां और किसी में ९९वाँ पद है। इस पद की भाषा संत कबीर की भाषा से मिलती है साथ ही शैली भी। इसके अतिरिक्त "आनन्दघन कहे 'सुनो भाई साधो" इस प्रकार से-आनन्दघनजी ने-प्राप्त पदों में कहीं भी-नहीं लिखा है। यह शब्दावली तो केवल कवीर की है। कवीर ने स्थान स्थान पर अपने पदों में 'कहत कवीर सुनो भाई साधो' लिखा है। अतः यह पद सन्त कवीरदास का है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के कवीर नामक ग्रंथ में पृ० ३०१ पर—इस पद की प्रथम पंक्ति-'अवधू ऐसो ज्ञान विचारी'-पद संख्या ११९ की पंक्ति है—"अवधू ऐसा ज्ञांन विचारं"। इसके आगे की पंक्तियां 'कवीर' के पद संख्या ११८ की है। इस पद की पंक्तियां हैं—

'बूझहु पंडित, कबहु विचारी, पुरुष अहै की नारी।
बाम्हन के घर वाम्हनि होती, योगी के घर चेली॥
कलमा पढि पढि भई तुरकिनी, कलि में रही अकेली।
वर नहि वरै व्याह नहिं करई, पुत्र जन्म होनि हारी॥
कारे मूडे एक नहि छाँडै, अव ही आदि कुंवारी।
रहै न मैके जाइ न ससुरे सांइ के संग सोवे॥'

इसी प्रकार और पंक्तियाँ किसी दूसरे पद की हैं। लोक गायकों ने "किसी की ईंट किसी का रोडा, भानमती ने कुनवा जोडा" के अनुसार पद को वना कर आनन्दघनकी का नाम रखकर उनका पद प्रसिद्ध कर दिया है। वास्तव में यह पद आनन्दघनजी का नहीं है। यह पद कवीरदासजी का है। कवीर ग्रंथावली पृ० १६६ पद ३२१ वीजक शब्द ४४।

१०२ राग–आशावरी

अवधू वैराग बेटा जाया, याने खोज कुंटंब सब खाया ।।अवधू०।।

जेणे माया ममता खाई, सुख दुख दोनों भाई ।
काम क्रोध दोनो कुं खाइ, खाई तृष्णा वाई ।।अवधू०।।१।।

दुरमति दादी मत्सर दादा, मुख देखत ही मुआ ।
मंगल रूप वधाई वांची, ए जब बेटा हुआ ।।अवधू०।।२।।

पाप पुण्य पडोसी खाये, मान लोभ दोउ मामा ।
मोह नगर का राजा खाया, पीछे ही प्रेम ते गामा ।।अवधू०।।३।।

भाव नाम धर्यो बेटा को, महिमा वरण्यो न जाई ।
'आनन्दघन' प्रभु भाव प्रकट करो, घट घट रहो समाई ।।अवधू०।।४।।

(१०२) शब्दार्थ—जाया = उत्पन्न हुआ, जन्म लिया । याने = इसने । जेणे = जिसने । दुरमति = कुबुद्धि । मत्सर = ईर्षा, गर्व, । दादा दादी = पिता के पिता और मां । मुआ = मर गये, मृत्यु को प्राप्त हो गये । वाँची = गवाई गई, मांगलिक गाने किये । पीछे ही = तत्पश्चात । गामा = चला गया । समाई = व्याप्त ।

यह पद मुद्रित प्रतियों में १०५वां पद है । यह पद श्री आनन्दघनजी का नहीं है । महाकवि बनारसीदासजी आगरे वाले के 'बनारसी विलास' में यह पद पृ० २५० पर इस प्रकार है :—

मूलन बेटा जायो रे साधो, मूलन, जाने खोज कुटंब सब खायो रे
।।साधो।।मूल०।।

जन्मत माता ममता खाई, मोह लोभ दोइ भाई ।
काम क्रोध दोइ काका खाये, खाई तृष्णा दाई ।। साधो०।।१।।

पापी पाप परोसी खायो, अशुभ करम दोइ मामा।
मान नगर को राजा खायो, फैल परो सब गामा ॥साधो०॥२॥

दुरमति दादी....दादो, मुख देखत ही मूआ।
मंगलाचार वधाये वाजे, जब यो बालक हूओ ॥साधो०॥३॥

नाम धर्यो बालक को सूधो, रूप वरन कछु नाहीं।
नाम धरंते पांडे खाये, कहत 'वनारसी' भाई ॥साधो०॥४॥

पाठकगण स्वयं निर्णय करें कि यह पद किसका है।

१०३ राग–आशावरी

अवधू ! सो जोगी गुरु मेरा, इन पद का करे रे निवेडा ॥अव०॥

तरुवर एक मूल बिन छाया, विन फूले फल लागा।
शाखा पत्र नहीं कछु उनकुं, अमृत गगने लागा ॥अव०॥१॥

तरुवर एक पंछी दोउ बैठे, एक गुरु एक चेला।
चेले ने जुग चुण चुण खाया, गुरू निरंतर खेला ॥अव०॥२॥

गगन मंडल में अधविच कूवा, उहाँ हे अमीका वासा।
सगुरा होवे सो भर भर पीवे, नगुरा जावे प्यासा ॥अव०॥३॥

गगन मंडल में गउआ बिहानी, धरती दूध जमाया।
माखन थासो बिरला पाया, छासें जग भरमाया ॥अव०॥४॥

थड विनु पत्र, पत्र बिनु तुंबा, बिन जीभ्या गुण गाया।
गावन वाले का रूप न रेखा, सुगुरू मोही बताया ॥अव०॥५॥

आंतम अनुभव बिन नही जाने, अंतर ज्योति जगावे।
घट अन्तर परखे सोही मूरति, 'आनन्दघन' पद पावै ॥अव०॥६॥

(१०३) शब्दार्थ—निवेडा = फैसला, विचार। तरुवर = वृक्ष, पेड। शाखापत्र = टहनियें और पत्ते। गुरु = ब्रह्म। चेला = जीव। जुग = चारा, संसार। गगन = आकाश, ब्रह्मांड। अमी = अमृत। सगुरा = सद्गुरुवाले। नगुरा = बिना गुरु वाले, गुण रहित। गउआ = गाय, सात्विक वृत्तियां। माखन = मक्खन, सारतत्व। छासें = छाछ से, निस्सार तत्व। भरमाया = मोहित हो गया। थड = डंठल, मूल, जड। तुम्वा = फल विशेष।

यह पद मुद्रित प्रतियों में ९८वां पद है। पद की भाषा, शैली और भाव अभिव्यक्ति से तो शंका उत्पन्न होती है कि यह पद श्रीमदानंदघनजी का नहीं हो सकता। 'घनानंद और आनंदघन' के सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस पद की टिप्पणी में इस पद को संत कबीर का लिखा है। उन्होंने 'कबीर ग्रंथावली पृ० १४३ पर १६५वां पद और बीजक, शब्द २४, पर इस पद का होना लिखा है। हमारे पास उक्त ग्रंथ तो हैं नहीं, किन्तु कबीर शब्दावली है। उसके पृ० ८४–८५ से हम यह पद नीचे दे रहे हैं—

अवधू सो जोगी गुरु मेरा या पद का करै निवेरा ॥टेर॥

तरवर एक मूल विन ठाढा, विन फूले फल लागे।
साखा पत्र नहीं कछु वाके, अष्ट कमल दल गाजै ॥१॥

चढ तरवर दो पंछी बैठे, एक गुरु एक चेला।
चेला रहा सो चुन चुन खाया, गुरु निरंतर खेला ॥२॥

विन करताल पखावज बाजें, विन रसना गुन गावै।
गावन हार के रूप न रेखा, सतगुरु मिलै बतावै ॥३॥

गगन मंडल में उर्ध मुख कुइयां, जहाँ अभी को बासा।
सगुरा होय सो भर भर पीवे, निगुरा जाय पियासा ॥४॥

सुन्न सिखर पर गइया वियानी, धीर छीर जमाया।
माखन रहा सो संतन खाया, छाछ जंगत भर माया ॥५॥

पंछी खोज मीन को मारग, कहै कवीर दोउ भारी।
अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, मूरत की वलिहारी ॥६॥

इस पद में और ऊपर के 'आनंदघन पदावली' के पद में वहुत साम्यता है। केवल इस पद का छठा पद और आनंदघन पदावली का छठा पद पृथक-पृथक है। एक में कवीर का नाम है और और एक में आनन्दघन का नाम है। भाव भी अलग अलग है। वास्तव में यह पद संत कवीर का ही है। इसमें भाषा और शैली कवीर की ही है। अंतिम छठा पद आनन्दघनजी का ही प्रतीत होता है। यह आनंदघनजी के किसी अन्य पद का है, वह इस पद में सम्मिलित कर इस पद को आनंदघनजी का वना दिया गया है।

१०४ राग–बेलावल

ता जोगे चित ल्याऊ रे वहाला।

समकित दोरो शील लंगोटी, घुलघुल गांठ घुलाऊं।
तत्व गुफा में दीपक जोंऊं, चेतन रतन जगाऊं रे वहाला
॥ ता जोगे० ॥१॥

अष्ट करम कंडे की धूनी, ध्याना अगन जलऊँ।
उपशम छनने भसम छणाऊँ, मलि मलि अंग लगऊं रे वहाला
॥ ता जोगे० ॥२॥

आदि गुरु का चेला होकर, मोह के कान फराऊँ।
धरम सुकल दोय मुद्रा सोहै, करुणा नाद वजाऊँ रे वहाला
॥ ता जोगे० ॥३॥

इह विध योग-सिंहासन वैठा, मुगतिपुरी कूं ध्याऊँ।
आनन्दघन देवेन्द्र से योगी, बहुरि न कलि में आऊँ रे वहाला
॥ ता जोगे० ॥४॥

(१०४) शब्दार्थ—वहाला = हे प्रिय । दोरी = डोरी, रस्सी । जोऊं = जलाऊं । अष्ट करम = आठ कर्म, ज्ञानावरणी आदि । कंडे की = छाणे की, गाय भैंसे के गोवर से वनी हुई वस्तु । उपसम = निवृत्ति भाव । छनने = छानने का वस्त्र । धरम शुकल = धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान ।

यह पद मुद्रित तियों में ३७वां पद है । इस पद को श्री कापडियाजी ने शंकास्पद माना है । सही वात यही है कि यह पद आनंदघनजी की भाषा और शैली से नहीं मिलता है । इस पद में 'आनदघन' शव्द ही मतिभ्रम करता है । यह शव्द नाम वाची न होकर विशेपण है । इसका सम्वन्ध देवेन्द्र शव्द से है । यह 'देवेन्द्र' ही इस पद के कर्त्ता मालूम पडते हैं । भविष्य में 'देवेन्द्र' के और पद मिलने पर ही इसका पूर्ण रूपेण निर्णय हो सकता है ।

१०५ राग–सारंग

चेतन शुद्धातम कुं ध्यावो ।
पर परचे धामधूम सदाई, निज परचे सुख पावो ।।चेतन०।।१।।

निज घर में प्रभुता है तेरी, पर संग नीच कहावो ।
प्रत्यक्ष रीत लखी तुम, ऐसी, गहियें आप सुहावो ।।चेतन०।।२।।

यावत तृष्णा मोह है तुमको, तावत मिथ्या भावो ।
स्व संवेद ग्यान लही करवो, छंडो भ्रमक विभावो ।।चेतन०।।३।।

सुमता चेतना पतिकुं इण विध, कहे निज घर आवो ।
आतम उच्छ सुधारस पीये, 'सुख आनंद' पद पावो ।।चेतन०।।४।।

(१०५) शब्दार्थ—ध्यावो = ध्यान करो । परचे = परिचय, विभाव-दशा में । धामधूम = भारी हलचल, अत्यन्त कोलाहल । परसंग = दूसरों के साथ से । यावत = जव तक । तावत = तव तक । स्व संवेद = अपनत्व की

प्रीतीति करना, अपने पन की अनुभूति करना। छंडो = छोडो। भ्रमक = भ्रामक, भ्रम करनेवाले। उच्छ = गन्ना, अत्यन्त मिष्ठ।

यह पद मुद्रित प्रतियों में ८०वां पद है। इस पद में आनंदघनजी का नाम भी नहीं है। 'आनंद' शब्द देख कर ही इसे आनंदघनजी का पद मान लिया गया है किन्तु इस पद में कर्त्ता का पूरा नाम है। कर्त्ता का नाम 'सुखानंद' है जो संधि विच्छेद होकर दिया गया है—"सुख आनंद"। आनंदघनजी ने अपने किसी भी पद में "आनंद" या 'सुखानंद' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने तो केवल "आनंदघन" का प्रयोग किया है। यह पद आनंदघनजी की भाषा और शैली से भी नहीं मिलता है।

१०६ राग–सारंग

चेतन ऐसा ग्यान विचारो।
सोहं सोहं सोह सोहं, सोहं अणु न बीया सारो ॥चेतन०॥१॥

निश्चय स्व लक्षण अवलंबी, प्रज्ञा छैनी निहारो।
इह छैनी मध्य पाती दुविधा, करे जड-चेतन फारो ॥चेतन०॥२॥

तस छैनी कर ग्रहि ये जो धन, सो तुम सोहं धारो।
सोहं जानि दटो तुम मोह. ह्वै है समको वारो ॥चेतन०॥३॥

कुलटा कुटिल कु बुद्धि कुमता, छंडो ह्वै निज चारो।
"सुख आनंद" पदे तुम वेसी, स्व परकुं निस्तारो ॥चेतन०॥४॥

(१०६) शब्दार्थ—सोहं = सोऽहं, वह मैं हूं। अणु = छोटा, अंशमात्र। बीया = दूसरा। सारो = सारभूत, श्रेष्ठतम। अवलंबी = सहारा कर। प्रज्ञा = बुद्धि। छैनी = छेनी, पत्थर तोडने का लोहे का औजार। निहारो = देखो। पाती = पडते ही। दुविधा = दो टुकडे।

फारो = विभाग, फाड़ टुकड़ा, पृथक्करण । दटो = दबादो । समको = समता का । वारो = प्रहार । चारो = उपाय, इलाज, प्रवृत्ति, आचरण करो । बैठी = बैठ कर । निस्तारो = छुटकारा, उद्धार, मुक्ति ।

यह पद मुद्रित प्रतियों में ८१ वां है । यह पद भी 'सुखानन्द' का ही है ।

१०७ राग कल्याण

या पुद्गल का क्या विसवासा, है सुपने का वासारे ।।या०।।
चमत्कार विजली दे जैसा, पानी विच्च पतासा ।
या देही का गर्व न करना, जंगल होयगा वासा ।।या०।।१।।

झूठे तन धन झूठे जोवन, झूठे है घर वासा ।
'आनन्दघन' कहे सब ही झूठे, सांचा शिवपुर वासा ।।या०।।२।।

मुद्रित प्रतियों में यह पद ९७ वां है । यह पद भी आनंदघन जी की भाषा और शैली से नहीं मिलता है । श्रीकापड़ियाजी ने इस पद को संदिग्ध माना है । श्रीविश्वनाथ प्रसादजी मिश्र ने भूधरदास (दिगम्बर जैन कवि) का माना है । उनके "जैन शतक" में इस पंक्तियों में यह पद हेरफेर के साथ मिलता है ।

(१०७) शब्दार्थ—विसवासा = विश्वास, भरोसा । वासा = वास-स्थान । दे = का । विच्च = बीच, मध्य । पतासा = बतासा, चीनी का बना फूला हुआ पदार्थ, बुलबुला । देही = शरीर ।

१०८ राग—वसंत

तुम ज्ञान विभो फूली वसंत, मन मधुकर ही सुख सों रमंत ।।तुम०।।१।।
दिन बड़े भये वैराग्य भाव, मिथ्या मति रजनी घटाव ।।तुम०।।२।।

बहु फूली फली सुरुचि बेल, ज्ञाता जन समता संग केल ।।तुम०।।३।।
जानत बानी पिक मधुर रूप, सुरनर पशु आनंदघन सरूप ।।तुम०।।४।।

यह पद मुद्रित प्रतियों में १०७ वां है, इसकी भाषा और शैली भी आनंदघन जी से भिन्न है। इस पद की भाषा 'व्रज' है जबकि आनंदघन जी की भाषा 'राजस्थानी' हैं। यह पद 'द्यानत विलास' में ज्यों का त्यों ५८ वां पद है, फर्क केवल इतना ही है कि इसकी चतुर्थ पंक्ति का आदि शब्द 'जानत' उसमें (द्यानत विलास) 'द्यानत' है वह ठीक है। 'आनंदघन' शब्द देखकर ही संग्रहकर्ता ने आनंदघन जी का यह पद मानकर 'द्यानत' के स्थान पर 'जानत' कर दिया हैं। वास्तव में यह पद आगरा निवासी द्यानतराय जी का ही है।

१०६ राग—खमाच

तज मन कुमता कुटिल को संग।
जाके संगतें कुबुद्धि उपजत है, पडत भजन में भंग ।।तज०।।१।।
कौवे कूं क्या कपूर चुगावत, श्वान ही न्हावत गंग।
खर कुं कीनो अरगजा लेपन, मरकट भूषण अंग ।।तज०।।२।।
कहा भयो पय पान पिलावत, विषहु न तजत भुजंग।
'आनंदघन' प्रभु काली कांबलिया, चढत न दूजो रंग ।।तज०।।३।।

यह पद श्री कापड़िया जी की पुस्तक में १०८ वां पद है और श्री बुद्धिसागर जी की पुस्तक में भूमिका में दिया है। इन दोनों में पाठ भेद भी है जो इस प्रकार है—

कुमता कुटिल = हरविमुखन। क्या = काहा। श्वान ही न्हावत = श्वान नाहावत। कीनो = कहा। विषहु न तजत भुजंग = विष न तजे भुजंग। आनंदघन प्रभु काली कांबलिया = आनंदघन वे हे काली कंबल।

श्री कापड़िया जी की पुस्तक में "ज्युं पाषाण बाण नहिं भेदत, पीतो भयो निषंग" पंक्ति और है।

इस पद को भी श्री कापड़िया जी ने महाकवि सूरदास का मानकर ही व्याख्या की हैं। श्री विश्वनाथ प्रसाद जी भी इसे 'सूरदास' का ही मानते हैं। वास्तव में यह पद महाकवि सूरदास का ही है। सूरसागर तथा अन्य सूरदास के पदों के संग्रह में यह पद इस प्रकार आरंभ होता है—

'छांडि मन हरिविमुखन को संग'

और पद की समाप्ति—"सूरदास की काली कंवलिया चढत न दूजो रंग" से होती है। बीच के पद भी ऐसे के ऐसे ही हैं।

यहां वे पद दिये जा रहे हैं जो हमारे पास हस्तलिखित प्रतियों में तो हैं किन्तु अव तक की प्रकाशित प्रतियों में नही हैं। पद संख्या ११०, १११, ११२ और ११३ हमारी 'आ' प्रति के क्रमशः १६, १७, १८ और ८० संख्या पर है। पद संख्या ११४ के दोनों रूप और पद संख्या ११५ किन्हीं हस्त लिखित प्रतियों से स्व० श्री उमराव चंद जी जरगड़ ने एक पत्र में प्रतिलिपि कर रखी थी और पद संख्या ११६ हमारी प्रतियों में 'अ', 'इ', 'उ' में क्रमशः २९, ७३, ८० पर है। पद संख्या ११७ भी इसी प्रकार एक अलग पत्र में लिखा मिला है। ये सब ही पद महाभाग योगीराज आनंदघन जी के प्रतीत नहीं होते हैं।

कवि या लेखक आरंभ से जो भाषा और शैली (कहने या लिखने का ढंग) अपनाता है वह अन्त तक बना रहता है। श्री आनंदघन जी ने जिस भाषा का प्रयोग अपनी चौवीसी और पदों में किया है, वह राजस्थान की है। जो शैली और भावों की अभिव्यक्ति चौवीसी के पदों में प्राप्त है, वह ही भाषा और शैली इस संग्रह के अनेक पदों में है, जिन्हें हम इन्हीं का मानते हैं। ये सम्पूर्ण नये आठ पद और श्रीमद् बुद्धिसागर सूरीश्वर जी के तीन नवीन पद श्री आनंदघन जी की शैली और भाषा से मेल नहीं खाते हैं, अतः ये इनके नहीं हैं। इनमें आनंदघन जी का नाम होने से ही आनंदघन जी के मान लेना गलती होगी। इन पदों की भाषा एक नहीं है। कहीं राजस्थानी मिश्रित है, कहीं कबीर आदि संत कवियों ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वैसी है।

श्री आनंदघन जी ने जिस ढंग से चौवीसी और अनेक पदों में अपने भाव व्यक्त का चमत्कार दिखाया है, वह इन पदों में सर्वथा नहीं है। इन पदों में साधारण भाषाभिव्यक्ति है, अतः ये पद उनके नहीं हैं। अब प्रश्न हो सकता हैं कि आखिर ये पद किसके हैं ? इसके लियें स्पष्ट कुछ कहा नहीं जा सकता है। यह कार्य आगे की शोध से ही निश्चित हो सकेगा।

११०

प्रिय माहरो जोसी, हुं पीयरी जोसरण कोई पडोसरण पूछौ जोस।
जे पूछौ ते सगलौ कहिसौ, सौसौ रहै न रहै कोई सोस ॥प्रीय०॥१॥

तन धन सहज सुभाव विचारै, ग्रह युति दृष्टि विचारौ तोस।
शशि दिशि काल कला बल धारै, तत्व विचारि मनि नाणै रौस
॥प्रीय०॥२॥

सौंण निमित सुर विद्या साधै, जीव धातु मूल फल पोस।
सेवा पूजा विधि आराधै, परगासै 'आनंदघन' कोस ॥प्रीय०॥३॥

(११०) शब्दार्थ—माहरो = मेरा। जोसी = ज्योतिषी। जोसरण = ज्योतिषी की पत्नि। जोस = ग्रहफल। सगलो = सम्पूर्ण। सोसो = संशय, शंका। सोस = शोषण करने वाली बात, चिन्ता। तोस = संतोष। मनि = मनमें। नाणै = न लावै। रोस = क्रोध। सौंण = शकुन। सुरविद्या = स्वर विज्ञान। कोस = कोष, खजाना।

१११

दग्यो जु महा मोह दावानल, उवरूं पार ब्रह्म की ओट।
कृपा कटाक्ष सुधारस धारा, वंचै विसम काल की चोट ॥द०॥१॥

अगज अनेक करी जीय बांधी, दूतर दरप दुरित की पोट।
चरन सरन आवत तन मनकी, निकसि गई अनादि की खोट ॥द०॥२॥

अब तो गहै भाग बड पायौ, परमारथ सुनाव दृढ़ कोट।
निरमल मांनि सांच मेरी, कही, 'आनंदघन' घन सादा अतोट
॥द०॥३॥

(१११) शब्दार्थ—दग्यो = प्रज्वलित हुआ। उवरूं = मुक्त होना, छूटना, निकलना। ओट = आड़, शरण। वंचै = वचना, रक्षा प्राप्त करना। अगज=मूर्खता। दूतर = दुस्तर, कठिन। दरप = दर्प, गर्व। दुरित = पाप। पोट = गठरी। अतोट = अटूट।

११२

कुण आगल कहुं खाटुं मीठुं, राम सनेही नुं मुखडुं न दीठुं।
मन विसरामी नुं मुखडुं न दीठुं, अंतर जामी नुं अंतर जामी नुं ॥

जे दीठा ते लागइ अनीठा, मन मान्या विण किम कहुँ मीठा।
धरणी अगास विचै नहीं ईठा ॥कुण ०॥१॥

जोतां जोतां जगत विशेषुं, उण उणिहारइ कोइ न देखुं।
अणसमझ्युं किम मांडुं लेखुं ॥कुण०॥२॥

कोहना कोहना घर में जावुं, कोहना कोहना नितगुण गावुं।
जो 'आनंदघन' दरसन पावुं ॥कुण०॥३॥

(११२) शब्दार्थ—आगल = आगे। दीठुं=देखा। अनीठा = अनिष्ट-कारी, अप्रिय। धरणी = पृथ्वी। ईठा = इष्ट, प्रिय। जोतां जोतां = देखते-देखते। विशेषुं = परीक्षा की। उण = उस। उणिहारइ = अनुसार, समान। कोहना कोहना = किस किसके।

११३ राग–ललित

मिलणरो बाणक आज वण्यो छै जी ।।मि०।।
देराणी जेठानी म्हारी, घंधे लागी निणदल पुत्र जीण्यौ छै जी
।।मि।।१।।
सास करत म्हारी पान पंजीरी, आडो पडदो तण्यो छै जी ।।मि।।२।।
'आनन्दघन' पिया भलेही पधारे, मन में उमाहो घणो छै जी
।।मि।।३।।

(११३) शब्दार्थ—वाणक = बनाव, वेश, अवसर। घंधे = कार्य में। निणदल = ननद। पुत्त = पुत्र। जिण्यौ = जन्म दिया। पान पंजीरी = खाने का मिष्ठान।

११४

सुण चरखा वाली चरखो बोले तेरो हुं हुं हुं।
जल में जाया थल में उपना, बस गया नगर में आप।
एक अचंभा, ऐसा देखा, बेटी जाया बाप रे ।।सु०।।१।।
भाव भगतिकी रुइ मंगाइ, सुरत पींजावण चाली।
ज्ञान पींजारो पींजण बेठो, तांत पकड झणकाइ रे ।।सु०।।२।।
बावल मेरो व्याव कीजो हे, अण जाण्यो वर आप।
अणजाण्यो वर नहि मिले तो, बेटी जाया बाप रे ।।सु०।।३।।
सासु मरेजो नणद मरेजो, परण्यो वी मरजाय।
एक बुढीओ नहि मरे तो तिण चरखो दीजो बताय रे ।।सु०।।४।।
चरखो मारो रग रगीलो, पुणी हे गुलजार।
कातनवाली छेल छबीली, गीन गीन काढे तार रे ।।सु०।।५।।
इणो चरखामें हुं हुं लिख्यो हे, हुं हुं लिखे नहि कोय।
'आनंदघन' या लिखे विभुति, आवागमन नहि होय रे ।।६सु०।।

(गुजराती से प्रभावित)

(११४) शब्दार्थ—अचम्भा = आश्चर्य । सुरत – स्मरण, ध्यान । पींजावण – रूई धुनवाना । पींजारो = रूई धुनने वाला । बावऊ – पिता, बाबू । व्याव = विवाह । अणजाण्यो = अपरिचित । परण्यों – विवाहित प्रति ।

उक्त पद का दूसरा रूप ११४

सुण चरखेवाली, चरखो चाले छे थारो च्युं च्युं ॥
जल जाइ थल उपनीरे, उपनी आपो आप ।
एक अचंभो ऐसो देख्यो, बेटी जायो बाप रे ॥स०॥१॥

नानी थारो व्याह रचवूं, बिणजायो भरतार ।
बिणजायो वर ना मिले तो हम से तुम से प्यार ॥सु०२॥

सासू मरगई ससुरो मरगयो, परण्यो भी मरजाय ।
एक बुढिया यों कहै तने चरखो देवुं बताय ॥सु०॥३॥

ज्ञान ध्यान की रुइ मंगाद्यू श्रुत पिंजावण जाय ।
गुरु पिंदारो पींजण बैठ्यो, तांत रही भ्रणकाय ॥स०॥४॥

ऊंची मेडी लाल किंवाडी, मैं बैठी कतवारी ।
सतगुरू कूंची दीनी ज्ञानकी, खुलगई धर्म दुवारी ॥सु०॥५॥

चरखो थारो रंगरंगीलो, पूणी है घणसार ।
'आनंदघन' कहै विधी से कातो, ज्युं उतरो भव पार ॥सुण०॥६॥

(११४ II) शब्दार्थ—नानी – छोटी बच्ची । थारो – तेरा । विण-जायो – खरीदा हुआ । श्रुत – आगम शास्त्र । पिंजावण – पिंदाने के लिए । घणसार = बहुत तत्व वाली ।

११५

सरसती स्वामी करोरे पसाय, हुंरे गाऊं रूडी कुल वहुरे ।
पीउडो चाल्यो छे परदेश, घेर रही रूडुं शीयल पालीये रे ॥१॥

हारू वारू सासरडे जाय, नानी ते घनुडी रमे ढींगले रे ।
नरपत परपत निशाले जाय, नानो ते पर्यापत पोढ़ो पालणे ए ।।२।।
बारे बरसे आव्यो रे नाह, छोकरडाने काजे टाचकडा नवी लावीओरे ।
हुं तने पुछुं सुकलीणीनार, पीउ विण छोकरडा कयां थी आवीयारे ।।३।।
गोत्र देवे कर्यो रे पसाय, सायभोरे भोन पधारीया रे ।
एटले उठी नें भाग्यो रे पीय धन्य पनोती तुं कुल बहुरे ।।४।।
एहनो अनुभव लेस्ये रे जेह, तेहु पामे रूडी कुल बहु रे ।
'आनंदघन' जपारे सभाय, सुणतां श्रवणे सुखहीये रे ।।५।।

(११५) शब्दार्थ—पसाय = प्रसाद, प्रसन्नता । रूडी = अच्छी । पीउडो = प्रियतम, पति । घेर = घर । रूडुं = विलाप करना । शीयल = शील, ब्रह्मचर्यव्रत । हारू वारूं = हारफिर कर । सासरडे = ससुराल । घनुडी-एक प्रकार का खेल । रमें = खेलना । ढींगले = बालू मिट्टी का ऊँचा स्थान, टीबा । नानो = बच्चा । पोढ़ो = सोना, शयन करना । पालणे = झूले में । नाह = नाथ, पति । छोकरड़ाने = बच्चा । काजे = लिए । टाचकडा = खिलोने । नवी = नहीं । सुकलीणी=सुलक्षनी, अच्छे लक्षणों वाली । कयांथी=कहां से । सायभो = पति । भोन = भावन, घर । 'पधारिया' शब्द 'वधारीया' भी पढ़ा जाता है । पधारीया = आये । वधारिया = स्वागत किया । एटले = इतने में, इतने ही समय मे । पनोती = पांच पीढ़ी, (पांच शुभ ग्रह या पांच अशुभ ग्रह का समय ।

११६

रे परदेशी भमरा मोसुं रह्यो नही जाय ।।
भंवर विलंब्यो केतकी, समके फूल खुलिजाय ।।१
तुम बिन मोहे कल न परत है, तलफ तलफ जीउ जाय ।।२।।
'आनंदघन' प्रभु तुमरे मिलकुं आनन-कलि कुमलाय ।।३।।

(११६) शब्दार्थ—विलंब्यो = लियट गया, लटक गया, चित्तलगाकर फंस गया। समके = समान, वरावर। कल = चैन, आराम। आनन = मुख, चहरा।

११७

मगरा ऊपर कबुआ वोल्यो, पहुँणा आया तीन।
पहुंणा थारी मूंछा वालूं, छाणा क्यों नही ल्यायो।
करकशा नार मिली छैजी, धन्य पियाजी थारा भाग ॥ करकशा०॥
पहुंणा आया देखिने, चूल्हो दियो बुझाय।
दो लात पहुँगा कै मारी, आप बैठी रीसाय ॥करकशा०॥१॥
मोठ वाजरी को पीसणो, ले बैठी भर सूंप।
अव जो पहुंणा मुझनै कहसी, तो जाय पडूंगी कूप ॥कर०॥२॥
घर में घट्टी घर में ऊंखल, पर घर पीसण जाय।
पाडोसण सेती वात करतां, चून कूतरा खाय ॥कर०॥३॥
माँचो वाल्यो वरलो वाल्यो, वाली डोलाकी डांडी।
छपरो वाल्यो मूँपरो वाल्यो, तो न चढ्ढी इक हाँडी ॥कर०॥४॥
तीन पाव की सात वनाई, सात पाव की एक।
परण्यो डाकी सातों खागयो, हूं सुलच्छनी एक ॥कर०॥५॥
गंगा न्हाई गोमती न्हाई, विच में आई घाटी।
घर में आई जोवियो तो, अजहि न मूओ भाटी ॥कर०॥६॥
न्हाइ धोइ वेस वणाई, तिलक कर्‌यो अपार।
सूरज सामी अरज करै छै कद मरसी भंरतार ॥कर०॥७॥
'आनंदघन' कहे सुन भाई साधू! एह पद है सुख दाई।
इस पद की निन्दा करै तो नरक निगोद निसाणी ॥कर०॥८॥

(११७) यह पद भी श्री आनन्दघन जी का नहीं है। शैली तो मिलती ही नहीं है साथ ही एक और वात है कि अन्तिम पद ८ वें की तुकांत नहीं मिलती और न ऊपर के पदों से उसका कुछ सम्वन्ध प्रकट होता है। 'आनंद

घन' कहे सुन भाई साधू" इस प्रकार से आनन्दघनजी ने अपने पदों में कहीं भी नहीं लिखा है। इस प्रकार के लेख तो कबीर की रचनाओं में ही मिलते हैं। भाव भी अटपटा है। यह पद श्री जरगडजी के संग्रह में एक पत्र पर लिखा हुआ मिला है।

(११७) शब्दार्थ—मगरा = पहाड, पर्वत। कवुआ = कोवा, काक। पहुंणा = अथिति। बालु = जलाऊँ। छाणा = गोबर के कंडे। रीसाय = क्रोधित होकर। पीसणो = पीसने के लिए रखी वस्तु। सूंप = अन्न फटकने का छांज, छाजला। घट्टी = चक्की। ऊंखल = लकड़ी का बना हुआ पात्र जिसमें भूसी वाला अन्न डाल कर मूसल से कूट कर भूसी अलग की जाती है। चून = आटा। कूतरा = कुत्ता। मांचो = खाट, पलंग। बाल्यो = जलाया। वरलो = वड़-पीपल की लकड़ी। डोलाकी = दीवार की। डांडी = डंडी, लकड़ी। भाटी= भट, योद्धा, मुख्य पुरुष। कद = कब

स्व० श्रीमद् बुद्धिसागर सूरीश्वर जी के द्वारा प्राप्त नये पद (आनंदघन पद संग्रह से)

११८ राग—वेलावल

मेरे ए प्रभु चाहिये, नित्य दरिसन पाउ।
चरण कमल सेवा करूं, चरणे चित लाउ ॥मेरे॥१॥
मन पंकज के मोल में, प्रभू पास बेठाउ।
निपट नजीक होरहुं, मेरे जीव रमाउ ॥मेरे०२॥
अंजरजामी आगले, अंतरिक गुण गाउ।
'आनंदघन' प्रभु पास जी मैं तो और न ध्याउ ॥मेरे०॥३॥

(११८) शब्दार्थ—मोल में = महल में। निपट = बिलकुल। नजीक= निकट, पास। रमाउ = रमणकराऊं। आगले = सम्मुख, आगे। अंतरिक = हृदय से।

११९

निरंजन यार मोय कैसे मिलेंगे
दूर देखु में दरियाडुंगर उंची बादर नीचे ज़मीं युं तले ॥निरं॥१॥
धरती में घडुता न पिछानुं,अग्नि सहु तो मेरी देही जले निरं०॥२॥
'आनंदघन' कहे जस सुनो वाता, ये ही मिले तो मेरो फेरो टले
॥निरं०॥३॥

(११९) शब्दार्थ—डुंगर = पहाड़ । तले = नीचे । घडुता = प्रवेश कर । पिछानुं = पहिचाना । देही = शरीर । फेरो = संसार में आवागमन, जन्म-मरण का चक्र । टले = दूर हो जावे । जस = यशोविजयजी

१२० राग–आशावरी

अब चलो संग हमारे, काया चलो संग हमारे ।
तोये बहोत यत्नकरी राखी, काया अब चलो० ॥१॥
तोये कारण में जीव संहारे, बोले जूंठ अपारे ।
चोरी करी पर नारी सेवी, जूंठ परिग्रह धारे ॥काया०॥२॥
पट आभूषण सुंधा चुआ, अशनपान नित्य न्यारे ।
फेर दिने खट रस तोये सुन्दर, ते सब मल कर डारे काया०॥३॥
जीव सुणो या रीत अनादि, कहा कहत बारंबारे ।
में न चलूंगी तोये संग चेतन, पाप पुण्य दोय लारे ॥काया०॥४॥
जिनवर नाम सार भज आतम, कहा भरम संसारे ।
सुगुरू बचन प्रतीत भये तब, 'आनंदघन' उपगारे ॥काया०॥५॥

(१२०) शब्दार्थ—पट = वस्त्र । सुंधा = सुगन्धित पदार्थ । चुआ = चोवा चंदन, इत्र । अशन पान = खाने पीने की वस्तु । दिने = दीने, दिये । मल = विष्ठा । लारे = पीछे ।

१२१

हुं तो प्रणमुं सद्गुरु राया रे, माता सरसती वंदु पाया रे ।
हुं तो गाउं आतमराया, जीवन जी वारणे मत जाजोरे ॥
तुमे घर बैठा कमावो, चेतनजी वारणे मत जाजो रे ॥१॥

तारे बाहिर दुर्गति राणी रे, केता शुं कुमति कहेवाणी रे
तुंने भोलवी बाधशैं ताणी ॥जीवन जी० ॥२॥

तारा घरमां छे त्रण रतन रे, तेनुं करजे तुं तो जतन रे।
अे अखूट खजानो छे धन्न ॥जी०॥३॥

तारा घरमां बैठा छे घुतारा, तेने काढो ने प्रीतम प्यारा रे ।
अेहथी रहोने तुमे न्यारा ॥जी०॥४॥

सत्तावन ने काढो घरमां बैठा थी रे, त्रेत्रीश ने कहो जाये इहां थी रे।
पछी अनुभव जागशे मांहे थी रे ॥जी०॥५॥

सोल कषाय ने दिओ शीख रे, अढार पापस्थानक ने मगावो भीख रे
पछे आठ करमनी शी बीक ॥जी०॥६॥

चार ने करो चकचूर रे, पांचमी शुं थाओ हजूर रे।
पछे पामो आनंद भरपूर ॥जी० ।७॥

विवेक दीवे करो अजुवालो रे मिथ्यात्व अंधकार टालो रे ।
पछे अनुभव साथे म्हालो ॥ज०। ८॥

सुमति साहेली शुं खेलो रे, दुर्गतिनो छेडो मेलो रे।
पछे पामो मुक्तिगढ हेलो ॥जी०॥९॥

ममता ने केम न मारो रे, जिती बाजी कांई हारो रे।
केम पामो भवनो पारो ॥जी०॥१०॥

शुद्ध देवगुरु सुपाय रे, मारो जीव आवे कांई ठाय रे ।
पछे 'आनंदघन' मभ थाय ॥जी०॥११॥

(१२१) यह पद श्री साराभाई मणिलाल नवाव द्वारा सम्पादित "श्री आनन्दघन पद्य रत्नावली" नामक पुस्तक से साभार उद्धृत किया गया है। पद की भाषा विलकुल गुजराती है, जबकि श्री आनन्दघनजी भाषा सभी पदों में राजस्थानी है। अतः निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता कि प्रस्तुत पद उन्हीं का है अथवा किसी अन्य का। इस पद का राजस्थानी रूप प्राप्त होने पर ही निश्चय हो सकता है।

पांच समिति–ढाल १

१ इर्या समिति

दोहा– पंच महाव्रत आदरी, आतम करो विचार।
अहो अहो मुझ प्रत्यक्ष थवो, धन्य धन्य अवतार।।

विनती अवधारो रे, इरियाये चालो रे, शक्ति संभालो आत्म स्वभावनी रे ।।१।।
इरिया ते कहिये रे, सुमति सुं भेट लहिये रे, पुंठ तव बाली कुमती संग थी रे।।२।।
द्रव्य थी पण सार रे, किलामणा लगार रे, रखे नवि ऊपजे हवे पर प्राण नैं रे ।।३।।
मुनि मारग चालो रे, द्रव्य भाव सुं म्हालो रे, आतम नै उजवालो भव-दव-चक्रथी रे ।।४।।
एम सुमति गुण पामी रे, परभाव नै वामी रे, कहै हवै स्वामी "आनंदघन' ते थयोरे ।।५।।

पांच समिति की पांचों ढ़ालें श्री आनन्दघन जी की ही है। इसमें शंका की कोई गुंजाइश नहीं है। स्व० श्री उमरावचन्दजी ने ये ढ़ाले कहां से ली इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। ये ढ़ाले श्री अगरचन्दजी नाहटाने 'श्रीमद्देवचन्द्र सज्झाय माला भाग १ में प्रकाशित कराई है। कुछ पाठ भेद हैं वह यहां दिया जाता है।

(ढ़ाल १) पाठांतर— करो = करे। मुझ = हुं। प्रत्यक्ष थयो = थयो प्रत्यक्ष। धन्य-धन्य = धन धम। इरिया....भेट लाहियेरे के आगे पाठ है– "निज लक्ष गहियेरे, गमनागमन महिरे ॥२॥

'पुंठ....संगथी रे' से पूर्व'—'सुमति जब भाली रे, तब लागी प्यारे रे ॥३॥–पाठ है। सुमति = मुनि। स्वामी = स्वामी रे। उजवालो = उगारो रे। श०-अवधारो = ध्यान पूर्वक ग्रहण करो। पुण्ठ = पीछा। वाली=जलाकर, त्याग कर। किलामणा = तकलीफ, कष्ट। लगार किंचित भी। म्हालो= आनन्द से चलो। उजवालो = उज्जवल करो। भव-दव = संसार रूपी दावाग्नि। वामी=वायें देकर, दूर कर।

ढाल २

२ भाषा समिति

बीजी समिति सांभलो, जयवंता जी, भाषा को इण नामरे गुण-वंताजी ॥

भाखे भाषण स्वरूपनुं जय०, रूपी पदारथ त्याग रे गुणवंताजी ॥१॥
निज स्वरूप रंमणे रह्या जय०, नवी परनो प्रचार रे गुण० ॥२॥
भाषा समिति थी सुख थयो रे जय०, ते जाने मुनिराय रे गुण० ॥३॥
ज्ञानवंत निज ज्ञान थी जय०, अनुभव भाषक थाय रे गुण० ॥४॥
भाषा समिति स्वभाव थी जय०, स्व-पर विवेचन थाय रे गुण० ॥५॥
हवे द्रव्य थी पण महामुनि जय०, सावद्य वचननो त्याग रे गुण० ॥६॥
सावद्य विरम्या जे मुनि, जय०, ते कहिये महाभाग रे गुण० ॥७॥
पर-भाषण दूरे करी जय०, निज स्वरूपने भास रे गुण० ॥८॥
'आनन्दघन' पद ते लहे, जय०, आतम ऋद्धि उल्लास रे गुण० ॥९॥

(ढ़ाल २) पाठां–त्याग रे = वामरे। रह्या = चढ्या। थयो = थयुं राय = सार। शब्दार्थ —बीजी = दूसरी। सांभलो = सुनो। भाषक = बोलने वाला। विवेचन विचार करना। हवे = अब। सावद्य = पाप युक्त कार्य। विरम्या = रुकना।

३-एषणा समिति

ढाल ३, (राग बंगालो-राजा नहीं...)

त्रिजु समिति एषणा नाम, तेणे दीठो आनदघन स्वाम, चेतन सांभलो।
जब दीठो आनंदघन वीर, सहज स्वभावे थयो छै धीर ॥
॥ चेतन सांभलो ॥१॥

वीर थई अरि पूठे धाय, अरि हतो ते नाठो जाय, गयो आमलो ।
वीरजी सन्मुख कोई न थाय; रत्न त्रय सु मलवा जाय ॥चे०॥२॥

अरि वल हवे नथी कांई रे, निज स्वभाव मां म्हाल्यो विशेष ।चे०।
निरखण लाग्यो निज घर माय, तव विसामो लीधो त्याय ॥चे०॥३॥

हवे पर घर मां कदिय न जाऊं, परने सन्मुख कदिय न थाऊं ।चे०।
एम विचारी थयो घर राय, तब पर परणति रोती जाय ॥चे०॥४॥

मुनिवर करुणारस भंडार, दोप रहित हवे ले छै आहार ।चे०।
द्रव्य थकी चाले छै एम, पर परणति नो लीधो नेम ॥चे०। ५॥

द्रव्य भाव सु जे मुनिराय, समिति स्वभाव मां चाल्या जाय ।चे०।
'आनंदघन' प्रभु कहिया तेह, दुष्ट विभाव ने दीधो छेह ॥चे०॥६॥

(ढ़ाल ३) पाठां०-त्रिजु = त्रीजी। तेणे = तिणे। वीरजी = वीररी। अरि.....कांइरं = अरिनुबल हवे नथी कांइ रेप। कहिया = कहिए।

शब्दार्थ—त्रिजु = तीसरी। दीठो = देखा। पूठे = पीछे। धाय = दौड़ना। हतो = था। नाठो = दौडना। विसामो = विश्राम। त्याय = वहां। कदिय = कभी। नेम = नियम। छेह = छिटकाना, दूर करना।

४ आदान-निक्षेप समिति

ढाल ४ (जगत गुरु हीरजी रे...)

चोथी समिति आदरो रे, आदान निखेवण नाम ।
आदान ने जे आदर करे रे, निज स्वरूप ने तेम ।

स्वरूप गुण धारजो रे, धारजो अक्षय अनंत, भविक दुख वारजो रे ॥१॥

निखेवरणा ते निवारवु' रे, पर वस्तु वलि जेह ।
तेह थकी चित्त वालवु' रे, करवा धर्म सु' नेह ॥स्वरूप॥२॥

धर्म नेह जब जागियो रे, तब आनद जनाय ।
प्रगट्यो स्वरूप विषे हवे रे, ध्याता ते ध्येय थाय ॥स्वरूप०॥३॥

अज्ञान व्याधि नसाडवा रे, ज्ञान सुधारस जेह ।
आस्वादन हवे मुनि करे रे, तृप्ति न पामे तेह ॥स्वरूप०॥४॥

स्वरूप मां जे मुनिवरा रे, समिति सु' धरे स्नेह ।
सुमति स्वरूप प्रगटावीने रे, दीधो कुमति नो छेह ॥स्वरूप।.५॥

काल अनादि अनंत नो रे, हतो सलंगण भाव
ते पर पुद्गल थी हवे रे, विरक्त थयो स्वभाव । स्वरूप॥६॥

द्रव्य भाव दोय भेद थी रे, मुनिवर समिति धार ।
'आनंदघन' पद साधसे रे, ते मुनि गुण भंडार ॥स्वरूप०॥७॥

(ढाल ४) पाठां०—इसमें पाठ भेद नहीं है ।

शब्दार्थ—तेम = तव । निवाखु' = दूर हटाना, अलग करना । वालवु' = अलग करना । नसाड़वा = नाश करने के लिए । आस्वादन = स्वाद लेना, अनुभव करना । सलंगण = संलग्न, जुड़ा हुआ । हतो = था ।

५ पारीठावणिया समिति

ढाल ५, (रूडा राजवी, ए देशी)

समिति पंचमी मुनिवर आदरो रे, उन्मारग नो परिहार रे, सुधा साधु जी ।
मुनि मारग रूडी परे साधजो रे, पर छोडी ने निज संभार रे ॥सुधा०॥१॥

पारिठावणिया नामे वली जे कह्यु रे, ते तो परिहरवो परभाव रे
।सुधा०
आदर करवो निज स्वभाव नो रे, ए तो अकल स्वभाव कहेवाय रे
।।सुधा०।।२।।

पर पुद्गल मुनि परठवे रे, विचार करी घट मांय रे ।सुधा०।
लोक सज्ञा ने मुनि परिहरे रे, गति चार पछे वोसिराय रे
।।सुधा०।।३।।

अनादिनो संग वलि जे हतो रे. तेनो हवे करे मुनि त्याग रे सुधा०।
विकल्प ने संकल्प ने टालवा रे, वलि जे थया उजमाल रे ।।सुधा०।।४।।
अनाचीर्ण मुनि परठवे रे, ते जाणी ने अनाचार रे ।सुधा०।
आचार ने वलि जे मुनि आदरे रे, कर्त्ता कार्य स्वरूपी थाय रे
।।सुधा०।।५।।

खट् द्रव्यनु जाणपणु कह्यु रे, ते जे जाणे आप स्वभाव रे ।सुधा०।
स्वभावनु कर्त्ता वलि जे थयो रे, ते तो अतत्वगाही कहेवाय रे
।।सुधा०।।६।।

सुमति सु हवे मुनि म्हालता रे, चालता समिति स्वभाव रे ।सुधा०।
कुमति थी दृष्टि नहि जोडत रे, रे, वली तोडता जे विभाव रे
।।सुधा०।।७।।

पर परणति कहे सुण साहेबा रे, तमे मुझने मूकी केम रे ।सधा०।
कहो मुनि कवण अपराधथी रे, तमे मुझने छोडी एम रे
।।सुधा०।।८।।

मे म्हारो स्वभाव नहि छोडियो रे, नथी म्हारो कोई विभाव रे
।सुधा०।

पंचरंगी माहरू स्वभाव छुं रे, तेने आदरूं छूं सदा काल रे
।।सुघा।।६।।

वर्ण गंध रसादि छोडूं नहीं रे, तो श्यो अवगुण कहेवाय रे ।सुघा।
कदी अवर स्वभाव न आदरूं रे, सडन पडन विध्वंसन न छंडाय रे
।।सुधा०।।१०।।

सिद्ध जीवथी अनंत गुणा कह्या रे, म्हारा घरमां जे चेतन राय रे
।सुघा०।

ते सघला म्हारे वस थई रह्या रे, तम थी छोडी ने केम जवाय रे
।।सुघा०।।११।।

तव मुनिवर कहे कुमति सुणो रे, थारु स्वरूप जाण्युं आज रे।
थारा स्वरूप मां जिम तूं मगन छुं रे, म्हारा स्वरुप मां थयो हूँ
आज रे ।।१२।।

म्हारूं स्वरूप अनन्त में जाणियु रे, ते तो अचल अलख कहेवायरे ।
सुमति थी स्वभाव मारगे रमूरे, थारा सामू जोयू केम जाय रे ।।१३।।
थारे म्हारे हवे नहीं वने रे. तमे तमारे घरे हवे जाओ रे ।
आटला दहाडा हूं वालपणे हतो रे, हवे पण्डिम वीर्य प्रगटायो रे
।।१४।।

सुमति सुं में आदर माँडिओ रे, ए तो वहु गुणवंती कहेवाय रे।
सुमतिना गुण प्रगट पणो रे, में तो लीधो उपयोग मांय रे ।।१५।।
सांभल सुमति ना गुण कहुं रे, जे अचल अखण्ड रहेवाय रे ।
स्थिरतापणु सुमति मां घणो रे, तुज मां तो अस्थिरता समाय रे
।।१६।।

थारा सुख तो हवे में जाणियुं रे, दुख दायक सदा काल रे ।

थारा सुख विभाव कहेवाय छे रे, नहीं पुण्य-पापनुं ख्याल रे ॥१७॥
ज्ञानी ते एहने सुख नहि कहे रे, सुख तो जाण्युं एक स्वभाव रे।
थारा पूठे पड्या ते तो आंधला रे, भव-कूप मां पड्या सदाय रे ॥१८॥
थारुं स्वरूप में बहु जाणियुं रे, तू तो जड़ स्वरूप कहेवाय रे।
जड पणू प्रगट में जाणियुं रे, तू तो पर पुद्गल मां समाय रे ॥१९॥
ते नो विवरो प्रगट हुवे सांभलो रे, संसार समुद्र अथाह रे।
तृष्णा रूप-जल ते मध्ये घणो रे, पण पीछे तृप्ति न थाय रे ॥२०॥
ते समुद्रनो अधिष्ठायक वलि रे, ते तो नामे मोह भूपाल रे।
तेना प्रधान वलि पंच छे रे ते तले त्रेवीस छड़ी दार रे ॥२१॥
राजधानी एवी ते मेल वी रे, धर्मराय नू लूटे धन संच रे।
बाह्य धर्मी जो एने आदरे रे, ते ने मोलवे ते छडी दार रे ॥२२॥
वस करी सोपे मोहराय ने रे, मोह करावे प्रमाद प्रचार रे।
ते थी जाये नरक निगोद मां रे, तिहां काल अनादि गमाय रे ॥२३॥
हढ़ धर्मी एथी नहीं चले रे जेणे कीधा क्षायक भाव रे।
प्रमादी ने मोह पीठे घणो रे, अप्रमादी घरे नहीं जाय रे ॥२४॥
तेणे पंच महाव्रत आदर्या रे, छोड़्या सर्व अनाचार रे।
आचार थी हूँ हुवे नहीं चालूं रे, सुण मुज चित्तना अभिप्राय रे ॥२५॥
कुमति जी कहूँ तुमने एटलूं रे, म्हारा सधर्मी छे अनन्त काय रे।
ते सर्वने दास पणू दियो रे ते साले छे मुज चित्त माय रे ॥२६॥
श्युं कीजे पूठ ते नहि करवे रे, तो पण मुजने दया थाय रे।
ते थी देशना बहुविद करूं रे, जिहाँ चाले म्हारो प्रयास रे ॥२७॥
चेतन जी ने बहु परे प्रीछवुं रे, तेने वनावूं स्थिर वास रे।
ते तो थारे वस करी न होवे रे, ते ने वोसिरावी शिव जाय रे
धर्मरायनी आणने अनुसरे रे, ते तो "आनन्दघन" महाराय रे ॥२८॥

(ढाल ५) पाठान्तर—समिति पंचमी = पंचमी समिति । अनाचीर्ण = पर आकर्षण । वलिजें = वली । स्वभावनुं = स्वभानो ।

नोट—सातवें पद के पश्चात छपी पुस्तक में "उपसंहार" शब्द हैं । साहेबारे = साहिबारे । तमे मुझने छोडी = मुझने छं छेडी । छोडिया रे = छांडियो रे । कोई = कांइ । पंचरंगी.....छेरे = पंचरंगी जे म्हारूं स्वरूप छेरे । वर्ण....नहीं रे = वर्ण गंध रस फर्स छोडुं नहि रे । सडन = सडण । पडन = पड़ण । विध्वंसन = विधंस । जीवथी = जीवोथी । तमथी = तो तुमथी । थारूं = तारूं । आज रे = दगाबाज रे । थारा = तारा । स्वरूपमां = स्वरूपें । मारगे रमूं रे = घरे रमुं रे । थारा = तारा । तमे तमारे = तुम तुम्हारे । आटला दहाडा=आज लगी । प्रगटाया रे = प्रगटाय रे । रहेवारे = कहेवाय रे । घणो रे = घणुं रे । तुज = तुझ । थारा = तारा । हवे में = में हवे । जाणियुं रे = जाणिया रे । दुख....काल रे = छे किंपाक फल समहाल रे । थारा सुख... ख्यात रे = तेथी ते विभाग कहेवाय छे रे. पुण्य पाप नाटक नो ख्याल रें । ज्ञानी ते एहने = ज्ञानी एहने । नहि = नवी । सुख तो = सुख । जाण्युं एक = जाण्युं में एक । थारा = तारी । पूठे = पुंठे । ते तो = ते । पड्या सदायरे = थया गरकाव रे । थारूं=तारूं । तू तो जड स्वरूप = जड संगे तुं जड । प्रगट हवे सांभळो रे = प्रगट सांभलारे । संसार = आ संसार । तृष्णा रूपजल = तृष्णा-जल । घणो रे = घणुं रे । न = नव । ते तो = ते । प्रधान = मित्र प्रधान । २१ वें पद के बाद छपी पुस्तक में इस प्रकार पाठ है = राजधानी ते तेवीसने भालवीरे, तेनी खबर राखे जण पंचरे" । मोलवे = भोळवे । ते = सवि । ते थी जाये नरक निगोदमां रे=पछी नाखे ते नरक निगोदमां रे । अनादि = अनंतो । नहि जाय रे = नवि चा॰र रे । तेणे = तिणे । छोड्या = वलि छोड्या । नहि = नवि । मुज चितना अभिप्राय रे = मुझ हृदय विरतंत रे । छे अनंत काय रे = जीव अनन्त रे । पूठ ते नहि करवे रे = ते पुंठ नवि फेरवे रे । देशना = हुं देशना । वतावूं = वतावं छुं । करि = फरी । तेने = तने । अंतिम पद के अंत में यह लेख और है—"तिहाँ तुझ थी नवि पहुंचाय रे ।

शब्दार्थ = उनमारग = उन्मार्ग कुमार्ग । परिहरो = छोडो । रूडी परे = भलि प्रकार से । अकल = स्वच्छ, सुन्दर । वोसिराय = छोडना । उजमाल = उज्ज्वल । अनाचीर्ण = जिसका आचरण न करने योग्य हो, अशुद्धाचार । अनवगाही = नहीं ग्रहण करने वाला । म्हालता = आनंद पूर्वक चलते हुए । मूकी- = छोडी । श्यो = क्यों । कदी = कभी । केम = कैसे । थारूं = तेरा । आटला = इतने । दहाडा = दिन । पूठे = पीछे । विवरो = व्योरा, विस्तार से वर्णन । अथाह = असीम । पंच = पांच इंद्रिय-श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श इंद्रिय । त्रेवीस = तेवीस, पांच इंद्रियों के तेवीस विषय । संचरे = संचय करके, एकत्रित करके । मोलवे = आकर्षित करके । एटलूं = इतना । प्रीछवूं रे = प्रश्न करना ।

श्री आदिजिन स्तवन*

राग–प्रभाती

आज म्हारे च्यारुं मंगल चार ।
देख्यो मैं दरस सरस जिनको, सोभा सुन्दर सार ॥आज०॥१॥
छिन छिन जिन मनमोहन अरचौ, घनकेसर घनसार ।
धूप उखेवो करो आरती, मुख बोलो जयकार ॥आज०। २ ।
विवध भांत के पुष्फ मगावो, सफल करो अवतार ।
समवसरण आदीसर पूजो, चौमुख प्रतिमा च्यार ॥आज०॥३॥
होयै धरी बारह भावना भावो, ए प्रभु तारण हार ।
सकल संघ सेवक जिनजी को, 'आनन्दघन' अवतार ।।आज०। ४॥

चौवीसे तीर्थंकर नुं तवन*

ऋषभ जिनेसर राजीउ मन भाय जुहारो जी ।
प्रथम तीर्थंकर[1] पति राजिउ[2] परिगह परिहारो जी ॥१॥

विजयानन्दन वंदीए, सव पाप पलायजी ।
जिम सूस्यर[3] नंदीए, सुरनर मन भाय जी ॥२॥

सभव भव-भय टालतो, अनुभव भगवत जी ।
मलपति गज-गति[4] चालतो सेवे सुर नर सतजी ॥३॥

अभिनन्दन जिन जयकरु, करुणा[5] रस धार जी ।
सुगति सुगति नायक वरु. मद मदन निवार जी ॥४॥

सुमति सुमत[6] दातारु. हुँ[7] प्रणमु ं कर जोडि जी ।
कुमति कुंमति परिहार कुं, अन्तराय परि छोड़ि[8] जी ॥५॥

पदम प्रभु प्रताप सूं परि वादि विभगी जी ।
जिम रवि-केहरि व्याप सूं. अंधकार मतंग जी ॥६॥

श्री सुपास निज[9] वास तें, मुझ पास निवास जी ।
कृपा करि निज दास नेइं, दीजइ सुखवास जी । ७॥

चंद्र प्रभु मुख चंदलो, दीठां सव सुख थाय जी ।
उपसम रस भर कदलो दुख[10] दालिद्र जायजी ॥८॥

सुविधि सुविधि विधि, दाखवइ राखइ निज पासजी ।
नवम अठम विधि दाखवइ[11], केवल प्रतिभास जी ॥९॥

सीतल सीतल जेम[12] अमी, कामित फलदाय जी ।
भाव सुं तिकरण सुध नमि, भवयण निरमाइ जी ॥१०॥

श्री श्रेयांस इग्यारमो, जिनराज विराजे जी ।
ग्रह नवि पीडइ बारमो जस सिर परे गाजे जी ॥११॥

वासपूज वसु पूज्य नरपति कुल-कमल दिनेश जी ।
आस पूरे सुरनर[13] जती, मन तणीय जिनेश जी ॥१२॥

विमल विमल आचारनी, तुझ शासन चाह जो ।
घट पट कट निरधार नइ, जिम दीपइ उमाहजो ॥१३ ।

अनन्त अनन्त न[14] पामिये गुण गण अविनास जी ।
तिन तुझ पद-कज, कामीइ, गणधर पद पासि[15] जी ॥१४॥
धरम धरम तीरथ करी, पंचम गति दाइ जी ।
एकंतक मत मद हरी, जिण बोध सवाइ[17] जी ॥१५॥
संतिक संति करी जगधणी, मृगलंछन सोहे जी ।
निरलंछन पदवी भणी, भवियण मण मोहइ जी ॥१६॥
कुंथनाथ तीरथपति चक्रधर पद धारजी ।
निरमल वचन सुधा राखे[18] निज पास जी ॥१७॥
श्री अरनाथ सुहामणो, अरे संतित साधे जी ।
वछित फल दाता भणो, जे वचन आराधे जी ॥१८॥
मल्ली वल्ली कामता वर सूर तस कहीइ जी ।
चरण कमल सिर नामिना, अगणित फल लाहिइ जी ॥१९॥
मुनिसुव्रत सुव्रत तणो, मणि खान सुहावइजी ।
वंछित पूरण सुरमणि, रमणि गुण गावइ जी ॥२०॥
नमि चरण चित राखिये, चेतन चतुराइ जी ।
परमारथ सुख चाखिये, मानव भव पाइ जी ॥२१॥
नेमनाथ ने एकमना[19] साइक नवि लागिजी ।
तिण कारण सूर घामणी, जण सगुण मागि जी ॥२२॥
पारस महारस दीजिये, जन जाचन आवे जी ।
अभय दान फल लीजियै[21] असरण पद पावे जी ॥२३
सिद्धारथ सुत सेवियइ, सिद्धारथ होइजी ।
च्याल[22] जंजाल न खेवीइं[23] परमारथ जोइ जी ॥२४॥
एय चौवीस तीर्थंकरु निजा मुन गुण गावु जी ।
जिन मत माण संचरुं 'आनन्दघन' पाउं जी ॥२५॥

*ये दोनों स्तवन श्री अगर चंद जी नाहटा बीकानेर के संग्रह से लिये गये हैं।१ तीरथि।२ जागियो।३ मुख सुचिर।४ पति।५ करुणी।६ मुगति।७ कूं।८ विछोड।९ त्यजिवास नई।१० दुष्ट।११ नाखवें।१२ जिन।१३ नरे।१४ भव।१५ धारि।१६ दातार।१७ सुवार।१८ तजी त्रिपदी जस सारजी।१९ कामना।२० नाथ स।२१ दीजीयें।२२ आल २३ वेखियें।

आनन्दघन-चौवीसी

श्री आनन्दघन चौवीसी स्तवन

श्री ऋषभ जिन स्तवन (१)

(राग मारू: करम परीक्षा करण कुंवर चल्यो, ए देशी)

ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ कंत।
रींझ्यो साहव संग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त ।।ऋ०।।१।।
प्रीत सगाई जग मां सहु करै, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय ।।ऋ०।।२।।
को कन्त कारण काष्ठ भक्षण करै मिलस्यूं कत नै धाय।
ए मेलो नवि कदिये संभवे, मेलो ठाम न ठाय ।।ऋ०।।३।।
कोइ पति रजन अति घणुं तप करै, पति रंजान तन ताप।
ए पति रंजान मैं नवि चित धर्‌यूं, रजन धातु मिलाप ।।ऋ०।।४।।
कोइ कहै लीला ललक अलख तणी, लख पूरे मन आस।
दोष रहित नै लीला नवि घटै, लीला दोष विलास ।।ऋ०।।५।।
चित्त प्रसत्ति पूजन फल कह्यूं, पूजि अखंडित एह।
कपट रहित थई आतम अरपणा, 'आनन्दघन' पद रेह ।।ऋ०।।६।।

(१) पाठान्तर—करम....चाल्यो के स्थान पर 'आज नेहजोरे दीसै नाहलो (अ)। चाहूँ = चाहुंरे (अ, ऊ)रींझ्यो = रींझियो (इ.) साहव = साहिव (अ, आ, ई, उ, ऊ)। जगमां = जग मांहि (अ), कहीं (में) भी देखा जाता हैं। प्रीत = प्रीति (अ; आ,)। करै = करइ (अ, आ,)। को = कोई (अ, आ, ऊ), कोइक (उ)। काष्ठ = काठ (अ,) । मिलस्यूं = मिलस्युं (अ, इ, ई,)। नै = ने (आ, इ, ई, उ,) कदिइ = कहीइ (अ,) कहियै (आ, इ, उ, ऊ,)। ने = नै

(अ) । घणु = घण (अ); घणी (आ, उ) घणो (ऊ) । रंजन = रंजै (अ, आ,) । धर्यूं = कहीं कहीं धर्यो भी पाठ है । धातु=धात (अ,) ललक=अलख (इ, ई, उ, ऊ) । लीला नवि=लीला किम (अ, आ,) । रहित नै = रहित में (आ,इ,ई,) प्रसत्ति = प्रसनै (आ, इ, ई, उ, ऊ) । कह्यूं = कह्युं (अ, इ, उ,) पूजि = पूज (अ, आ, इ, ई, ऊ) । थई = थइ (ऊ) ।

शब्दार्थ—प्रीतम = अत्यन्त प्रिय स्वामी । कंत = पति, स्वामी । रीझ्यो = प्रसन्न हुआ । परिहरै = छोडना, त्यागना । निरुपाधिक=उपाधि रहित; अलौकिक । सोपाधिक=उपाधि सहित । को = कोई । काष्ट = काठ, लकड़ी । धाय = दौडकर । कदिये=कभी भी । ठाम = स्थान । ठाय = स्थिति । रंजन = प्रसन्न करना । ललक = उत्कट अभिलाषा । प्रसत्ति = प्रसन्नता । रेह = रेखा, चिन्ह, लक्षण ।

अर्थ—शुद्ध चेतना का अपनी सखी श्रद्धा के प्रति वचन—

श्री ऋषभदेव जिनेश्वर मेरे प्रियतम हैं, इसलिये मैं अब और किसी दूसरे को अपना स्वामी बनानें की इच्छा नहीं करती हूं । प्रसन्न हुये मेरे ये स्वामी मेरा साथ कभी नहीं छोडेंगे । मेरे इस प्रसन्न हुये स्वामी के सम्बन्ध की आदि तो है किन्तु अंत नहीं है अर्थात् मेरा और इनका साथ अब छूटने वाला नहीं है, अनंत काल तक रहने वाला है ।।१।।

संसार में प्रेम-सम्बन्ध तो सब ही करते हैं किन्तु वास्तव में वह कोई प्रेम-सम्बन्ध नहीं है । मेरा (शुद्ध चेतना का) प्रेम संबंध तो निरुपाधिक है उपाधि रहित है । और संसार में जो प्रेम-संबंध है वह उपाधि सहित है और आत्म ऋद्धि को खोनेवाला है—विनाश करने वाला है ।।२।।

संसार में प्रेम संबंध के कारण कोई स्त्री अपने पति की मृत्यु पर उसकी चिता के साथ जल जाना चाहती है और आशा करती है कि इस तरह

सहगमन से पति के साथ शीघ्र मिलन हो जावेगा। किन्तु मिलन का कोई निश्चित स्थान न होने के कारण इस प्रकार कभी संभव नहीं है ॥३॥

कोई पति को प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रकार के उग्र तप करती है और समझती है कि शरीर को तपाने से ही स्वामी प्रसन्न होंगे। इस प्रकार से मिलाप की इच्छा तो शारीरिक धातु (तत्त्व) के मिलाप की इच्छा है। शुद्ध चेतना करती है, इस प्रकार से पति को प्रसन्न करना मैंनें कभी सोचा ही नहीं। वास्तव में पति को प्रसन्न करने का तरीका तो धातु मिलाप की तरह है। जिस प्रकार धातु (सोना—चांदी) मिल कर, एक रस हो जाता है उसी प्रकार पति—स्वामि को प्रसन्न करने के लिये उसकी प्रकृति में अपने आप को मिलाकर समर्पित कर, एक रस हो जाना है ॥४॥

"प्रकृति मिले मन मिलत है, अनमिल ते न मिलाय।
दूध दहि सों जमत है, कांजी ते फटि जाय ॥"

कितने ही लोग कहते हैं कि ईश्वर की यह लीला है— क्रीडा है वह सब की इच्छाओं को जानता है और उन इच्छाओं को जानकर सब की आशायें वह पूर्ण करता है। शुद्ध चेतना इस प्रकार कहती है दोष रहित परमात्मा में यह लीला—क्रीडा संभव नहीं होती क्योंकि लीला तो दोषों की रंग-भूमि है ॥५॥

पति की चित्त-प्रसन्नता ही पति-भक्ति का फल है। यह सेवा (पति को प्रसन्न रखना) ही अखंडित पूजा—भक्ति है। कपट रहित होकर भिन्न-भाव त्याग कर अपने आपको पति के समर्पण कर देना ही भगवान में चित्तवृति को लीन करना ही—आनंदघन के समूह—मोक्ष पद की रेखा है। अर्थात् अनंत सुखों के प्राप्त करने का मार्ग है ॥६॥

श्री अजित जिन स्तवन (२)

(राग आसावरी—म्हारो मन मोहयो श्री विमला चले रे, ए देशी)

पंथडो निहालूं बीजा जिन तणुं, अजित अजित गुण धाम।
जे तें जीत्या तिण हूँ जीतियो, पुरुष किस्यूं मुझ नाम ॥प०॥१॥

चरमें नयन करि मारग जोवतो, भूल्यो सयल संसार ।
जिण नयने करि मारग जोइये नयण ते दिव्य विचार । पं०॥२॥
पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां. अंधो अंध पलाय ।
वस्तु विचारै जो आगमैं करी, चरण धरण नहीं ठाय ॥पं०॥३॥
तर्क विचारै वाद परम्परा, पार न पहुंचै कोय ।
अभिमत वस्तु वस्तु गतें कहै ते विरला जग जोय ॥पं०॥४॥
वस्तु विचारै दिव्य नयण तणो विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे तरतम वासना वासित बोध अधार ।पं०॥५।
काललब्धि लहि पंथ निहालस्यूं. ए आसा अवलम्ब ।
ए जन जीवै जिनजी जाणज्यो, 'आनन्दघन' मत अम्ब ॥पं०॥६॥

(२) पाठान्तर—म्हारो....विमला चले रे=जिन प्रतिमाहो-एहनी ढाल (अ) पंथडो....नणुं=वाटड़ी विलोकूं रे बीजा जिन तणी रे (कहीं-कहीं) । निहालूं=निहालो (अ) तणु=तणो (अ, आ, उ, ऊ) । तैं=तिणे (अ) । जीतियो=जीनीयउ (अ) । किस्यूं=स्युं (अ) मुझ=माहरो (अ) जोवतो=जोई हो (अ), जोवतां (इ, ई) । भूल्यो=भूलो (अ, आ. इ) भुल्लो (ई) । करि=कर (उ) । अनुभव=अनुभवी (अ) जोवता=जोइं (अ) पलाय =पेलाय (अ), पुलाय (उ, ऊ). कहीं पर 'पीलाय' भी है । आगमे=आगम (अ, इ) । करी=कमी (अ) । पहुंचै=पौहचे (उ) । कोय=कोई (अ) । गते =गति (अ) । विरला=विरलो (अ) । जोय=जोई (अ) । विचारै=विचारूं (इ ई) अधार=आधार (अ) आधार (उ ऊ) । निहालस्यूं=निहालसै (अ) निहालस्यें (उ) । आसा=आस्या (ऊ) जाणज्यो=जाणयो (अ) जाणजो (ई, उ) ।

शब्दार्थ—पंथडो=रास्ता, राह, मार्ग. । निहालूं=देखता हूं । बीजा=दूसरे । तणुं=का । अजित=अजेय, द्वितीय तीर्थंकर का नाम । धाम=घर । जे=जिनको । तें=नमने । किस्यूं=कैसा । तिण=उनसे । हूं=मैं । चरम=चर्म । जोवतो=देखता हुआ । सयल=सकल, सब । पलाय

= दौडना । ठाय = स्थान । अभिमत = इच्छित । वस्तु = तत्व । विरला = कोई । वासित=गंध युक्त किया हुआ । काल लब्धि=योग्य समय । लहि = प्राप्त कर । अवलंब = सहारा । अम्ब = आम्र,आम ।

अर्थ—दूसरे श्री अजितनाथ जिनेश्वर के उस मार्ग की ओर देखता हूँ जिस मार्ग ने उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है और जिसका उन्होंने उपदेश दिया है । आप गुणनिष्पन्न नाम के धारक हैं अर्थात् आपका 'अजित' नाम और गुणधाम विशेषण युक्ति संगत है, क्योंकि आप रागादि शत्रुओं से अजेय है और अनंत ज्ञानादि गुणों के स्थान हैं । मेरा पुरुष नाम कैसा ? अर्थात् पुरुपार्थ न होने से मेरा 'पुरुष' कहलाना निरर्थक है क्योंकि आपने जिन पर (रागादि शत्रुओं पर) विजय प्राप्त की थी, उनसे मैं जीत लिया गया हूँ अर्थात् परास्त हो गया हूँ ॥१॥

पुरुष धर्म पुरुषत्वा, विना शक्ति न लखाय ।
जल-अवधारण शक्ति ते, घट घटता प्रगटाय ॥ (श्री ज्ञान सारजी)

चमडे के नेत्रों से—वाह्य नेत्रों से आपके मार्ग को— आप द्वारा वताये हुये वीतराग मार्ग को (आध्यात्मिक मार्ग को) देखते हुये तो सर्व संसार भूला हुआ ही है—भटकता हुआ ही है । जिन नेत्रों के द्वारा आपका मार्ग देखा जा सकता है उन नेत्रों (आंखों) को तो द्विव्य (आलौकिक) ही समझो । अर्थात् आपके स्याद्वाद मार्ग को देखने के लिये सम्यक् ज्ञान-चक्षु ही उपयोगी हो सकते हैं ॥२॥

गुरु परम्परा के अनुभव की ओर देखा जाय तो ऐसा लगता है कि अन्धा अन्धे के पीछे दौडता जा रहा है । अर्थात् अनेक परम्परायें परस्पर की निंदा में राग-द्वेष वृद्धि करने वाली हैं । अंधे के पीछे अंधों की दौड जैसी हैं । उनसे सत्य मार्ग नहीं मिल सकता है । यदि आगमों के—सिद्धान्त वाक्यों के द्वारा मार्ग का विचार किया जाय तो पांव रखने के लिये भी स्थान नहीं हैं । अर्थात् आगमों के अनुसार कषाय आदि पर विजय प्राप्त करना अति कठिन कार्य है ॥३॥

तर्क को प्रमाण मानकर आपके मार्ग का विचार किया जाय तो वादों की परम्परा ही दृष्टिगत होगी। उत्तर-प्रत्युत्तर का अंत ही नहीं दिखाई देता। इसलिये तर्क द्वारा आपके मार्ग को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इच्छित मार्ग (भगवान का मार्ग) का यथार्थ स्वरूप कहने वाले तो संसार में विरले ही दिखाई पडते हैं। आत्मानुभूति के बिना कौन कह सकता है ॥४॥

वस्तु को—यथार्थ मार्ग को बताने वाले दिव्य—आलौकिक चक्षुओं का (ज्ञानियों का) तो इस समय निश्चय ही वियोग हो गया है। किन्तु इस समय तो क्षयोपशम—योग्यता की तरतमता (न्यूनाधिक) के अनुसार ही न्यूनाधिक ज्ञान, संस्कार हैं वे ही इस समय श्रद्धा के आधार हैं ॥५॥

अपने प्रियतम [आराध्य] के लिये कवि का हृदय छटपटा रहा है। वह उसकी खोज में अनेक आचार्यो के पास जाते हैं, अनेक शास्त्र पढते हैं, तर्क वितर्क करते हैं किन्तु आराध्य का मार्ग तो मिलता नहीं है। इससे उन्हें निश्चय होता है कि इस जन्म में तो अचूक साधन तो दुर्लभ है किन्तु जो साधन मिले, उससे जितना भी लाभ उठाया जाय, उठा लेना चाहिये। आगे अपने हृदय को सांतवना देते हुये कहते है—

हे अतिशय आनन्द के देने वाले अनेकान्तवाद के आम्रफल जिनेश्वर देव ! काललब्धि प्राप्त होने तक-भव भ्रमण की अवधि के परिपक्व होने तक-योग्य समय प्राप्त होने तक—मैं आपके मार्ग की प्रतीक्षा करूंगा। यह सेवक-भक्त संयम रूप परमार्थ जीवन व्यतित करता हुआ और आध्यात्म गुण को निरन्तर वृद्धि करता हुआ आनन्दघन-दर्शन रूप आम्र वृक्ष से दिव्य अमृत फल की [मुक्ति की] आशा में जी रहा है ॥६॥

यह प्रकृति का नियम है कि समय आने पर ही आम पकता है और कार्य की सिद्धि भी समय आने पर ही होती है।

काल लब्धि की परिपक्वता पुरुषार्थ बिना नहीं होती है। आम योग्य क्षेत्र में रोपण करने के पश्चात बराबर जल सिंचन, खाद डालने और बराबर

उसकी सम्भाल करते रहने के पश्चात ही समय आने पर—ऋतु आने पर पकेगा। यदि सिंचाई आदि नही की जावेगी तो आम शुष्क हो जावेगा—सूख जावेगा उसी प्रकार आत्मार्थी पुरुष निरन्तर प्रयत्न करता रहेगा—पुरुषार्थ करता रहेगा तो काललब्धि प्राप्त कर—समय आने पर आनन्द स्वरूप मोक्ष फल प्राप्त कर लेगा। वीतराग सत् पुरुष की आज्ञा अप्रमत होकर उत्साहित होकर आराधन करना ही काललब्धि प्राप्ति का प्रमुख उपाय है अर्थात् जो जिनेश्वर की आज्ञानुसार वैराग्य भाव से श्रद्धापूर्वक मंद कषायी और मंद विषयी होकर महाव्रतादि पालता हुआ आत्म भाव में मग्न रहता है वह काललब्धि शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

हे जिनेश्वर भगवान ! मैं उस ही समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि कब मेरी काललब्धि परिपक्व हो और मुझे दिव्य नयन की प्राप्ति हो जिससे मुझे दिव्य दर्शन मिले। वह प्राप्ति मुझे देर अवेर अवश्य मिलेगी। हे कृपालुदेव ! ऐसी मुझे पूरी पूरी आशा है। कारण कि आपकी परम प्रीति—भक्ति रूपी बीज को मैंने अपने चित्त रूपी क्षेत्र में रोपण कर लिया है तो आनंदघन रूप आम्र फल अवश्य काललब्धि पाकर—समय आने पर—ऋतु आने पर पकेगा ही। इसी आशा के अवलम्बन से मैं जीवन व्यतीत कर रहा हूँ।

श्री सम्भव जिन स्तवन (३)

(राग-रामगिरी—रातडी रमीने किहां थी आविया, ए देशी)

संभव देव ते धुर सेवो सव रे, लहि प्रभु-सेवन भेद।
सेवन कारण पहिली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद ॥सं०॥१॥

भय चचलता जे परनामनी रे, द्वेष अरोचक भाव।
खेद प्रवृत्ति करतां थाकिये, दोष अबोध लखाव ॥सं॥२॥

चरमावर्तन चरमकरण तथा, भव परिणति परिपाक।
दोष टलें वलि दृष्टि खुलै भली, प्राप्ती प्रवचन वाक ॥सं॥३॥

परिचय पातक घातक साधुस्यूं, अकुशल अपचय चेत ।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करि, परिसीलन नय हेत ॥सं०॥४॥
कारण जोगे कारज नीपजै, एमां कोइ न वाद ।
पिण कारण विण कारज साधियै, ते निज मति उन्माद । सं० ॥५॥
मुग्ध सुगम करि सेवन आदरै, सेवन अगम अनूप ।
दीज्यो कदाचित सेवक याचना, 'आनन्दघन' रस रूप ॥सं०॥६॥

(३) पाठान्तर—राग,रामगिरी॥..अवियारे = रागमारू—करम परीक्षा करण कुमर चाल्यो रे (अ) संभव = ""सवेरे = संभवदेव तो चित्त धरि सेवियै (अ, आ) लहि = लहीइं (अ) प्रभु=ज्यु (अ, आ) । चंचलता = चंचलता हो (अ, इ, ई, उ) प्रवृत्ति = प्रवृत्ति हो (अ, इ, ई, उ) अवोध = एवोधि (अ); अवोधि (उ) । लखाव = लखाय (उ) चरम = हो चरम (आ, इ, ई) परिणति = परिणत (अ), परणित (ऊ) । प्राप्ति = प्रापति (अ, आ) प्रापित्त (उ) वाक = पाक (अ) । पातक = पातिक (इ, ई, ऊ) सावस्यूं = सावस्यु (अ, उ), साधसूं (आ, इ, ऊ) मनन = मनने (उ) हेत = हेतु (अ, ऊ) जोगे = योगे (अ, आ) जोगै हो (इ, ई, उ) । कारज = करिज (अ) । एमां = एहमां (अ, आ, उ, ऊ) पिण = जिण (अ, ई) विण = विणु (अ, आ, ई) । मति = मत (अ, उ) । मुग्ध = मुगध (अ, आ, ऊ) दीज्यो = देज्यो (अ, आ, ऊ) देजो (उ) । 'देयो" भी कहीं पाठ है ।

शब्दार्थ—धुर = ध्रुव, सर्व प्रथम । अभय = भयरहित, निर्भय । अद्वेष = द्वेष रहित । अखेद = खेद—दुःख रहित । परणामनी = मनके भावों की । द्वेष = वैर । अरोचक = अरुचिकर । अवोध = अज्ञानता । लखाव = चिन्ह । चरमावर्तन = अन्तिम फेरा, जीव अखिल लोक के सम्पूर्ण पुद्गलों का स्पर्श व त्याग कर चुकता है, वह एक पुद्गल परावर्त्त है । इस एक पुद्गल परावर्त्त में जीव अनन्त द्रव्य, भव, और भाव का स्पर्श व त्याग करता है । द्रव्य से अनन्त पुद्गल परमाणु, क्षेत्र से लोकाकाश के सर्व प्रदेश, काल से—

अनंत अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी, भव से अनंत जन्म मरण, और भाव से अनंत अध्यवसाय स्थानों को यह जीव परावर्तता है। इस काल चक्र में भ्रमण करता भव्यजीव किसी समय अंतिम भ्रमण चक्र को प्राप्त कर लेता है। चरम करण = अंतिम आत्म परिणाम विशेष, दाव । भवपरिणति = भवस्थिति । परिपाक = परिपक्व होना, पूर्ण होना । प्रवचन वाक = सिद्धान्त वाक्य । परिचय = सत्संग, प्रेम संबंध । पातक = पाप । घातक = नष्ट करने वाला । अकुशल = खराब वृत्ति । अपचय = नष्ट होना । परिसीलन = भली भांति गहराई में घुसकर पढना । मुग्ध = भोला, मूर्ख, भोगोपभोग में आसक्त । याचना = मांग, भिक्षा ।

अर्थ—तृतीय जिनेश्वर देव श्री सम्भवनाथ की स्तवना करते हुये कवि कहते हैं—

सेवा का मर्म जानकर सब लोगों का पहला कर्तव्य श्री सम्भवनाथ जिनेश्वर देव की सेवा–भक्ति करना है। सेवा–भक्ति की प्राप्ति की प्रथम भूमिका—सोपान, निर्भयता, अद्वेष–प्रेम और अखेद है।

भगवान सम्भवनाथ की सेवा–भक्ति के लिए, साहस, प्रेम और आनंद की अत्यन्त आवश्यकता है, इन तीनों गुणों के विना मनुष्य जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। भय ईर्षा और शोक ये मनुष्य के महान शत्रु हैं। जब तक इन तीनों अंतरंग शत्रुओं पर विजय न प्राप्त करली जावे तब तक मनुष्य भगवद् भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता ॥१॥

मानसिक चंचलता से भय, अरूचि से द्वेप और किसी प्रवृत्ति में हतोत्साह होने से खेद–शोक उत्पन्न होता है। ये तीनों दोप अज्ञान के चिन्ह हैं। सप्त महाभयों से चित्त चंचल होता है और उनके विसर्जन से अभय प्राप्त होता है। सत्कर्मो में—धार्मिक कार्यों में रुचि ही अद्वेप है। मैत्री भाव है। और सद्प्रवृतियों में उत्साह पूर्वक–जागरूक होकर लगे रहना ही अखेद है, अर्थात् परमार्थवृत्तियों में रस लेते हुए थकान न होना, दृढता न खोना ही

अखेद है। अतः भय द्वेष और खेद को त्याग कर अभय, अद्वेष और अखेद को ग्रहण करना ही श्री सम्भवनाथ भगवान की परम सेवा है ॥२॥

जिसकी चरमावर्तन—अनंत पुद्गल परावर्तनों में अन्तिम पुद्गल परावर्तन में अन्तिम उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बाकी रही हो; जिसने चरमकरण अपूर्वकरण तथा अनिवृतिकरण अर्थात् अनूतपूर्व शुभपरिणाम–हेयोपादेय का ज्ञान (मिथ्यात्व, कषाय और अज्ञान हेय और सम्यक् ज्ञान उपादेय) तथा मिथ्यात्व के उदय को दूर कर सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य शुभ परिणाम कर लिया हो अर्थात् ग्रंथि भेद कर लिया हो (प्रथम गुण स्थान से चौथा गुण स्थान प्राप्त कर लिया हो) और जिसकी भव भ्रमण की अवधि पूर्ण रूप से पक गई हो, उसके भय, द्वेष खेद (भय, ईर्षा और शोक) आदि दोष दूर हो जाते हैं। उसके दिव्य नेत्र खुल जाते हैं (योग दृष्टि मिल जाती है) और उसे प्रवचन वाणी—सिद्धान्त वाक्यों की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् सिद्धान्त वचनों पर (जिनेश्वर वाणी पर) पूर्ण श्रद्धा हो जाती है ॥३॥

पापों को नाश करने वाले, सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप मोक्ष मार्ग के साधन और समिति गुप्तियों के पालन में जागरुक साधुओं के परिचय से सत्संग से अकल्याणकारी वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है। तब आध्यात्मिक ग्रंथ के सुनने और मनन करने एवं तत्वों का नैगम आदि नयों द्वारा भली भांति विचार करने से प्रभु सेवा-भक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो जाता है ॥४॥

योग्य कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है—सन्देह नहीं है। बिना कारण ही कार्य की सिद्धि चाहें तो यह अपनी बुद्धि का पागलपन है—मूर्खता है। कारण के अनुरूप ही कार्य की सिद्धि होती है। जिस कार्य का जो कारण नहीं है उसे उसका कारण मानकर कार्य सिद्धि मानना मात्र पागलपन है।

जो भय, ईर्षा और शोक के त्याग बिना ही, आत्मज्ञानी साधुओं के सत्संग बिना ही और आध्यात्मिक ग्रंथों के श्रवण मनन बिना ही आत्मोत्थान चाहते हैं, वे अपनी मूर्खता का परिचय देते हैं ॥५॥

काज विना न करे जिय उद्यम, लाज विना रण मांहि न झूझै।
डील विना न सधे परमारथ, सील विना सत सों न अरूझै॥
नेम विना न लहे निहचेपद, प्रेम विना रस रीति न बूझै।
ध्यान विना न थँमें मन की गति, ज्ञान विना शिव पंथ न सूझै॥

(समयसार नाटक; महा कवि बनारसीदास)

कवि सेवा-भक्ति मार्ग की भिक्षा मांगते हुये, सेवा—भक्ति मार्ग की कठिनता प्रदर्शित करते हैं—

भोले लोग सेवा-भक्ति को सुगम जानकर आदरते है—स्वीकार करते हैं किन्तु सेवा का मार्ग (उपासना) बडा ही अगम्य और अनुपम [बेजोड] है। हे ज्ञानानंद रस से परिपूर्ण संभवदेव! मुझ सेवक को भी कभी यह सेवा (उपासना) प्रदान करना, यही इस सेवक की प्रार्थना है॥६॥

उपासना भागवति सर्वेभ्योऽपि गरीयसी।
महापापक्षयंकरी तथा चोक्तं परैरपि॥ (श्रीमद्‌यशोविजय)

श्री अभिनन्दन जिन स्तवन (४)

(राग—धन्याश्री सिंधुओ—आज निहेजो रे दीसै नाहलो— ए देशी)

अभिनन्दन जिण दरसण तरसियै, दरसण दुरलभ देव।
मत मत भेदे जो जइ पूछियै; सहु थापे अहमेव॥अभि०॥१॥
सामान्यै करि दरसण दोहिलूं; निरणय सकल विशेष।
मद में घेर्‌यो हो आंधो किम करै रवि ससि रूप विलेख॥अभि०॥२॥
हेतु विवादे चित धरि जोइयै; अति दुरगम नयवाद।
आगम वादे, गुरु गम को नहीं, ए सबलो विषवाद॥अभि०॥३॥
घाती डूंगर आडा अति घणा, तुझ दरसण जगनाथ।
धीठाई करि मारग संचरूं, सेंगू कोइ न साथ॥अभि०॥४॥

दरसण दरसण रटतो जो फिरूँ, तो रण-रोझ समान।
जेहनै पिपासा अमृत पान नी, किम भाँजै विष-पान ॥अभि०॥५॥
तरस न आवै मरण जीवन तणो, सीझै जो दरसण काज।
दरसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज ॥अभि०॥६॥

(४) पाठान्तर—रागधन्याश्री....नाहलो = साधुजी न जाइये पर घर एकला (अ)। दरसरण = दरिसरण (इ, ई, उ)। तरसिये = तरसीयै (अ, ऊ)। कहीं कहीं 'तरसीयो,' तरसियों भी पाठ है। दुरलभ = दुर्लभ (इ, ई, उ, ऊ)। दरशरण = दर्शन (इ)। जो जइ = जो ते (अ), जो जई (उ), ज्यो जइ (ऊ)। पूछियै = पूंछिइं (उ)। दोहिलूं = दोहिलौ (अ, आ) दोहिनुं (ऊ)। निरणय = निर्णय (अ, इ, ई)। मद में = छद मे (अ)। घेर्यो = धार्यो हो (अ) आंधो = आंधौ (आ), अन्धो (ई, उ)। धरि = घर (इ, ऊ)। सैंगू = सैंगू (आ), सेंगू (इ, ऊ) जो = जे (अ), जौ (ऊ)। तो = ते (अ), तौ (ऊ)। रण = रन (अ, आ) रनि (इ, ई) रिण (ऊ)। जेहनें=जे (इ), जै ने (ई)। भांजै=भाजै(अ, आ, ऊ)। विष = विस (अ, आ, ऊ)। मरण जीवन = जीवन मरण (अ, आ)। तणो = तणुं (ई)। दुर्लभ = दुरलभ (आ, ऊ)।

शब्दार्थ—दरसण = दर्शन, देखना, सम्यग्दर्शन। तरसिये = वस्तु प्राप्ति के लिये उत्कंठित होना या व्याकुल होना। मत मत = अलग अलग दर्शन वालों से। सहु = सब। अहमेव = अहंकार। दोहिलूं = दुर्लभ। निरणय =निर्णय, निश्चय, फैसला। विलेप = जांच करना, वताना, विश्लेशण करना। घाती = मारक। डूंगर=पहाड। घाती डूंगर=चार घाती कर्म, ज्ञाना वरणी, दर्शनावरणी मोहनीय, अंतराय। आडा = रूकावट, वीच में, वाधक। धीठाई = धृष्टता। संचरू = संचरण करूं, चलूं। सैंगू = मार्ग दर्शक। रणरोझ = वन में नील गाय की तरह, अरण्यरोदन। भांजै = भंग होवे, दूर होवे, मिटै। तरस त्रास = कष्ट। सीझै = सफल हो।

अर्थ—श्री अभिनन्दन जिनेश्वर के लिए तरस रहा हूँ। हे जिनेश्वर देव! आपका दर्शन पड़ा दुर्लभ है। (यहां 'दर्शन' शव्द में श्लेष है) भिन्न २

दर्शन शास्त्रियों के पास जाकर पूछा, तो सबको अपने ही दर्शन के श्रेष्टत्व का गर्व करते देखा ॥१॥

दर्शन शास्त्र का सामान्य अध्ययन ही कठिन है, फिर सब का पढ़ कर निर्णय करना तो अत्यन्त ही कठिन है। नशे में गर्क (डूबा) हुआ अन्धा सूर्य और चन्द्रमा के बिम्ब को (रूप को) कैसे पहिचान सकता है ? ॥२॥

आपका दर्शन कैसे प्राप्त होगा ? इसके हेतुओं के विवाद में (झंझट में) चित्त लगाकर देखा जाय तो नयवाद को समझना बहुत ही दुष्कर है। आगम के ज्ञाता सद्गुरु भी कोई नहीं मिल रहे हैं। इस लिए चित्त में उद्वेग है— असमाधि है ॥३॥

हे त्रिभुवन स्वामी! आपके दर्शन में अन्तराय डालने वाले—बाधा डालने वाले अनेक घाती पर्वत (घाती कर्म-ज्ञाना वरणी, दर्शना वरणी, मोहनीय और अन्तराय) बाधक हो रहे हैं। यदि धृष्टता से (हिम्मत करके) मार्ग पर चलता हूँ तो कोई ज्ञानी का साथ भी नहीं मिलता है ॥४॥

हे नाथ! आपका दर्शन कैसे प्राप्त होगा ? यह लोगों से पूछता फिरता हूँ तो जंगल की रोझ-गाय के समान लोग मुझे पागल समझते है। (रोझ गाय जंगल में प्यास से जिस प्रकार पानी के लिए भटकती फिरती हैं और पानी नहीं मिलता हैं उसी प्रकार दर्शन के लिए भटकता हुआ मैं हो रहा हूँ) जिसे आत्म साक्षात्कार रूपी अमृत पीने की इच्छा हो, उसकी पीपासा (प्यास) मतवादियों के सिद्धान्त रूपी विष से कैसे तृप्त हो सकती है ? ॥५॥

हे नाथ ! मुझे जीवन और मृत्यु से कुछ भी त्रास—कष्ट नहीं है। मुझे तो आपका दर्शन प्राप्त हो जाय तो मेरे सब कार्य सिद्ध हो जावें। हे अनन्त आनन्द के धनी ! यों तो आपका दर्शन बहुत ही दुर्लभ है किन्तु आपकी कृपा से तो बहुत सुलभ है ॥६॥

श्री सुमति जिन स्तवन (५)

(राग–वसन्त या केदारो)

सुमति चरण कँज आतम अरपण, दरपण जिम अविकार। सुग्यानी।
मति तरपण वहु संमत जाणिये, परिसरपण सुविचार ॥सु०॥१॥

त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, वहिरातम धुर भेद ।सु०।
बीजो अन्तर-आतम, तीसरो, परमातम अविछेद ॥सु०॥२॥

आतम वुद्धे कायादिक ग्रह्यो, वहिरातम अघरूप ।सु०।
कायादिक नो साखीधर रह्यो. अन्तर आतम भूप ॥सु०॥३॥

ज्ञानानन्दे पूरण पावनो, वरजित सकल उपाध ।सु०।
अतीन्द्रिय गुण गण मणि आगरू, इम परमातम साध ॥सु०॥४॥

वहिरातम तजि अन्तर आतमा, रूप थई थिर भाव ।सु०।
परमातमनुं आतम भाववूं, आतम अरपण दाव ॥सु०॥५॥

आतम अरपण वस्तु विचारतां, भरम टलै मति दोष ।सु०॥
परम पदारथ सम्पति संपजै, 'आनन्दघन' रस पोष ।सु०॥६॥

(५) पाठान्तर—राग....केदारो = कागलीयो करतार–ढाल ऐहनी (अ) कँज = कमल (अ) दरपण = दर्पण (ल)। तरपण = तर्पण (इ, ई)। परिसरपण = परिसर्पण (इ, ई) परसरपण (ऊ)। धुर = धूरि (अ, ई उ) कायादिक = कायादिक नौ (अ), अघरूप = अघनूप (अ)। आतमभूप=आतम रूप (ल, इ, ई, उ, ऊ)। वरजित = वर्जित (इ, ई) उपाध = उपाधि (अ, आ- उ, ऊ)। अतीन्द्रिय = अतिइन्द्रीय (ल)। गुण गुण = गुणि (अ) आगरू = आगरौ (ल)। साध = साधि (अ, आ, उ)। तजि = तजी (ल, उ) तज (ऊ)। भाववूं = वछुं (ऊ)।

शब्दार्थ—कँज = कंज, कमल। अरपण = अर्पण करना, भेंट करना। दरपण = मुख देखने का कांच। अविकार = विकार रहित, मलीनता रहित।

मति = बुद्धि । तरपण = तर्पण, तृप्त करना । परिसपण = अनुगमन करना । त्रिविध = तीन प्रकार की । सकल = सब । तनुधर = शरीरधारी । गत = गई हुई, रही हुई । धुर = प्रथम । अविच्छेद = अखंड, अविनाशी । अघ = पाप । साखीधर = साक्षी, गवाह, ज्ञाता, द्रष्टा । पावनो = पावन, पवित्र । वरजित = त्यक्त, छोड़ा हुआ । उपाध = उपाधि, विघ्न, बाधा । आगरू = खान, खजाना । भाववूं = विचारना । दाव = उपाय । भरम = भ्रम, संशय । परम पदारथ = मोक्ष । संपजै = प्रगटे, उत्पन्न होय ।

अर्थ—दर्पण के समान अविकारी और निर्मल श्री सुमतिनाथ जिनेश्वर के चरण कमलों में आत्म समर्पण करता हूँ । यह बहुत लोगो के द्वारा मान्य और बुद्धि की तृप्ति करने वाला—संतोष करने वाला है । अतः इस विचार का ही अनुगमन करना चाहिये ॥१॥

समस्त देहधारियों में आत्मा की स्थिति तीन प्रकार से है । प्रथम बहिरात्मा, द्वितीय अन्तरात्मा और तृतीय अविच्छिन्न (अविनाशी-अखण्ड) परमात्मा ॥२॥

देहादिक पुद्गल पिंड को आत्म बुद्धि से ग्रहण करना (आत्मा समझना) पाप रूप बहिरात्म भाव है । देहादि के कार्यों में साक्षी (गवाह) रूप से दर्शक हो कर रहने वाला ही राजा अन्तरात्मा है ॥३॥

सम्पूर्ण उपाधियों से रहित (अविकारी), परम पवित्र, ज्ञानान्द से परिपूर्ण (भरा हुआ) और इन्द्रियातीत (इन्द्रियों से न जाना जाने वाला) अनेक गुण रत्नों का खजाना, परमात्मा को समझो ॥४॥

बहिरात्म भाव (पुद्गलानन्द) को त्याग कर धैर्य पूर्वक अन्तराभिमुख हो अर्थात् आनन्द की खोज अपने अन्दर कर परमात्म स्वरूप का चिन्तन ही आत्म-समर्पण का श्रेष्ठ उपाय है ॥५॥

आत्मार्पण तत्व पर विचार करने से बुद्धि का महान दोष—संशय जाता रहता है । ज्ञान रूपी महान संपदा प्रगट होती है जो पूर्णानन्द-रस को पुष्ट करने वाली है ॥६॥

श्रीपद्मप्रभ जिन स्तवन (६)

(राग–मारू तथा सिन्धुः चांदलिया सदेशो कहिजे म्हारा कंत ने रे, ए देशी)

पदम प्रभु जिन तुज मुझ आंतरू, किम भांजे भगवन्त ।
करम विपाकै कारण जोइनै, कोई कहै मतिवन्त ॥पदम०॥१॥
पयइ ठिई अणुभाग प्रदेशथी, मूल उत्तर बहु भेद ।
घाती अघाती बंधोदयोदीरणा, सत्ता करम विच्छेद ॥पदम०॥२॥
कनकोपलवत पयडी पुरुष तणी, जोड़ि अनादि सुभाय ।
अन्य संजोगी जंह लगि आतमा ससारी कहवाय ॥पदम०॥३॥
कारण जोगे बांधे बंधनै, कारण मुगति मुकाय ।
आश्रव संवर नाम अनुक्रमे हेयोपादेय सुणाय । पदम०॥४॥
जुंजन करणे अंतर तुझ पड्यो, गुण करणे करि भंग ।
ग्रन्थ उक्ति करि पंडित जन कह्यो, अन्तर भंग सुअंग ॥पदम०॥५॥
तुझ मुझ अन्तर अन्ते भांजसे, बाजस्यै मंगल तूर ।
जीव सरोवर अतिशय वाधिस्ये, 'आनन्दघन' रस पूर ॥पदम०॥६॥

(६) पाठान्तर—राग....कंतनेरे = ढाल सोहलानी (अ)। पदम = पद्म (इ, ई) प्रभ = प्रभु (अ, उ, ऊ)। आंतरू = आंतरो (अ, आ) भांजे = भाजै (अ, आ, ऊ)। जोइनै = जोयनै (ऊ)। पयई ठिई = पैडीठिई (अ)। बहु = विहूं (उ, ऊ)। बंधोदयोदीरणा = बंध उदय उदीरणा (अ) बंध उदै दीरणा (आ) वधुदयदीरणा (इ, ई, उ, ऊ) सत्ता = संत (अ, उ, ऊ) पयडी = पयडि (इ, उ) पयड (ऊ)। जोडि = जोडी (अ, आ, उ, ऊ)। सुभाय = स्वभाव (ई, उ) सुभाव (ऊ)। अन्य = अनादि (अ), संजोगी = संयोगी (अ, आ, उ)। जहँ = जां (अ, आ) जिहाँ (उ, ऊ)। कहवाय = कहिवाय (उ, ऊ)।

जोगे = योगे (अ, आ उ) । बांधे = वंधै (अ, उ) । वंधनै = वंध में (उ) । कारण = मुकाय = मुगति कारण मूंकाय (ऊ) । हेयोपादेय = हेयोदेय (अ, आ, इ) । जुंजन करणे = जै जिन कारणं (अ) युंजन करणें (इ, ई) युंज्जन (उ) । उक्ति = उकति (अ, आ, उ, ऊ) । युक्ति (ई) । अन्ते = अन्तए (अ, आ), अंतर (इ, ऊ) । 'उ' प्रति में न 'अन्ते' है, न 'अंतर' है । भांजसे = भाजिस्यै (अ, आ) भाजस्ये (उ, ऊ) । वाजस्यै = वाजिस्यै (अ, आ), वाजसि (इ) । वाधिस्ये = वाध से (इ) वांधस्ये (उ) । वाघस्यै (ऊ) ।

शब्दार्थ—आंतरू = अन्तर, फर्क । भांजै = नष्ट होय । विपाकै = फल । मतिवन्त = बुद्धिमान । पयइ = प्रकृति वंध, कर्म पुद्गलों का स्वभाव । ठिई = स्थिति वंध, कमत्व में रहने का काल प्रमाण । अणुभाग=कर्म का रस, कर्म का वल । प्रदेश = कर्म समुदाय का विभाग । मूल = मुख्य । उत्तर = अवान्तर भेद । घाती = आत्मा के मूल गुणो (ज्ञानदि गुणों) को नष्ट करने वाले । अघाती = मूलगुणों को नाश न करने वाले तथा संसार में परिभ्रमण कराने वाले कर्म । वंधोदयोदीरणा = वंध, उदय, उदीरणा, वंध-कर्मों का आत्मा के साथ मिलाप । उदय—कर्म फल प्रवृति काल । उदीरणा=कर्मफल प्रवृति काल से पूर्व ही कर्मो को उदय के लिये खेंच लेना । सत्ता=आत्मा के साथ कर्मो की मौजूदगी । विच्छेद=विच्छेद, नाश होना, अलग होना । कनकोपलवत=सोना और पत्थर के समान, सोना और पत्थर मिट्टी खान से एक साथ निकलती हैं उसी के समान । पयडी = कर्म प्रकृति । पुरुष तणी = आत्मा की । जोडी = साथ, संवंध । सुभाय = स्वभाव से ही । आश्रव = कर्म ग्रहण का द्वारा । संवर = कर्म ग्रहण के मार्ग की रोक । हेयोपादेय = छोडने और ग्रहण करने योग्य । जुंजन करणे = कर्मों से जुडना । गुण करणे = गुणों को ग्रहण करने पर । भंग = नष्ट । उक्ति = कथन । सुअंग = उत्तम उपाय । वाजस्यै = वजेंगे । तूर = तुरही, वाजा । अतिशय = अत्यन्त । वाधिस्यै = वढेगा ।

अर्थ—हे पद्मप्रभ जिनेश्वर देव ! आपका मेरा अन्तर किस प्रकार दूर होगा ? कोई बुद्धिमान अन्तर के कारणों पर विचार कर उत्तर देता है—कर्म विपाक होने से-अर्थात् कर्म के कारण का अभाव होने पर ॥१॥

कर्म के विषय में बताया जाता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये बंध के चार भेद हैं। कर्म के मूल आठ और उत्तर बहुत भेद हैं। (मूल भेद आठ हैं—ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अंतराय, वेदनी, नाम, गोत्र और आयुष्य और उत्तर भेद अनेकानेक हैं। मुख्य १४८ अथवा १५८ हैं।) कर्म के मूल भेदों में प्रथम चार तो घाती कर्म हैं। पिछले चार अघाती कर्म हैं। इन आठ मूल कर्मों का तथा इनकी उत्तर प्रकृतियों का बंध होता है अर्थात् आत्म प्रदेशों के साथ मेल होता है, फिर ये उदय में आते हैं—फल देने में प्रवृत्त होते हैं। इन बद्ध कर्मों की उदीरणा होती है अर्थात् तप आदि करके इन्हें उदय में लाकर नष्ट कर दिया जाता है। फिर जो बाकी रहे कर्म हैं उनको 'सत्ता' नाम से कहा जाता है। इन सत्ता कर्मों के विच्छेद—क्षय से ही पद्मप्रभ जिनेश्वर के और मेरे मध्य का अन्तर दूर होगा, ऐसा बुद्धिमान कहते हैं ॥२॥ (विशेष जानकारी के लिए कर्म ग्रन्थ देखने चाहिये)

जिस प्रकार स्वर्ण और पत्थर अनादि काल से खान में मिले हुए पाये जाते हैं उसी प्रकार कर्म प्रकृति की और पुरुष(आत्मा) की भी जोड़ी अनादि काल से चली आ रही है। जब तक आत्मा बन्ध—कर्म पुद्गलों—के साथ संबंधी है, तब तक वह संसारी कहलाता है ॥३॥

कर्मबन्ध के कारण (मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग) उत्पन्न होने पर ही आत्मा कर्मों का बन्ध करता है, इन कर्मबन्धन के कारणों को छोड़ने से ही आत्मा की मुक्ति होती है। आश्रव से कर्म बन्ध होता है इसलिए यह हेय है—त्याज्य है और जिससे कर्म बन्ध रुकता है वह संवर उपादेय है—ग्रहण करने योग्य है ।४॥ (इस हेयोपादेय की विवेकपूर्वक प्रवृत्ति होने से ही भगवान पद्मप्रभ से अन्तर दूर होगा— ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं।)

कर्मों के योग (सम्बन्ध) से ही, हे नाथ! आप में और मुझ में अन्तर पड़ा हुआ है—व्यवधान पड़ा हुआ है। गुण करण से—आत्म गुण (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) से—इन गुणों के विकास से—इस गुणकरण का नाश होगा अर्थात् आपके और मेरे मध्य का व्यवधान दूर होगा। शास्त्रों के प्रमाण से पंडित

लोगों ने (ज्ञानियों ने) इसे व्यवधान दूर करने का उत्तम अंग (श्रेष्ठ उपाय) माना है ।।५।।

(आत्मा का कर्म से सम्बन्ध करने की क्रिया को 'युंजनकरण' कहते हैं। और आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र ग्रहण करने को 'गुण करण' कहते हैं। गुणकरण से ही ही युंजनकरण का नाश होता है)

ज्ञानकरण गुणकरण दो, ए सुभाव सम्बद्ध ।
गुणकरण समवाय फल, अचल अकल रिधि सिद्ध ।। (श्रीज्ञानसारजी)

ज्ञान जीव की सजगता, कर्म जीव कूं भूल ।
ज्ञान मोक्ष को अंकुर है, कर्म जगत को मूल ।।८५।।

ज्ञान चेतना के जगे, प्रकटे केवल राम ।
कर्म चेतना में वसे, कर्म-बन्ध परिणाम ।।८६।।

(समयसार नाटक अ० १०; महाकवि पण्डित बनारसीदास).

हे नाथ ! अन्त में आपके और मेरे बीच का यह अन्तर (व्यवधान) दूर होगा और मांगलिक वाद्यंत्र बजेंगे । अर्थात् अनाहत नाद रूपी मांगलिक बाजे बजेंगे । जीव रूपी यह सरोवर (तालाब) आनन्द-समूह के रस से परिपूर्ण होकर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होगा जिससे मेरी पद्म रूपी निर्मल आत्मा 'पद्मप्रभ' जैसी बन जावेगी ।।६।।

श्री सुपार्श्व जिन स्तवन (७)

(राग—सारंग मल्हार, ललनानी देशी)

श्री सुपास जिन वंदिये, सुख सम्पति नो हेतु । ललना ।
शांत सुधारस–जलनिधि, भवसागर माँ सेतु । ललना ।।१।।

सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव । ललना ।
सावधान मनसा करी, धारो जिन-पद सेव ।। ललना ।।श्री सु०।।२।।

सिव संकर जगदीश्वरू, चिदानन्द भगवान । ललना ।
जिन अरिहा तीर्थंकरू, जोति स्वरूप असमान ॥ललना॥श्री सु०॥३॥

अलख निरञ्जन वच्छलू, सकल जन्तु विसराम । ललना ।
अभयदान दाता सदा, पूरण आतम राम ॥ललना॥श्री सु०॥४॥

वीतराग मद कल्पना, रति अरति भय सोग । ललना ।
निद्रा तन्द्रा दुरदसा, रहित अबाधित जोग ॥ललना॥श्री सु०॥५॥

परम पुरुष परमातमा, परमेसर परधान ।
परम पदारथ परमेष्ठी, परमदेव परमान ॥ललना॥श्री सु०॥६॥

विधि विरंचि विश्वंभरू, ऋषीकेस जगनाथ ।
अघहर अघमोचन धणी, मुगति परमपद साथ ॥ललना॥श्री सु०॥७॥

इम अनेक अभिधा धरै, अनुभव गम्य विचार ।
जे जाणै तेहनै करै, 'आनन्दघन' अवतार ॥ललना॥श्री सु०॥८॥

पाठान्तर—राग...देसी = ढाल मधुकरनी (अ), राग सारंग मल्हार (इ) देसी लच्छानी (उ, ऊ) सुपास = सुपारवं (अ)। नो = नें (अ, उ ऊ)। हेतु = हेत (अ) सांत = सान्ति (अ, आ, इ, उ, ऊ)। मां = मही (अ) मांहे (उ)। जिन पद = जिनपद (अ, आ)। सिव = शिव (इ, उ)। अरिहा = अरहा (अ)। तीर्थंकरू = तिर्थंकरू (अ, आ)। जोति = ज्योति (अ, आ, इ, ई, ऊ)। स्वरूप = रूप (अ, आ, ई) असमान = समान (उ, ऊ)। वच्छलू = वछलू (उ, ऊ)। मद = मत (अ)। रति = रती (इ, ई)। जोग = योग (अ, आ, इ, ई, उ)। परमेसर = परमेश्वर (इ, ई, उ, ऊ)। परमेष्ठी = परमेष्टी (अ, आ,)। परमिट्ठी (ऊ)। परमान = परिमांन (अ)। मुगति = मुक्ति (आ, इ, ई, ऊ)। मुक्त (उ)। साथ = साव (अ)। धरै = धरू (अ, आ)।

शब्दार्थ—सुख = आत्मिक सुख। सम्पत्ति = सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र। हेतु = कारण। सांत = कषायों के नष्ट होने पर, उपशम स्थिति, निज

स्वरूप में स्थिरता। सुधारस = अमृतरस। जलनिधि = समुद्र। सेतु = पुल। सात महाभय = सात महान भय—इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात भय, आजीविका भय, अपयश भय, मरण भय, काम, क्रोध, मद, हर्ष, राग, द्वेष, और मिथ्यात्व भाव भय। अरिहा = कर्मशत्रु के नाशक, अर्हन्त। असमान = अनुपम, अतुल्य। निरंजन = निर्लेप। वच्छलू = वत्सल, सब के हित कारी, कल्याण कारी। विसराम = विश्राम, सुख के स्थान। मद = गर्व। कल्पना = संकल्प विकल्प। दुरदसा = बुरी अवस्था, दुर्दशा, दुर्गंछा, घृणा। विधि = विधाता, सन्मार्ग को स्थापित करने वाले। विरंची = ब्रह्मा, आत्म गुणों की रचना करने वाले। विश्वंभरू = विश्वम्भर, संसार में आत्म गुणों को पोषण करने वाले। ऋषीकेस=इंद्रियों के स्वामी। धणी = स्वामी। अभिधा = नाम, गुण निष्पन्न नाम।

अर्थ—श्री सुपार्श्वनाथ भगवान को भक्ति पूर्वक वन्दन (प्रणाम) करो। जो प्रभु सांसारिक और अनन्त आत्मिक सुख और सम्पत्ति के हेतुभूत हैं। और जो शांतरस (वैराग्य) रूपी अमृत के समुद्र एवं संसार समुद्र को पार करने के लिए सेतु (पुल) के समान है ॥१॥

यह सातवें जिनेश्वर देव सातों ही महाभयों (सांसारिक सात महा भय १ इहलोक भय, २ परलोक भय, ३ आकस्मिक भय, ४ आजीविका भय, ५ आदान भय, ६ अपयश भय, ७ मरणभय तथा आध्यात्मिक सात महा भय १ काम, २ क्रोध, ३ मद, ४ हर्ष, ५ राग, ६ द्वेष और ७ मिथ्यात्व) को टालने वाले—दूर करने वाले है। इसलिये सावधान होकर और मन लगाकर इन जिनेश्वर देव की सेवा धारण करो ॥२॥

यह जिनेश्वर देव उपद्रवों का संहार (नाश) करने वाले होने से 'शिव' हैं, कल्याणकारी होने से शंकर है, आत्म साम्राज्य के शासक होने से 'जगदीश्वर' हैं, ज्ञानमय और आनन्द मय होने से 'चिदानंद' हैं, अपने स्वरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है इसलिये 'भगवान हैं। राग—द्वेष विजयी होने से 'जिन', कर्म—शत्रुओं के नाशक होने से 'अरिहन्त', धार्मिक संस्था—चतुर्विध संघ

के संस्थापक होने से 'तीर्थंकर'. ज्ञान-ज्योति से प्रकाशमान होने से 'ज्योति स्वरूप' हैं और इनकी किसी से भी तुलना नहीं की जा सकती है अतः यह 'असमान' हैं, अर्थात् इनके समान यही हैं ॥३॥

आंखों द्वारा यह देखे नहीं जाते, इसलिये अलक्ष हैं। वासना रहित होने से यह 'निरंजन हैं। सब प्राणियों पर वात्सल्य भाव रखने से वच्छलू-वत्सलू' हैं और सब प्राणियों के विश्राम रूप हैं। ज्ञानामृत पान करा के सब को अभय बनाते हैं इसलिये अभय दान के दाता हैं। अथवा प्राणीमात्र (जड-जंगम) के अहिंसक होने से 'अभय दात्री' हैं। शुद्ध आत्म स्वरूप में निरन्तर बिना प्रयास रमण करने वाले हैं अतः 'आत्मरामी हैं ॥४॥

भगवान सुपार्श्वनाथ राग रहित हैं, मद, कल्पना, आसक्ति, अप्रीति, भय, शोक आदि मानसिक विकारों एवं निद्रा (नींद) तन्द्रा (ऊंघ), आलस्य आदि शारिरिक विकारों से मुक्त हैं इसलिए अबाधित योगवाले हैं अर्थात् सयोगी केवली अवस्था में मन, वचन तथा काया के योग आपको बाधा रूप नहीं है ॥५॥

पूजा (भक्ति) के परम पात्र होने से 'परम पुरुष', परमपद के पाने से 'परमात्मा' अनन्त शक्ति रूप ऐश्वर्य के धारण करने से 'परमेश्वर' पुरुषोत्तम हैं- 'प्रधान पुरुष' हैं। अतः प्रामाणिक रूप से आप ही प्राप्त करने योग्य 'परम-पदार्थ हैं, सेवा—भक्ति करने योग्य 'परम इष्ट हैं और पूजने योग्य 'परम देव' स्वयं सिद्ध हैं ॥६॥

द्वादशांगी रूप मुक्ति मार्ग के सर्जनहार होने विधि (विधाता), मोक्ष मार्ग का विधान रचने के कारण श्री सुपार्श्वनाथ भगवान ब्रह्मा हैं। आपका उपदेश आत्मिक गुणों का पोषण करता है अतः आप 'विश्वम्भर' है। इंद्रीय विजयी होने के कारण आप 'ऋसिकेश' एवं जगत पूज्य होने से 'जगन्नाथ' हैं। हे स्वामी ! आप पापों को हरण करने वाले हैं, पापों से छुटकारा दिलाने वाले हैं साथ ही परमपद—मोक्ष को प्रदान करने वाले स्वामी हैं ॥७॥

इस प्रकार इन अनेक अभिधाओं (नामों) के अतिरिक्त आपके अनेक गुण निष्पन्न नाम है, उन सब का विचार अनुभव गम्य है। जो इन अभिधाओं का यथार्थ स्वरूप जानता है उसे यह आनन्दघन सुपार्श्वनाथ भगवान आनन्द का आवतार ही कर देते हैं—आनन्द रूप ही बना देते है ॥८॥

श्री चन्द्रप्रभ जिनस्तवन (८)

(राग-केदारो, गोडी—कुमरी रोवै आक्रन्द करै, मुनै कोइ मुकावै—ए देशी)

चन्द्रप्रभ मुखचन्द सखी मुनै देखण दे, उपसम रस नो कंद ।सखी०।
सेवै सुरनर इन्द सखी०, गत कलिमल दुख दद ॥सखी०॥१॥

सुहम निगोदे न देखियो सखी०, वादर अतिही विसेस ।सखी०।
पुढवी आऊ न लेखियो सखी०, तेऊ वाऊ न लेस ॥सखी०॥२॥

वनसपती अति घण दिहा, सखी०, दीठो नहीं दीदार ।सखी०।
वि ती चौरिंदी जल लीहा, सखी०, गति सन्नी पण धार ॥सखी०॥३॥

सुर तिरि निरय निवास मां, सखी०, मनुज अनारज साथ।
अपज्जता प्रतिभास मां, सखी०, चतुर न चढियो हाथ ॥सखी०॥४॥

इम अनेक थल जाणिये, सखी०, दरसण विन जिनदेव ।सखी०।
आगम थी मति आणिये, सखी०, कीजें निरमल सेव ॥सखी०॥५॥

निरमल साधु भगति लही. सखी०, जोग अवंचक होय ।सखी०।
किरिया अवचक तिम सही, सखी०, फल अवंचक जोय ॥सखी०॥६॥

प्रेरक अवसर जिनवरू, सखी०, मोहनीय खय थाय ।सखी०।
कामित पूरण सुरतरू, सखी०, 'आनन्दघन' प्रभु पाय ॥सखी०॥७॥

(८) पाठान्तर—राग....मुकावै=राग, केदारो गौडी (अ), कुमारी रोवे आक्रन्द करै, मुनै कोई मुकावै (आ, उ, ऊ)। यह स्तवन 'इ, ई प्रतियों में इस प्रकार आरंभ किया गया है–'देखण दे रे सखी मुनै देखण दें। चन्द्रप्रभ = चन्द्र प्रभु (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ)'। मुनै = मौने (अ,) मोने (आ) । इन्द्र = वृन्द

(इ, ई) गत = गति (ऊ)। दंद = द्वंद (इ, ई)। निगोदे = निगोद (इ, उ, ऊ) आऊ = आई (इ, ई, उ)। वाऊ = वाउ (इ, ई, उ, ऊ) वनस्पति = वनस्पति (अ, आ) घण = घणा (कहीं, कहीं)। दिहा = दीहा (अ, आ, उ, ऊ)। नहिं = नहीं (अ, आ, उ) नहीय = (ऊ)। चौरिंदी = चउरिंदी (इ, इ)। गति = गत (इ, उ)। चढियो = चढीयो (अ)। जाणिये = जाणीये (अ, आ), जाणीइं = (उ)। विण = विणु (अ)। मति = मनि (अ)। आणिये = आणीइं (उ)। भगति = भक्ति (इ, ई)। अवंचक = अवंछक (अ) जोग = योग (इ, ई, उ)। किरिया = किरिय (अ), क्रिया (इ, ई)। जोय = होय (अ, आ, इ, ई)। खय = क्षय (इ, ई, उ) थाय = जाय (अ, आ, इ, ई)।

शब्दार्थ—उपसम रस = शांत रस। कंद = मूल। गत = चला गया। कलिमल = रागद्वेषादि मैल। दंद = द्वंद, उत्पात। सुहम = सुक्ष्म। निगोदे= गति विशेष में, साधारण वनस्पतिकाय में। वादर = दिखाई पडने वाले जीव। पुढवी = पृथ्वी काय। आऊ = जल, अप्पकाय। तेऊ = अग्निकाय। वाऊ = हवा के जीव। लेस = किंचित भी। घण = घणा, अधिक। दीहा = दिवस। दीठो = देखा। दीदार = दर्शन। वि = द्वे इंद्रिय जीव। ति = तीन इंद्रिय वाले जीव। चौरिंदी = चार इंद्रिय वाले जीव। लीहा = रेखा। सन्नी = मनवाले जीव। पण = परन्तु। तिरि = तिर्यंच। निरय = नरक। अनारज = अनार्य। अपज्जता = अपर्याप्ता जीव। प्रतिभास = अन्तर मुहूर्त काल की स्थिति। चतुर = पूर्ण ज्ञानी परमात्मा। थल = स्थल, स्थान। मत=अभिप्राय। लही = प्राप्त कर। अवंचक = कपट-कुटिलता रहित। प्रेरक = प्रेरणा देने वाला। अवसर = अनुकूल समय। कामित = इच्छित, मन चाहा। सुरतरु = कल्प वृक्ष।

अर्थ—कवि या भक्त की सुमति अपनी सखी श्रद्धा से कहती है—हे सखी श्रद्धे ! अब तो मुझे श्री चंद्रप्रभ भगवान के मुख चंद्र को देखने दे। यह उपसम रस का मूल है। यह देवताओं के इन्द्र और मनुष्यों के इन्द्र महाराजाओं द्वारा सेवित है। यह कलुषित मल, आशा निराशा एवं दुख-द्वन्द से रहित है इस मुख-चंद्र को मुझे वारंवार देखने दे ॥१॥

इस मुखचंन्द्र को मैंने सूक्ष्म निगोद में नही देखा, और वादर निगोद में तो खास तौर पर नहीं देखा। उसी भांति पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायू काय में भी लेश मात्र नहीं देखा। (जब मैं वहाँ–इन उक्त स्थानों में थी)। अब तो इस मनुष्य जन्म में जहाँ मैंने उत्तम कुल, आदि प्राप्त किया है, मुझे चंद्रप्रभ भगवान को देखने दे—लौ लगाने दे। ॥२॥

वनस्पति में भी दीर्घ काल तक इस मख चन्द्र के दीदार (दर्शन) नहीं हुए। द्वेन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय गतियों में भी दर्शन के बिना मैं जल रेखा के समान निष्फल हो गई॥३॥

देवलोक में, तिर्यंच योनि में, नर्क निवासों में यह दिखाई नहीं पड़ा और अनार्य मनुष्यों की संगत के कारण दुर्लभ मनुष्य भव में-जन्म में-भी यह चतुर हाथ नहीं आया तो प्रतिभास रूप अपर्याप्त अवस्था में तो किस प्रकार हाथ आता अर्थात् किस प्रकार इस मुख-चंद्र के दर्शन होते ॥४॥

इस प्रकार अनेक स्थल (स्थान) जिनेश्वर देव चन्द्रप्रभ के दर्शन बिना व्यतीत हो गये। अब जिनागम से बुद्धि को निर्मल करके-चित्त शुद्धि करके प्रभु की निष्काम भाव से सेवा-भक्ति करो ॥५॥

कामना (इच्छा) रहित पवित्र साधुओं की भक्ति से अवंचक (कुटिलता रहित) योग की प्राप्ति होती है। इस अवंचक योग की क्रियायें (कार्य) भी उसी प्रकार अवंचक–अमोघ–अचूक होती हैं और इसका फल भी निश्चय ही अवंचक होता है। अर्थात् आत्म स्वरूप को प्राप्त सद्‌गुरु के योग से यह अवंचक त्रिपुटी–निज स्वरूप को पहचानना योग, अवंचकता स्वरूप की साधना, क्रिया अवंचकता तथा स्वरूप को प्राप्त करना, फल अवंचकता सिद्ध होती ॥६॥

ऐसे अवसर की प्राप्ति श्री जिनेश्वर देव के वचनों की प्रेरणा से मिलती है और उसकी अचिन्त्य शक्ति से प्रबल मोहनीय कर्म क्षय हो जाता है। ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान जो आनंद के घन हैं उनके चरण कमल इच्छित फल देने वाले कल्प वृक्ष हैं ॥७॥

श्री सुविधि जिन स्तवन (९)

(राग–केदारो–इम धन्नो धणनै परचावै–ए देशी)

सुविधि जिणेसर पाय नमीनै, शुभ करणी इम कीजैरे ।
अति घण उलट अग धरीनै, प्रह ऊठी पूजीजैरे ।सु०॥१॥
द्रव्य भाव सुचि भाव धरी नैं, हरखि देहरे जइये रे ।
दह तिग पण अहिगम सांचवतां, एकमनां धुर थइये रे ॥सु०॥२॥
कुसुम अक्खत वर वास सुगंधो, धूप दीप मन साखी रे ।
अँग पूजा पण भेद सुणी इम, गुरु मुख आगम भाखी रे । ।सु०॥३॥
एहनूं फल दुइ भेद सुणीजै, अन्तर नै परम्पर रे ।
आणा पालन चित्त प्रसत्ति, मुगति सुगति सुर-मन्दिर रे । सु०॥४॥
फूल अक्खत वर धूप पइवो, गंध निवेज फल जल भरि रे ।
अंग अग्र पूजा मिलि अड विधि, भावे भविक शुभ गति वरि रे
।सु०॥५॥

सतर भेद इकवीस प्रकारे, अठ्ठोत्तर सत भेदे रे ।
भाव पुजा बहु विधि निरधारी, दोहग दुरगति छेदे रे ॥सु०॥६।
तुरिय भेद पडिवत्ती पूजा, उपसम खीण सयोगी रे ।
चउहा पूजा उतराभ्भयणे, भाखी केवल भोगी रे ॥सु०॥७॥
इम पूजा बहु भेद सुणीनै, सुखदायक सुभ करणी रे ।
भविक जीव करसे ते लहसे, 'आनन्दघन' पद धरणी रे ॥सु०॥८॥

(९)पाठान्तर—राग....परचावै = ढाल, सुणि वहिनी पिउडो परदेसी (अ) इम धन्नो....परचावै (आ, उ, ऊ) । धण = धणु (अ, आ) धणो (इ, ई) उलट अंग = अंगे ऊलट (अ), ऊलट अंग (ऊ) । ऊठी=उठी (इ,उ) । पूजीजैरे=

पूज रजीजै (अ), हरखि=हरखै (अ) हरषै(आ, उ, ऊ) हरषि (इ, ई) । अहि-गम = अभिगम (उ) । धुर=धुरि (अ, आ, ई, उ) । थइये=थइइं रे (उ) । अक्-खत=अक्षत (आ, इ, ई, उ, ऊ) । सुगंधो = सुगंधी (अ,) । मन = मनि (अ) मुणि (कहीं कहीं) । अँग = अंग (अ, आ, ई, उ, ऊ) । पूजा = पूज (अ) । एहन्नं = एहनुं (अ, ई) दुइ = दो (इ, उ, ऊ) दोय (ई) । परंपर रे=पारंपर रे (अ) । प्रसत्ती = प्रसन्नी (आ, इ, ई) । सुगति = सुरगति (अ, आ,) सुर मंदिर रे = सुन्दर रे (अ), सुम मन्दिर रे (इ) । अक्खत = अक्षत (आ, इ, उ, ऊ) । पइवो = पईवो (अ, आ, इ, ऊ) । निवेज = नेवज (अ) । नैवेद्य (आ, उ, ऊ) निवेद्य (इ, ई) । भरि रे = भर रे (अ, आ, ऊ) । तरि रे (उ) । मिलि = मिलिनै (अ, उ) । भावे = भावै (अ, आ, ऊ) । तावे (उ), भविक = भुविक (उ) भवि (ऊ) । वरि रे = वर रे (अ, आ, इ, ऊ) । सतर = सत्तर (अ, उ) अठ्ठोत्तर = अठोत्तर (आ ऊ), अष्टोत्तर (इ, ई) । सत = सौ (अ,) । पुजा = पूज (अ), पूजा (आ, उ, ऊ) । तुरिय = तुरय (आ) तुरीय (उ) । उपसम = उवसम (अ) । खीण = क्षीण (इ, ई,) सयोगी रे = सँयोगी रे (इ, ई) । चउद्दा = चउदह (अ) । पूजा = पूज इम (अ,) पूजा इम (आ, उ, ऊ) । उतराझयणे = उत्तरझयणे (अ, आ, उ, ऊ) । सुभ = शुभ (इ, ई) । करसे = करस्सै (अ, आ, उ, ऊ) । लहसे = लहिस्यै (अ, आ, उ, ऊ) ।

शब्दार्थ—उलट = उल्लास, उमंग । प्रह = प्रातः काल । सुचि = पवित्र हरखि = प्रसन्नता पूर्वक, । देहरे = मंदिर । दह = दश । तिग = तीन । पण = = पांच । अहिगम = अभिगम । साचवतां = पूर्ण करके । धर = स्थिर । कुसुम = फूल । अक्खत = अक्षत, चांवल । वर = श्रेष्ट । वास = सुवास से । सुंगधो = गंधित । दुइ = दो । अनन्तर = अन्तर (फर्क) रहित, तुरत । परंपर = परम्परा से, क्रम से । आणा = आज्ञा । प्रसत्ति = प्रसन्नता । सुगति = अच्छी गति (मनुष्य, देव) । सुर मन्दिर = वैमानिक देवो के मन्दिर (स्थान) । पइवो = दीपक । गंध = केशर आदि । नेवज = नैवेद्य, बादाम आदि मेवे । अड विधि = अष्ट प्रकारी पूजा । भावे = भाव पूर्वक करो । भविक = भव्य जीव, मुक्ति में जाने वाले प्राणी । सतर = सतरह । अठ्ठोतर = एक सौ आठ । दोहग =

दुर्भाग्य । दुरगति = खराब गति (नरक, तिर्यंच) । छेदे रे = नष्ट कर देता है । तुरिय = चौथा । पडिवत्ती = प्रतिपत्ति, आत्म गुण का अनुभव, आत्म स्वरूप प्राप्ति । भांखी = कही है । धरणी = पृथ्वी । आनन्दघन पद धरणी = मोक्ष ।

अर्थ—श्री सुविधिनाथ भगवान के चरणो में नमन करके आगे कही गई विधि से शुभ कार्य करने चाहिये । हृदय में अत्यन्त उत्साह और हर्ष पूर्वक प्रातः काल उठते ही विनय श्रद्धा पूर्वक भगवान का स्मरण करना चाहिये ॥१॥

द्रव्य और भाव से पवित्र—शुद्ध होकर (द्रव्य शुद्धि—शरीर एवं वस्त्रों से पवित्र होकर और भाव शुद्धि—हृदय को काम, क्रोध, लोभ, वासना रहित करके) हर्षोत्फुल्ल होकर मन्दिर जाना चाहिये । दश त्रिक—(तीन निस्सही, तीन प्रणाम, तीन प्रदक्षिणा, भूमि प्रमार्जन तीन समय, तीन पूजा, तीन अवस्था, तीन अवलंबन, तीन मुद्रा, और तीन प्रणिधान) और पांच अभिगमों का (सचित वस्तु त्याग, अचित वस्तु ग्रहण, उत्तरासन, नत मस्तक एवं अंजलि-करण और एकाग्रमन) पालन करते हुये सर्व प्रथम मानसिक एकाग्रता की ओर ध्यान देना चाहिये ॥२॥

सुगंधित पुष्प, अखंडित चांवल, सुन्दर वासचूर्ण, सुगन्धित धूप, और दीपक यह पांच प्रकार की अंग पूजा—जिसे गुरु मुख से सुना है और आगम में जिसके संबंध में कहा गया है, मन की साक्षी से अर्थात् चित्त लगाकर करनी चाहिये ॥३॥

इस पूजा का फल दो प्रकार का होता, एक तो अनंतर—अन्तर रहित —तत्काल प्रत्यक्ष में, दूसरा परम्पर—परोक्ष—गत्यन्तर—भवान्तर में । जिनाज्ञा का पालन और चित की प्रसन्नता, प्रत्यक्ष प्रथम फल है और दूसरा परोक्ष फल मुक्ति है वरना कम से कम उत्तम सामग्री युक्त मनुष्य भव या देवगति प्राप्त करना है ॥४॥

पुष्प, चांवल, श्रेष्ठ धूप, दीपक, केशर चंदनादि सुगंधित पदार्थ, नैवेद्य (बादाम आदि) फल, और जल से भरा कलश—इस सामग्री से अंग और अग्र पूजा दोनों मिलाकर आठ प्रकार की होती है। जल, गंध और फूल से होनेवाली अंग पूजा है और धूप दीप, अक्षत, नैवेद्य और फल से की जानेवाली अग्र पूजा है। जो भव्य प्राणी भाव पूर्वक (भक्ति पूर्वक) ये पूजायें करता है वह शुभ गति प्राप्त करता है ॥५॥

सतरह भेदी, इक्कीस प्रकारी और एक सौ आठ भेद वाली अनेक पूजायें हैं तथा भाव पूजा के भी (चैत्यवन्दन, स्तवन, जाप आदि) अनेक भेद निर्धारित किये गये हैं ये सब पूजायें दुख और दुर्गति का छेदन (नाश) करती हैं ॥६॥

इस प्रकार पूजा के तीन भेद—अंग पूजा, अग्र पूजा और भाव पूजा ऊपर कही जा चुकी हैं। पूजा का चौथा भेद प्रतिपत्ति पूजा है। प्रतिपत्ति का अर्थ है अंगीकार (स्वीकार) करना जिनाज्ञा का अनुसरण, समर्पण भाव जहाँ ध्यान, ध्याता और ध्येय का लोप हो जाता है ऐसी प्रतिपत्ति यथाख्यात चारित्र, उपशांत मोह, क्षीण मोह एवं सयोगी अवस्था में होती है जिसका वर्णन (चौथी पूजा का वर्णन) केवल ज्ञान के भोगी भगवान ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है ॥७॥

इस प्रकार पूजा के अनेक भेद कहे हैं जिन्हें श्रवण करके जो भव्य प्राणी इस आनन्द दायक शुभ करणी (कार्य) को करेगा, वह निश्चय ही आनन्दघन पद-धरणी (मोक्ष) को प्राप्त करेगा ॥८॥

श्री शीतल जिन स्तवन (१०)

(राग—धन्याश्री गौडी-गुणह विसाला मंगलिकमाला—ए देशी)

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगि मन मोहे रे।
करुणा कोमलता तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥शी०॥१॥

सर्व जीव हित करणी करुणा, कर्म वीदारण तीक्षण रे।
हानादान रहित परणामी, उदासीनता वीक्षण रे ।।शी०।।२।।
परदुख छेदन इच्छा करुणा, तीक्षण पर दुख रीझे रे ।
उदासीनता उभय विलक्षण, एक ठामि किम सीझे रे ।।शी०।।३।।
अभय दान ते मलक्षय करुणा, तीक्षणता गुण भावे रे।
प्रेरण विण कृत उदासीनता इम विरोध मति नावे रे ।।शी०।।४।।
शक्ति व्यक्ती त्रिभुवन प्रभुता, निग्रं थता सयोगे रे ।
योगी भोगी वक्ता मौनी, अनुपयोगि उपयोगे रे ।।शी०।।५।।
इत्यादिक बहुभंग, त्रिभंगी, चमत्कार चित्त देती रे।
अचरज कारी चित्र विचित्रा, 'आनन्दघन' पद लेती रे ।।शी०।।६।।

(१०)पाठान्तर—राग....माला=ढाल, पास जिनंद जुहारिये (अ), गुणह विशाला मंगलिक माल (आ, उ, ऊ) भंगि=भंग (अ,आ) भंगी (उ, ऊ) । जीव= जन्तु (अ,आ,उ, ऊ) । तीक्षण = तीक्ष्यण (अ) । हानादान — हीनादान (अ) । तीक्षण — तीक्ष्यण (अ) । उदासीनता = ओदासनता (अ) । एक — इक (अ) । ठामि = ठामैं (अ) ठांम (इ, ऊ) ठाम (उ) । ते मल.....करुणा — मलक्षय फल करुणा (अ), ते करुणा मलक्षय (उ), तिम लक्षण करुणा (कहीं कहीं) । विण — विनु (अ, उ) विन (आ, उ) । कृत = कृति (ई, उ) । मति = मनि (अ) । शक्ती व्यक्ती = शक्ति व्यक्ति (अ, आ, इ, उ) । निग्रं थता = निग्रंथता (अ, आ, ऊ) ।संयोगे = संयोगी (अ,आ) । अनुपयोगि=अनुपयोगी (उ) अनुपयोग (ऊ)। उपयोगे — उपयोगी (अ, आ) । चमत्कार = चमतकार (आ, उ,ऊ) । अचरज = अचरिज (अ,) अचिरिज (उ) अचिरज (ऊ).।

शब्दार्थ—ललित=सुन्दर । त्रिभंगी = तीन प्रकार की भंगीमा (झुकाव) वाले । तीक्षणता = तीक्ष्णता, उग्रता, प्रचण्डता । उदासीनता — अलिप्तता । वीदारण = चीरने फाडने में, काटने में । हानादान — त्याग और ग्रहण । परिणामी — भाव वाले, विचार वाले । वीक्षण = देखना । रीझे= प्रसन्न होते हैं ।

उभय = दोनों । विलक्षण = विचित्र, अद्भुत, अनूठा । ठामि = स्थान । सीझे रे = सिद्ध होना, सफल होना, रहना । मलक्षय = कर्म मल को नष्ट करना । प्रेरणा = प्रेरणा, कार्य में लगाना ।

अर्थ—दशवें जिनेश्वर देव श्रीशीतलनाथ भगवान की त्रिभंगी बडी लालित्य पूर्ण है जिसकी विविध भंगिमा सब के मन को मोहित करनेवाली है भगवान श्रीशीतलनाथ में करुणा रूपी कोमलता के साथ तीक्षणता भी है और इन दोनों से सर्वथा विलक्षण उदासीनता भी शोभायमान है ॥१॥

सब जीवों पर हित बुद्धि रूप करुणा भगवान शीतलनाथ की कोमलता है। ज्ञानावरणी आदि कर्मो को नष्ट करने में जो कठोरता (दृढता) है यह इनकी 'तीक्ष्णता' है। आप वस्तु के त्याग व ग्रहण परिणामों से रहित हैं अर्थात् समपरणामी—मध्यस्थभावी है, यह आपकी अद्भुत उदासीनता है ॥२॥

दूसरों के दुख नष्ट करने की इच्छा आपकी करुणा है । पर दुख–पौद्गलिक दुखों मे प्रसन्नता, यह आपकी 'तीक्षणता' है। अर्थात् परिषह सहन में प्रसन्नता ही आप की तीक्ष्णता है। कोमलता और तीक्ष्णता इन दोनों से भी विलक्षण (अद्भुत) आपकी 'उदासीनता' है। ये तीनो विरोधी भाव एक ही साथ एक स्थान में कैसे सिद्ध हो सकते हैं–कैसे संभव है ? परन्तु जो आत्मानन्द में रमण करते है उनमें ये सब संभव हैं। (यह व्यग्यार्थहै) ॥३॥ (ऊपर के पद का उत्तर है—)

कर्मरूपी मल से सब जीव त्रस्त हैं–(भयभीत है), जन्म मरण रोग, शोक आदि से भयभीत हैं । भगवान के उपदेश से सब अभय बनते हैं यह अभयदान रूप आपकी 'करुणा' है। आत्मिक गुणों में–भावो में दृढता यह आपकी 'तीक्ष्णता' है। शारीरिक कष्ट (२२ परिषह) से विचिलित नही होते अपितु इन्हें प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हैं, यह परदुख–रीझन रूप तीक्ष्णता है। ये सब करुणामय और कठोरतामय प्रवृति बिना किसी प्रेरणा के स्वाभाविक रूप से होती है यह आपकी 'उदासीनता' है ॥४॥

इस प्रकार विचार करने पर जो विरोधभाव तीसरे पद में उठाया गया था उसका परिहार हो जाता है।

आगे के पदों में दो दो भंग ही बताये गए हैं तीसरे भंग की सिद्धि दोनों से हो जाती है।

शक्ति, व्यक्तित्व त्रिभुवन प्रभुता, निग्रंथता, योगी, भोगी, वक्ता मौनी, उपयोग रहितता और उपयोग सहितता भगवान श्रीशीतलनाथ में है, यह बताते हैं–(१) अनत ज्ञान दर्शन यह इनकी शक्ति है। (२) इन गुणों को (ज्ञान दर्शन को) भगवान श्रीशीतलनाथ ने अपने पुरुषार्थ से प्रकट किया है यह इनका व्यक्तित्व है। (३) अपने ही गुण अपने में प्रकट हों, इसमें 'न शक्तित्व, न व्यक्तित्व रूप तीसरा भंग होने से 'त्रिभंगी' सिद्ध हो जाती है।

(१) तीनों लोकों के पूज्य होने से–'त्रिभुवन प्रभुता' (२) गांठ देकर रखने लायक कोई बाह्य सामग्री न होने से तथा न माया–ममतादि अंतरंग सामग्री होने से 'निग्रंथता' सिद्ध होती है। (३) भगवान में अपने को पुजाने की इच्छा न होने से 'न त्रिभुवन प्रभुता' और इसी प्रकार निर्ग्रंथ के बाह्य चिन्ह न होने से 'न निग्रंथता है। इस प्रकार त्रिभंगी सिद्ध होती है।

(१) चित्त वृति के निरोध से एवं तेरहवें गुणस्थान सयोगी केवली अवस्था में मन, वचन काया के योग होने से भगवान योगी हैं। (२) आत्म-रमणता रूप सुख भोगने से भगवान भोगी हैं। (३) मन, वचन, और काया के योग; कर्मक्षय के कारण बाधा उपस्थित नहीं करते अतः भगवान 'अयोगी' हैं और इंद्रिय जन्य विषयों के त्यागी होने से अभोगी हैं।

(१) द्वादशांगी शास्त्र के कथन से 'वक्ता', (२) पापाश्रव संबंधी वचन न कहने से 'मौनी', (३) अनंत तीर्थंकर देव अनंत काल से जो कहते आये हैं, वही आपने भी कहा है, उससे न्यूनाधिक नहीं कहा, यह आपका 'अवक्तपन' है और धर्म तीर्थ के प्रवर्तन के लिये देशना देना आपका 'अमौनीपन' है।

(१) अनंत पदार्थ विना उपयोग दिये आपको केवल ज्ञान से प्रत्यक्ष है अतः आप अनुपयोगवन्त है। (२) आपके ज्ञान व दर्शनोपयोग है इसलिये आप उपयोगवंत है। (३) योग रूंधन के पश्चात सिद्धावस्था में ज्ञान दर्शन का उपयोग अनुपयोग करने का कोई हेतु नहीं रहता अतः आप न उपयोगी, न अनुपयोगी हैं। इस प्रकार श्री शीतलनाथ भगवान में त्रिभंगियों के सयोग की संभावना बताई गई है।।५।।

इन त्रिभंगियों के और भी अनेक भेद कहे जा सकते हैं क्योंकि भगवान में अनंत गुण है। ये त्रिभंगियें चित्त में चमत्कार उत्पन्न करती हैं। आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है। ये विविध प्रकार की चित्र-विचित्र त्रिभंगियें अनन्दघन रूप मोक्ष पद को प्राप्त करती है।।६।।

श्री श्रेयांस जिन स्तवन (११)

(राग-गोडी-अहो मतवाले साजना-ए देशी)

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुगति गति गामी रे।।श्री श्रे०।।१।।
सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे।
मुख्य पणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे।।श्री श्रे०।।२।।
निज सरूप जे किरिया साधै, ते अध्यातम लहिये रे।
जे किरिये करि चउ गति साधै, ते न अध्यातम कहियें रे।।श्री श्रे०।।३।।
नाम अध्यातम ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे।
भाव अध्यातम निज गुण साधै, तो तेह थी रढ मंडो रे।श्री श्रे।।४।।
शब्द अध्यातम अरथ सुणी नैं, निरविकल्प आदरज्यो रे।
शब्द अध्यातम भजना जाणी, हांन-ग्रहण मति धरज्यो रे
।।श्री श्रे०।।५।।

अध्यातम जे वस्तु विचारी, बीजा जाण लवासी रे।
वस्तु गते जे वस्तु प्रकासै, आनन्दघन' मत वासी रे ॥श्री श्रे। ६॥

(११) पाठान्तर—राग....साजना = राग–रामगिरी–ढाल –सांभलिरे सामलियासामी (अ,) अन्तरजामी = अन्तरयामी (इ, ई) । मत = मति (ऊ) । गामीरे = पामीरे (अ) । गण = गुण (अ, आ, उ, ऊ,) । निक्कामी = निःकामी (अ,) निष्कामी (इ, ई) । सरूप = स्वरूप (आ; इ, ई, उ, ऊ) । लहिइरे = लहिइरे (उ) ।चउगति = चौगति (अ) । न अध्यातम = अनध्यातम (अ) । कहिये रे = कहिइरे (उ) । छंडोरे = छांडोरे (ऊ) । तेहथी = ते ो (अ,) तहसो (आ), तेहमुं (इ, ई,) तेहसूं (उ) । रढ = रढि (अ, आ, उ) शब्द = अरथ (अ, आ) । अरथ = अर्थ (इ, ई) । निर्विकल्प = निरविकलप (अ, आ, ऊ) । आदरज्योरे = आदरयो (अ,) । हांन = हानि (अ,) हान (आ, इ, ई,) दान (उ) । मति = मत (अ) । वरज्यो रे = वरयो रे (अ) । लवासी रे = लिवासीरे (अ, आ, उ, ऊ) । गते = गति (अ), गतै (आ, इ, ऊ) ।

शब्दार्थ—आतमरामी = आतमस्वरूप में रमण करने वाले । नामी = प्रसिद्ध, श्रेष्ट नाम वाले । अध्यातम = आध्यात्मिक, आत्मा सम्बन्धी । मत = तत्व । पामी = प्राप्त करके । गामी = जाने वाले । सयल = सकल, सब । इंद्रियरामी = इंद्रिय सुख में रमण करने वाला । निक्कामी = निष्कामी, कामना रहित । चउगति = चारों गतियें–नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव । ठवण = स्थापना । रढ = रटना, प्रीति । निरविकल्प = विकल्प रहित, शंका रहित । भजना = होय अथवा न होय । हांन = त्याग । गति = बुद्धि, धारणा (मति ज्ञान का भेद) बीजा = दूसरे । लवासी = लवाड़, लवार, बकबक करने वाले । मत = मान्यता, सिद्धांत । वासी=रहने वाले ।

अर्थ—श्री श्रेयांसनाथ भागवान अंतरयामी है. आत्म गुणों में रमण करने वाले सुप्रसिद्ध हैं । आपने आत्मतत्व को पूर्णरूप से प्राप्त करके, सहज स्वाभाविक भाव से पंचम गति–मोक्ष गति प्राप्त करली है ॥१॥

सम्पूर्ण संसार के प्राणी तो इंद्रिय सुखों में लीन रहते हैं। केवल मुनि गण ही आत्मिक सुख में रमण करने वाले-लीन रहने वाले हैं। जो लोग पुद्गलानन्द में रस न लेकर मात्र आत्मानन्द में मग्न रहते हैं केवल वे ही कामना रहित-निस्पृह होते हैं ।।२।।

स्वरूपानुयायी-जो आत्मार्थी मुमुक्षु इस लोक और परलोक के सुखों की कामना त्याग कर आत्मार्थ ही क्रिया करता है वह अध्यात्म को प्राप्त करता है किन्तु जो धन, कीर्ति, पूजा, सत्कार आदि की कामना से इहलोक और परलोक सम्बन्धी क्रिया करते हैं वे चतुर्गति रूप भव-भ्रमण की साधना करते हैं, उन्हें अध्यात्मी नहीं कहना चाहिये ।।३।।

गुण बिना केवल नाम मात्र अध्यात्म शब्द को, कल्पित स्थापना-अध्यात्म को और दिखावे रूप-आध्यात्म क्रिया रूप-द्रव्य अध्यात्म को छोड़ो और आत्म गुण ज्ञान दर्शन रूप भावना, भाव अध्यात्म है उसी की साधना करो-उसमें पूर्ण रूप से लग जावो-मग्न हो जावो ।।४।।

गुरुमुख से अध्यात्म शब्द का अर्थ सुनकर, विकल्प रहित--संकल्प विकल्प रहित शुद्ध आत्म भाव को ग्रहण करो। मात्र अध्यात्म शब्द-'अहं ब्रह्मासि', 'सोऽहं' आदि में अध्यात्म है अथवा नहीं है इसे समझ कर अर्थात् अध्यात्म शब्द में आध्यात्मिकता नहीं, वह भाव में ही है इसे जानकर क्या त्यागने योग्य है, क्या ग्रहण करने योग्य है, इसमें अपनी बुद्धि लगावो ।।५।।

आत्मवस्तु के विचारक ही आध्यात्मी हैं-साधु-संत-मुनि है, शेष दूसरे तो केवल लवासी हैं—बकवास करने वाले भेषधारी है। वस्तु में रहे हुये गुण व पर्यायों को स्पष्टतया यथार्थ रूप से जो प्रकट करते हैं वे ही आनन्दघन प्रभु के सप्तनयाश्रित मत के वासी हैं-रमण करने वाले हैं।

श्री वासुपूज्य जिन स्तवन (१२)

(राग-गोडी-तुंगिया गिर सिखर सोहे ए देशी)

वासपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घणनामी परणामी रे।
निराकार साकार सचेतन, करम करम फल कामी रे ।।वास०।।१।।

निराकार अभेद संग्राहक, भेद ग्राहक साकारो रे ।
दर्शन ज्ञान दु भेद चेतना, वस्तु ग्रंहण व्यापारो रे ।वास०॥२।
करता परिणामी परिणामो, करम जे जीवैं करिये रे ।
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नर अनुसरिये रे ॥वास०॥३॥
सुख दुख रूप करम फल जाणो, निश्चय एक आनदो रे ।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिन चंदोरे ॥वास० ।४॥
परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान करम फल भावी रे ।
ज्ञान करम फल चेतन कहियै लीज्यो तेह मनावी रे ॥वास०५॥
आतमज्ञानी श्रमण कहावै, बीजा तो द्रव्यलिगी रे ।
वस्तु गतै जे वस्तु प्रकासै, 'आनन्दघन' मत संगीरे ।वास०॥६॥

पाठान्तर—राग...सोहै = आदर जीव क्षमा गुण आदर (अ) । वासपूज्य = वासुपूज्य (अ, आ, उ) । वासुपुज्य (इ, ई) । घणनामी = घननामी (आ, इ, ई उ, ऊ) । परणामीरे = परिणामीरे (अ, उ, ऊ) । परनामीरे = (आ, ई)। सचेतन=चेतंना (अ,आ)। ग्राहक=ग्राह(इ) ग्रहण (ई)। दर्शन=दरसण (अ)। करता = कर्ता (इ, ई, उ, ऊ) । जीवै = जीवइं (अ), जीव (इ, ई) । करम = कर्म (आ, इ, ई, उ, ऊ) कर्म (उ) । नियेते नर = नियति इतर (अ,आ) नियतइं नर (उ) । अनुसरियेरे = अणुसरीदेरे (उ, ऊ) । जाणो = जाणौ (अ) । निश्चय = निश्चै (अ), निहचै (आ, ऊ) । एक = इक (अ इ, ई) । कहे = कहै (अ, आ, उ, ऊ) । लीज्यो = लेज्यो (अ, आ, इ, उ, ऊ) । द्रव्य = द्रव्यत (अ) । 'अ' प्रति में 'बीजा' के आगे 'तो' नहीं है । गतै = गति (अ) । मत = मति (ऊ) ।

शब्दार्थ—घणनामी = अनेकानेक नाम वाले । परणामी = शुद्धात्म गुण में परिणमन करने वाले । कामी = कामना करने वाले । संग्राहक = सत्य स्वरूप ग्रहण करने वाले । दुभेद = दो भेद (विभाग) । परिणामी = परिणामी भाव वाले । अनुसरिये = अनुसरण करना, मानना । श्रमण =

साधु । बीजा = दूसरे, अन्य । द्रव्यलिंगी = वेशधारी, साधु का केवल भेष धरने वाले ।

अर्थ—श्रीवासुपूज्य भगवान तीनों जगत के स्वामी हैं और अनेक नाम वाले हैं । भगवान ने आत्मा को परिणामी, (आत्मगुणों में परिणमन करने वाली) साकार एवं निराकार उपयोग वाली, चैतन्य रूप, कर्म का कर्त्ता और फल का भोक्ता कहा है ।।१।।

अभेद को ग्रहण करने वाले दर्शनोपयोग को निराकारोपयोग—सामान्योपयोग और भेद को ग्रहण करने वाले ज्ञानोपयोग को साकारोपयोग—विशेषोपयोग कहते हैं । इस प्रकार चेतना के 'दर्शन और ज्ञान' यह दो भेद हैं । इस चैतन्य व्यापार से ही यह आत्म वस्तु ग्रहण की जाती है—पहचानी जाती है । अथवा इस चैतन्य वस्तु से ही आत्मा वस्तुओं को देखता जानता है ।।२।।

विशेष—अभेद को ग्रहण करने वाले द्रव्य नय की अपेक्षा आत्मा निराकार औरभेद को ग्रहण करने वाले पर्याय नय की अपेक्षा आत्मा साकार है । चेतना के 'ज्ञान और दर्शन' दो भेद हैं । वस्तु के जानने और देखने का कार्य इन्हीं द्वारा सम्पन्न होता है ।

प्रत्येक द्रव्य सामान्य और विशेषात्मक होता है । चेतन भी द्रव्य है, इसलिए वह भी सामान्य और विशेषात्मक है । उसके दो रूप दर्शन और ज्ञान हैं । वह दर्शन-ज्ञान को कभी त्यागता नहीं है । दर्शन उसका सामान्य स्वरूप है तथा ज्ञान उसका विशेष स्वरूप है । सामान्य उपयोग दर्शन है, विशेष उपयोग ज्ञान है ।

जीव कर्त्ता है क्यों कि परिणामों में परिणमन करता है और कर्म का करता है । नयवाद से इस कर्तृत्व के एक ही नहीं, अनेक रूप हैं । अर्थात् निश्चय नय से अपने ज्ञान स्वभाव का कर्त्ता है । अशुद्ध निश्चय नय से जिन जिन रागादि भावों में परिणमन करता है, उनका कर्त्ता है । तथा व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कार्यों का एवं शारीरिक नोकर्म का कर्त्ता है और उपचार से घर, नगर आदि का कर्त्ता है । इस प्रकार इसमें कर्त्तापन व

परिणमनशीलता है किन्तु मनुष्य को शुद्ध निश्चय नय के अनुसार अपने ज्ञायक भाव में परिणमन करना चाहिए ॥३॥

सुख और दुःख दोनों को कर्म-फल जानो। निश्चय से तो केवल आनंद ही है। केवलियों में चन्द्रमा के समान तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान ने कहा है कि आत्मा किसी भी अवस्था में अपने चेतन स्वभाव को नहीं छोड़ता है। अतः वह चैतन्य है और निश्चय नय से वह आनन्द स्वरूप है ॥४॥

श्री ज्ञानसारजी ने कहा है—

धर्मी अपने धर्म को, तजे न तीनों काल।

आतमा न तजै ज्ञान गुण, जड किरिया की चाल॥

सब द्रव्य परिणामी हैं, (एक अवस्था छोड़ कर दूसरी अवस्था प्राप्त करने को परिणाम कहते हैं अर्थात् परिवर्तनशीलता को परिणामी कहते हैं) अपने अपने स्वभाव में सब परिणमन करते हैं इसलिए चेतन भी परिणामी है। उसका परिणमन-ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होता है। इन्हें क्रम से ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना और कर्म फल-चेतना कहना चाहिये। इस प्रकार चेतना के यह तीन परिणमन मानने चाहिये। इन में ज्ञान चेतना शुद्ध चेतना है और कर्म चेतना एवं कर्म फल चेतना अशुद्ध चेतना है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भाव में विचरना—'इसे मैं करता हूँ'—कर्म चेतना है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य में यह चिन्तन करना —'मैं भोगता हूँ'—यह कर्म फल चेतना है। ये दोनों अज्ञान चेतना संसार का बीज है और ज्ञान चेतना मुक्ति बीज है। अतः हे भव्य जीवो! इस प्रकार समझ कर अपने चेतन को मनाकर—समझाकर आत्म स्वरूप प्राप्त करो ॥५॥

आत्म ज्ञानी—भावलिंगी ही श्रमण (साधु) कहे जाते हैं अन्य तो द्रव्य-लिंगी—भेषधारी (साधु वेश वाले) हैं। जड और चेतन भाव को जो यथार्थ रूप से प्रकाशित करते हैं और रागादिभावों को—जड कर्म के संयोग से उत्पन्न जान कर छोड़ते हैं, वे भेद ज्ञानी चारित्रवान, आनन्दघन मत के संगी—साथी हैं। अर्थात् वे ही घनीभूत आनन्द को प्राप्त करते है ॥६॥

श्री विमल जिन स्तवन (१३)

(राग मल्हार–इडर श्रांबा श्रावली रे, इडर दाडिम दाख–ए देसी)

दुख दोहग दूरै टल्या रे सुख सम्पत सूं भेट ।
धींग धणी माथै कियो रे कुण गजै नरखेट ।।
विमल जिन दीठा लोग्रणे ग्राज म्हारा सीझा वंछित काज
।।विमल०।।१।।
चरण कमल कमला वसै रे, निरमल थिर पद देख ।
समल अथिर पद परिहरी, पकज पामर पेख ।।विमल०।।२।।
मुझ मन तुझ पद-पकजे रे लीनो गुण-मकरंद ।
रक गिणे मदर धरा रे, इन्द्र चन्द नागिन्द । वमल०।।३।।
साहव समरथ तूं धणी रे. पाम्यो परम उदार ।
मन विसरामी वाल हो रे. ग्रातम चो ग्राधार ।।विमल०।।४।।
दरसण दीठे जिन तणो रे समय रहे न वेध ।
दिनकर कर भर पसरतां रे, अंधकार प्रतिषेध ।।विमल०।।५।।
ग्रमी भरी मूरति रची रे उपमा घटे न कोय ।
शांत सुधारस झलीती रे निरखत तृपति न होय ।।विमल० ।६।।
एक ग्ररज सेवक तणीं रे. ग्रवधारो जिनदेव ।
क्रिपा करी मुझ दीजिये रे, 'ग्रानन्दघन' पद सेव ।।विमल०।।७।।

(१३) पाठान्तर—'राग मल्हार' शब्द आ, उ, ऊ, प्रतियों में नहीं है । 'अ' प्रति में यह स्तवन 'विमल जिनेसर' आदि से आरम्भ होता है । सूं = सुं (अ, आ), स्यु (उ) । कियो रे = कियां रे (ग्र, ग्रा; उ, ऊ) । नरखेट = जनखेट (अ) । जिन = जिनेसर आज दीठा लोयणे (ग्र) । म्हारा = मारा (ग्रा, ऊ) । सीझा = सीधा (ग्रा, उ) । 'म्हारा सीझा वंछित काज' 'अ' प्रति

में नहीं है। थिर पद = पद थिर (अ) । देख = देखि (अ, उ) । परिहरीं रे = परिहरे रे (अ) । पंकज = पद कज (अ) । पेख = पेखि (उ) । मुझ....पंकजे रे = मन मधुकर तुझ पद कजेरे (अ) । लीनो = लीणो (अ, उ, ऊ)। गिणे = गुणे (अ) । मन्दर = मन्दिर (अ, ऊ) । साहब = साहिब (अ, आ, उ, ऊ) । पाम्यो = पांम्यौ (आ, ऊ) । आतमचो = आतमचौ (अ, आ, उ, ऊ) । दीठें = दीठो (उ) । संसय = संसो (अ) पसरतां रे = विलसतो रे (अ) प्रसरतां रे (इ)। अमी=अमिय(इ,ई,)अमीय (उ,ऊ) । उपमा घटै न=उपमा न घटै (अ,आ, ऊ) । उपम न घटै (उ) । शांत=दृष्टि (अ), शान्ति (उ,ऊ) । निरखत=निरपित (ऊ) । तृपति = त्रिपत (अ), तृप्ति (इ, ई) । क्रिपा = कृपा (अ, आ, इ, ई, उ) ।

शब्दार्थ—दोहग = दुर्भाग्य । टल्या रे = टल गये, दूर हो गये । धींग = प्रबल, बलवान । गंजै = जीते । नरखेट = नराधम, शिकारी, मोहादि कषायें । सीझा = सिद्ध हो गये, सफल हो गये । दीठा = देखा । लोयण = लोचनों से, नेत्रों से । पामर = पापी । लीनो = लवलीन है । रंक = तुच्छ । मन्दर = मन्दराचल, मेरू पर्वत । नागिन्द = नागेन्द्र, भुवनवासी देवताओं का इन्द्र । विसरामी = विश्रामस्थल । वालहो = प्रिय । चो = का । वेध = कसक, चुभन । पसरतां = फैलते ही । प्रतिखेद = रुकावट । अमी=अमृत । झीलती=भरी हुई । अवधारो = ग्रहण करो ।

अर्थ—कवि कहते हैं—श्री विमलनाथ जिनेश्वर के दर्शन से चतुर्गति सम्बन्धी दुख और अज्ञान सम्बन्धी दुर्भाग्य दूर चले गये हैं । मानसिक शांति रूप सुख और रत्नत्रय रूप सम्पत्ति प्राप्त हो गई है । ऐसे सामर्थ्यवान स्वामी जब मेरे मस्तक पर हैं तब मोहादि अधम शिकारियों (शत्रुओं) में से ऐसा कौन है जो मुझे जीत सकता है । आज ज्ञान-चक्षुओं से मैंने श्री विमलनाथ भगवान के दर्शन कर लिये हैं । अब मेरे सम्पूर्ण मनोवांच्छित कार्य सिद्ध हो गये हैं ।।१।।

"क्रोधादि सब जीव के, लगे पीठ ठग लार ।
जक न दियत, मुनिराज लग, खेटक लच्छन धार ।। (श्री ज्ञानसारजी)

कमल को तुच्छ, मैला, क्षण स्थायी और घृणित कीचड सहित देखकर लक्ष्मी ने उस स्थान को छोड दिया है और आपके चरण रूपी कमल को निर्मल और स्थिर स्थान वाला देखकर वहाँ अपना निवास कर लिया है ॥१॥

मेरा मन रूप भ्रमर (भौंरा) आपके चरण कमल के गुण रूपी पराग में लवलीन है—मग्न है। यह मेरा मन इन्द्र, चन्द्र और नागेन्द्र आदि के महान पदों एवं मेरु पर्वत की स्वर्ण भूमियों को इन चरणों की तुलना में तुच्छ गिनता है—समझता है ॥३॥

हे नाथ ! आप सब प्रकार से सामर्थ्यवान है। आप जैसा महान उदार स्वामी मुझे प्राप्त हुआ है। आप मनके विश्राम रूप हैं, जहां मेरा मन विश्राम लेता है—ठहरता है। आप मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरी आत्मा के आधार और निज स्वरूप प्राप्ति के साधन, ध्येय हैं। मैंने आज ज्ञान-चक्षुओं से आप के दर्शन कर लिये हैं ॥४॥

हे जिनेश्वर देव ! जिस प्रकार सूर्य की किरणों के फैलने से अन्धकार (अन्धेरा) रुक जाता है—लुप्त हो जाता है, उसही प्रकार आपके दर्शनों से संशय अश्रद्धा, अज्ञानादि का मूलोच्छेद हो जाता है ॥५॥

आपकी मूर्ति अमृत रस से भरी हुई है जिस पर कोई उपमा घटित ही नहीं होती अर्थात् यह अनुपमेय है। इसमें प्रशम रस रूप सुधा रस झकोले खा रहा है—उमड़ रहा है जिसे निरख निरख कर—देख देख कर—कभी तृप्ति नहीं होती है—मन नहीं भरता है ॥६॥

हे जिनेश्वर देव ! इस सेवक की एक ही विनय है उसे आप स्वीकार कीजिये। हे प्रभो ! कृपा पूर्वक मुझे आनन्दघन रूप परम पद की सेवा दीजिये ॥७॥

श्री अनन्त जिन स्तवन (१४)

(राग—रामगिरी कडखो)

धार तरवार नो सोहिलो, दोहिलो चउदमा जिन तणा चरण सेवा।

धार परि नाचता देखि बाजीगरा, सेवना-धार परि रहै न देवा
॥धार०॥१॥

एक कहै सेवियें विविध किरिया करी फल अनेकांत लोचन न देखं।
फल अनेकान्त किरिया करी बापड़ा, रडवडे चार गति मांहि लेखं
॥धार०॥२॥

गच्छ ना भेद बहु नयण निहालतां, तत्वनी वात करतां न लाजे।
उदर भरणादि निज काज करतां थकां, मोह नडिया कलिकाल राजे
॥धार०॥३॥

वचन निरपेख व्यवहार झूठो कह्यो वचन सापेख व्यवहार साँचो।
वचन निरपेख व्यवहार ससार फल, सांभली आदरी कांइ राचो
॥धार०॥४॥

देव गुरु धर्म नी शुद्धि कहो किम रहै किम रहै शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी, छारि परि लीपणो तेह जाणो
॥धार०॥५॥

पाप नहिं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो धर्म नहिं कोइ जग सूत्र सरीखो।
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करै, तेहनो शुद्ध चारित्र परिखो
॥धार०॥६॥

एह उपदेशनू सार संक्षेप थी, जे नरा चित्तमां नित्य ध्यावै।
ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवा, नियत 'आनन्दघन' राज पावै
॥धार०॥७॥

पाठान्तर—राग....कडखो = राग कडखानी (अ, आ,) कडखो (उ) राग—कडपो (ऊ)। सोहिली दोहिली = सोहली दोहली (इ, उ)। चउदमा = चौदमा (अ, आ,) चोदमा (उ) चवदमा (ऊ)। परि = पर (आ, इ, उ, ऊ)। देखि = देख (आ, इ, उ, ऊ)। सेवियें = सेविइं (अ)। कहै = कहि (उ, ऊ)। रडवडे = रडपड्या (अ), रढवडे (उ)। चार = च्यार (अ, आ, उ,

ऊ) । नयरा = नयरिए (उ) । निरपेख = निरपेखि (ग्र), निरपेक्ष (ग्रा, इ, ई, उ, ऊ) । सापेख = सापेखि (ग्र), सापेक्ष (ग्रा, इ, ई, उ, ऊ) । आदरी = आचरी (ग्र) । किम = किमि (उ) । श्रद्धान = सरधान (अ) । ग्राणो = टाणौ (अ, आ) । करी = सही (अ, आ,) कही (उ) । लीपणो = लीपणा (ग्र, आ) । तेह = सरिस (ग्र, ग्रा) । जिस्यो = जिसौ (अ, ग्रा, उ, ऊ) । जग = जगि (अ) । अनुसार = अनुसारि (उ) । परिखो = परषौ (ऊ) । संक्षेपथी = संखेपथी (ग्र) । चित्तमां = चित्त में (ग्र, आ, उ, ऊ) । नित्य = नित्त (अ, आ, ऊ) । ध्यावें = भावे (ग्र) । ते नरा.....ग्रनुभवी = ते नरा काल वहु दिव्य सुख भोगवी (अ), ते नरा काल वहु दिव्य सुख अनुभवी (ग्रा) ।

शब्दार्थ—सोहिली = सरल । दोहिली = कठिन । देवा = देवता भी लोचन = आंख । वापडा = वेचारा, अजानी । रडवडे = भटकते हैं । गच्छना = समुदाय के । निहालतां = देखते हुये । उदर = पेट । मोह नडिया = मोह में फँसे हुये, मोहाधीन, मोह से वंधे हुये । निरपेख = निरपेक्ष, अपेक्षा रहित, तटस्थ । सापेख = सापेक्ष, अपेक्षा सहित, जिन वचन अनुसार । साँभळी = सुनकर । राचो = प्रसन्न होना । आदरी = ग्रहण करके । कांइ = क्या, कुछ भी । श्रद्धान = विश्वास, प्रतीति । आणो = प्राप्त करो, लावो । छारि = धूलपर । लीपणो = लीपना । उत्सूत्र = सूत्र के विपरीत, जिनवचन के विरुद्ध । सूत्र = ग्रागम शास्त्र । सरिखो = समान । परिखो=परीक्षा करो ।

ग्रर्थ—तरवार की धार पर चलना सुगम है किन्तु चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ भगवान की चरण-सेवा—उनके चारित्रानुसार प्रवर्तन—अत्यन्त दुष्कर है । तलवार की धार पर नाचते हुये ग्रनेक वाजीगर (खेल दिखाने वाले नट) देखे जाते हैं किन्तु भगवान की चारित्र-सेवा रूप धार पर देवता भी नहीं टिक (ठहर) सकते हैं क्यों कि उन्हें चारित्र नहीं प्राप्त हो सकता है ॥१॥

कई एक क्रियावादी ऐसा कहते है कि विविध क्रियाओं (त्याग वैराग्य) द्वारा प्रभु की सेवा भक्ति करनी चाहिये । उन विविध क्रियाओं का फल भी विविध, ग्रनेकान्त रूप (नाना प्रकार का पुण्य वंध) होता है जिसे नेत्र (आंखें)

नहीं देखती। जिन क्रियाओं के करने से एकांत फल (मोक्ष) नहीं होता, विविध फल होते हैं—भांति भांति के फल मिलते हैं—ऐसी अनेकान्त फल दायक क्रियाओं से तो वे बेचारे चार गति रूप संसार में भटकते हैं जिनका लेखा—हिसाब नहीं बताया जा सकता।

(त्याग-वैराग्य मोक्ष मार्ग के साधन हैं। वे आत्म ज्ञान सहित किये जाये तो मोक्ष रूप एकांत फल दाता हैं।)

जो क्रियायें एक लक्षी होती हैं उनका फल भी एकांत (मोक्ष) ही होता है। अनेकान्त नहीं होता। ऐसी एक लक्ष्मी-स्वरूपानुयायी क्रिया ही चारगति का फेरा—भव भ्रमण टालती हैं। जैसे लक्ष्य साध कर छोडा हुआ बाण ठीक निशाने पर पहुंचता है और विना लक्ष्य का बाण ऊंचा नीचा होकर निशाने पर नहीं पहुंचता ॥२॥

गच्छों के अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं। यह गच्छ-ममत्वी तत्व की बात करते हुये तनिक भी नहीं सकुचाते हैं। पेटपालन आदि अपना कार्य करते हुये, ये लोग दुषम—कलिकाल के राज्य में महामोह में फँसे हुये हैं—जकड़े हुये हैं। अर्थात् महामोह के आधीन होकर ये लोग कलिकाल में राजा बने बैठे हैं ॥३॥

निरपेक्ष वचन—अपेक्षा रहित वचन—एकान्तवाद असत्य है। सापेक्ष वचन—अपेक्षा सहित वचन—अनेकान्त वाद--सापेक्षवाद ही सत्य है। इस सापेक्ष वाद का प्रयोग ही सद् व्यवहार है। निरपेक्ष वचन—एकान्तिक वचन का प्रयोग संसार बढाता है। यह सुन कर उसे मान देकर—स्वीकार कर—उसमें क्यों रचपचते हो—अनुरक्त होते हो—निमग्न होते हो ॥४॥

आगम साक्षी विना निरपेक्ष वचनों से (एकान्त वाद से) देव, गुरु और धर्म की शुद्धि की परीक्षा कैसे हो सकती है? परीक्षा विना दृढ श्रद्धान कैसे रह सकती है? और शुद्ध श्रद्धा के विना तो की हुयी सम्पूर्ण क्रियायें ऐसे व्यर्थ हो जाती हैं जैसे छार—धूल के आंगन पर किया हुआ लेपन। (लीपणा—गोबर की पतली तह पोतना) ॥५॥

उत्सूत्र-भाषण--आगम विरुद्ध भाषण-के समान संसार में कोई पाप नहीं है और आगम के अनुसार कथन और आचरण के समान कोई धर्म नहीं है। सूत्र—आगम के अनुसार जो भव्य प्राणी क्रियायें करता है उसके चरित्र (चारित्र) को ही शुद्ध समझना चाहिये ॥६॥

(जो मनुष्य आगमों के अर्थ का मृषा उपदेश देता है उसकी शुद्धि प्रायश्चित से भी नहीं हो सकती है क्योंकि जो व्यक्ति अपने व्रतों को भंग करता है उनसे तो वह केवल अपनी ही आत्मा को मलीन करता है किन्तु जो सिद्धांत ग्रन्थों का मृषा उपदेश देता है वह दूसरी अनेक आत्माओं को मलीन करता है संसार-समुद्र मे डुबोता है अतः इसके समान कोई दूसरा पाप नहीं है।)

यह जिनेश्वर देव के कथित उपदेश का सार-संक्षेप है। जो व्यक्ति इस आर्ष धर्म का चित्त मे प्रति समय विचार रखेगा, वह बहुत समय तक शिव (अनोखे) सुख का अनुभव करके निश्चय ही अनन्त आनन्द का राज्य-मोक्ष प्राप्त करेगा ॥७॥

श्री धर्म जिन स्तवन (१५)

(राग—गोडी सारंग, रसियानी देशी)

धरम जिनेसर गाऊं रग सूं भगन पडज्यो हो प्रीत।
बीजो मन मन्दिर आणूं नहीं, ए अम्ह कुलवट रीत ॥धरम०॥१॥
धरम धरम करतो जग सहु फिरै, धरम न जाणै हो मर्म।
धरम जिनेसर चरण ग्रह्यां पछी, कोइ न वंधै हो कर्म ॥धरम०॥२॥
प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करै, देखे परम निधान।
हृदय नयन निहालै जग धणी, महिमा मेरु समान ॥धरम०॥३॥
दोडत दोडत दोडत दोडियो, जेती मननी हो दौड।
प्रेम प्रतीति विचारो ढूकडी, गुरुगम लीज्यो हो जोड ॥धरम०॥४॥

शब्दार्थ—रंग सूं = आनन्द से, आत्म भाव में लीन होकर। भंग = बाधा। म = नहीं। बीजो = दूसरा। आणू = लाऊं। अम्ह = हमारी। कुल-वट = कुल (वंश) परम्परा। सहु = सब। मर्म = रहस्य। पछी = पीछे। निधान = खजाना। निहालै = देखे। धणी = स्वामी। महिमा = यश, कीर्ति ढूकडी = समीप, नजदीक। एक पखी = इक तरफा, एकांगी। उभय = दोनों। संधि = मिलाप। निरबंध = बंध रहित। आगलै = आगे, सम्मुख। पुलाय = दौडना। रोहण = रोहणाचल। भूधरा = पर्वत। वर = श्रेष्ठ। कज = कंज कमल। सांभलो = सुनो। अरदास = प्रार्थना।

अर्थ—भक्ति-रंग में रंग कर मैं श्रीधर्मनाथ जिनेश्वर का स्तवन-गायन करता हूँ। हे प्रभो! आपके प्रति मेरी भक्ति है, वह कभी टूटे नहीं, यही मेरी प्रार्थना है। मेरे मन-मन्दिर में आपके अतिरिक्त किसी दूसरे को कोई स्थान नहीं है। यही हमारा कुलधर्म है—यही आत्मस्वभाव है ॥१॥

यह संसार धर्म, धर्म-मुनि धर्म, यति धर्म, सन्यास धर्म, गृहस्थ धर्म आदि धर्म करो धर्म करो कहता हुआ फिर रहा है किन्तु यह धर्म के मर्म को-रहस्य को-जरा भी नहीं जानता।

'वस्तु स्वभावो धर्मः'। स्वभाव परिणति ही धर्म है। अतः निज स्व-रूप रूप धर्म में परिणमन करने वाले धर्मनाथ जिनेश्वर के चरण पकडने के पश्चात-चारित्र का अनुसरण करने के बाद-कोई भी नवीन पाप कर्म नहीं बांधता है ॥२॥

सद्गुरु कृपा करके प्रवचन रूपी अंचन जिस किसी के हृदय रूपी नेत्रों में आंजते हैं-लगाते हैं-तो वह स्व स्वरूप रूपी परम निधान (खजाना) को देख लेता है। हृदय नेत्रों से उस जगतपति को वह देखता है जिसकी महिमा (यश) मेरू के समान है ॥३॥

मन अपनी दौड-कल्पना शक्ति के अनुसार चारों और जितना दौड सकता था-दौडा किन्तु कस्तूरीमृग के समान उसका चारों ओर दौडना व्यर्थ

ही गया। सद्गुरु द्वारा दी गई समझ को–ज्ञान को–अपनी बुद्धि के साथ जोड कर विचारने से प्रेम प्रतीति–भक्ति और श्रद्धा का आधार आत्मदर्शन तो मन के अत्यन्त निकट ही है ॥४॥

एक तरफा प्रीति कैसे निभ सकती है। दोनों समान धर्मियों के मेल से ही संधि–मिलाप–होता है। मैं राग–द्वेष और मोह के फंदे में फंसा हुआ हूं और आप राग रहित और बंध रहित हैं। मेरी प्रीति तो तब ही निभ सकेगी जब मैं भी आप जैसा वीतरागी बन जाऊं ॥५॥

परम निधान (खजाना) मोक्ष मुख के सामने ही रखा हुआ है किन्तु उसे संसारी लोग (अंधे की भांति) लांघ कर चले जाते हैं। जगदीश की ज्ञान ज्योति के बिना एक अन्धे के पीछे दूसरा अन्धा–भेडिया धसान के समान दौड लगा रहा है और परम निधान आत्मतत्व को जो अपने पास है नहीं देखता–नहीं पहचानता ॥६॥

खंध चडायै तनयकूं हेरत फिर्यो विदेस।
सुरत भई तब सांभर्यो, पूत खंध परवेस॥ (ज्ञानसारजी)

हे प्रभो! आप निर्मल ज्ञानादि गुण रत्नों के रोहणाचल पर्वत हैं और मुनिगणों के मनरूपी मानसरोवर के हंस हैं। वह नगरी धन्य है जो आपके चरणों से पवित्र हुई है। वह वेला–समय धन्य है जिसमें आपका जन्म हुआ। आपके माता पिता और कुल (गोत्र) तथा वंश (कुटुम्ब) ये सब धन्य हैं ॥७॥

भक्ति-भाव में विभोर मेरा श्रेष्ठ मन रूपी भ्रमर हाथ जोड़ कर प्रार्थी है कि हे भगवान! आपके चरण कमलों के निकट ही सेवक को निवास स्थान दीजिये। हे अनेक नाम वाले आनन्दघन प्रभो! इस सेवक की यह प्रार्थना सुनिये और स्वीकार करिये ॥८॥

श्री शन्ति जिन स्तवन (१६)

(राग–मल्हार—चतुर चौमासो पडकमी-ए देशी)।

शान्ति जिन इक मुझ विनिती, सुणो त्रिभुवन राय रे।

शांति सरूप किम जाणिये, कहो मन किम परखाय रे ॥शांति०॥१॥
धन्य तू जेहने एहवो, हुओ प्रश्न अवकास रे ।
धीरज मन धरि सांभली, कहूँ शान्ति प्रतिभास रे ॥शांति०॥२॥
भाव अविशुद्ध सविशुद्ध जे,कह्या जिनवर देव रे ।
ते तिम अवितत्थ सद्दहे,प्रथम ए शान्ति-पद सेव रे ॥शां०॥३॥
आगम धर गुरु समकिती, क्रिया सम्बर सार रे ।
सम्प्रदायि अवचक सदा, सुचि अनुभवाधार रे ॥शां०॥४॥
शुद्ध आलम्बन आदरै, तजि अवर जंजाल रे ।
तामसी वृत्ति सवि परिहरि, भजे सात्विकी साल रे ॥शां०॥५॥

फ़ल विसवाद जेहमां नहीं, शब्द ते अर्थ सम्बन्धि रे ।
सकल नयवाद व्यापि रह्यो, ते शिव साधन संधि रे ॥शान्ति०॥६॥
विधि प्रतिषेध करि आतमा, पदारथ अविरोध रे ।
ग्रहण विधि महाजन परिग्रह्यो, इस्यो आगमे बोध रे ॥शान्ति०॥७॥
दुष्ट जन संगति परिहरी, भजें सुगुरु संतान रे ।
जोग सामर्थ चित भावजै, धरै मुगति निदान रे ॥शान्ति०॥८॥
मान अपमान चित सम गिणें, सम गिणें कनक पाखान रे ।
वदक निन्दकहु सम गिणें, इस्यो होय तू जान रे ॥शान्ति०॥९॥
सर्व जग जन्तु नैं सम गिणें, गिणें त्रिण मणि भाव रे ।
मुगति संसार बुधि सम धरै, मुणें भव-जलनिधि नाव रे ॥शां०॥१०॥
आपणो आतम भावजे, एक चेतना धार रे ।
अवर सवि साथ संजोगथी, ए निज परिकर सार रे ॥शा०॥११॥
प्रभु मुख थी इम सांभली, कहै आतमराम रे ।
थाहरै दरसणे निस्तर्यो, मुझ सीधा सवि काम रे ॥शां०॥१२॥

अहों अहो हूँ मुझनै कहूँ, नमो मुझ नमो मुझ रे।
अमित फल दान दातारनी, जेथी भेंट थई तुझ रे ।।शां०।।१३।।

शान्ति सरूप संखेपथी, कह्यो निज पर रूप रे।
आगम मांहि विस्तर घणो, कह्यो शान्ति निज भूप रे ।।शां०।।१४।।

शान्ति सरूप इम भाव से, धरि शुद्ध प्रणिधान रे।
'आनन्दघन' पद पामसे, ते लहसे बहुमान रे ।।शां०।।१५।।

पाठान्तर—राग....पडकमि–ए देसी = ढाल--दान उलट धरि दीजिये (अ, आ), चतुर चौमासो पडकमी-ए देसी (उ, ऊ,)। त्रिभुवन राय रे = त्रिभुवनराव रे (अ, आ)। सरूप = स्वरूप (इ, ई, उ)। जाणिये = जाणियइ (अ), जाणिइं (उ)। मन परखाय रे = निज परभाव रे (अ, आ), मन परथाइरे (उ)। जेहने एहवो=एहवो जेहनै (अ), आतम जेहने (उ, ऊ)। हुवो=एहवो (अ, उ,ऊ)। धरि=धरी (अ,उ,ऊ)। कहूँ=कहुं (अ,उ)। अविसुद्ध सविसुद्ध=अविरुद्ध अविशुद्ध (अ), अविशुद्ध, विशुद्ध (इ); अशुद्धछै, शुद्धछै (उ)। जिनवर=श्री जिनवर (आ, ई)। तिम = तेम (इ, ई)। अवितत्थ सद्दहे = अवितथ सद्दहें (उ), अवितथ सरद है (ऊ)। प्रथम ए = प्रथम (अ)। गुरु = गुर (ऊ)। क्रिया = किरिया (अ)। सम्प्रदायि = सम्प्रदायी (अ), सम्प्रदाई (आ, उ, ऊ) अवंचक= अवंछक (अ)। सुचि = सुची (अ)। अनुभवा = अनुभव (अ)। तजि = तजे (अ)। मूकतो (उ), तजी (ऊ)। परिहरी = परिहरै (अ, ऊ), परिहरइ (उ)। भजे = भजइ (उ)। सालरे = सार रे (उ)। जेहमां = जेम्हां (इ, ई)। शब्द ते अर्थ सम्वन्धि रे = शवद अरथ सम्बन्ध रे (अ), शब्द ते अर्थ सम्बन्ध रे (उ, ऊ)। व्यापि = व्यापी (अ, आ, उ, ऊ)। ते....संधि रे = सिद्ध सावन संध रे (अ)। विधि....आत्मा = विध-प्रतिषेध क्रिया तथा (अ)। विधि = विध (अ)। महाजन = महाजने (अ, आ, ऊ)। परिग्रह्यू = परिग्रह्यो (अ, आ, उ, ऊ), आगमे बोधरे = आगम अवबोध रे (अ), आगम बोधरे (इ)। परिहरी = परिहरे (अ), परिहरइ (उ)। भजै = भजइ (उ)। जोग = योग (इ, ई, उ)। सामर्थ = सामर्थ्य (उ)। अपमान = उपमान (इ, ई)। समगिणै = गिणै (अ,

आ), समगरणे (उ)। वंदक निन्दकहु = निन्दक वंदक (अ), वंदक निन्दक (आ, उ, ऊ) इस्यो = इसौ (अ, आ, ऊ) । त्रिण = तृण (अ, आ,)। वुधि समधरै = वेउ सम गिणुँ (इ, ई), वहु (उ), विहु (ऊ)। 'मुणे' अ प्रतियों में नहीं है। आतम = आतमा (उ)। सवि = सहु (अ)। साय = सर्व (उ)। परिकर सार रे = परिसार रे (अ)। थाहरे = ताहरे (अ, आ, उ ऊ)। दरसणे = दरसण (इ, उ)। मुझ = मुज्झ (ऊ)। सवि = सहु (अ), सवे (ऊ)। अहो अहो हूं = अहो हुं हुं (अ, आ)। मुझ = मुज्झ (ऊ)। दातारनी = दातारथी (अ), दातारनि (इ, ई)। अैथी = अेहवे (अ), अेहनी (आ, उ, ऊ)। सरूप = स्वरूप (उ, ऊ)। संक्षेप = संक्षेप (आ, इ, ऊ)। कह्यो = कह्यूं (इ, ई)। भावसे = भावस्यै (अ, आ, उ, ऊ)। शुद्ध = सुभ (अ)। पाम से = पामस्यै (अ, आ, उ, ऊ)। ते लहसे = लहो संत (अ, आ), लहस्ये ते (उ), ते लहिस्यै (ऊ)।

शब्दार्थ—त्रिभुवनराय = तीनों लोकों के स्वामी। परखाय = परीक्षा करना, पहिचानना। अवकाश = अवसर मिला, विचार आया। सांभली = सुनी। प्रतिभास = स्वरूप। अविसुद्ध = असुद्ध, हीन। सविशुद्ध = शुद्ध, उत्तम। अवितत्थ = यथार्थ। सद्दहे = श्रद्धान करे, माने। सम्प्रदायि = सम्प्रदाय के रक्षक वीतराग देव की मर्यादाओं के रखने वाले। अवंचक = निष्कपट। सुचि = पवित्र, अनुभवाधार = अनुभव (ज्ञान) के आधार। अवर = अन्य, दूसरे। तामसी = तमो गुण वाली, कषायों वाली। सवि = सब। परिहरी = छोड़कर। सात्त्विकी = सात्विक गुण वाली, समता, दया, क्षमादि गुण वाली। सार = सार, निष्कर्ष, उत्तमोत्तम। विसंवाद = संशय। प्रतिषेद = निषेद। अविरोध = विरोध रहित। पाखान = पाषाण, पत्थर। वंदक = वंदना करने वाला। निन्दक = निंदा (बुराई) करने वाला। त्रिण = तृण, घास। परिकर = परिवार। थाहरे = तेरे। अमित = अनंत। प्रणिधान = एकाग्रता, समाधि।

अर्थ—हे शान्तिनाथ प्रभो! हे त्रिभुवन के राजेश्वर! मेरी एक विनय युक्त प्रार्थना सुनिये। मैं आपके परम शान्त स्वरूप को कैसे जान सकता हूँ, कैसे पहचान सकता हूँ। ये सब कृपा कर बताइये—कहिये ॥१॥

यह जिज्ञासु भावनात्मक प्रश्न है, आगे के पद्य में इसका उत्तर है। लगता है कि स्वयं श्री शांतिनाथ भगवान ही उत्तर देते हैं या यों कहें कि ज्ञान चेतना कहती है—

हे आत्मा ! तू धन्य है जिसे ऐसे प्रश्न करने का अवसर प्राप्त हुआ है, जिज्ञासा हुई है। मन में धैर्य धारण करके सुन। शांतिस्वरूप जैसा प्रतिपित हुआ हैं, ठीक वैसा ही यहां कहा जाता है ।।२।।

श्री जिनेश्वर देव ने आगम में जिन जिन भावों को विशेष शुद्ध और जिन भावों को अशुद्ध (निकृष्ट) कहे हैं, उन्हें ठीक उस ही रूप में यथार्थ जान और उन पर पूर्ण श्रद्धा करना ही शांति-पद प्राप्ती की प्रथम सेवा है अर्थात् सोपान है। शांति-पद प्राप्ती के लिए सर्व प्रथम दृढ श्रद्धा (विश्वास) की आवश्यकता है ।।३।।

इस पद में श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व का महत्व एवं लक्षण बताया गया है।

(अनन्तकाल तक जीव स्वच्छन्द चले तो भी अपने आप ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ज्ञानी की आज्ञा का आराधक अन्तर्मुहूर्त में ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है, इसलिए क्षीणमोह तक ज्ञानी की आज्ञा का अवलंबन हितकारी है। श्री राजचन्द्र)

आगमों के परमार्थ को धारण करने वाले अर्थात जिनेश्वर के कहे हुये आचारांगादि शास्त्रों के ज्ञाता, संवर क्रिया करने वाले, मोक्षमार्ग सम्प्रदाय के अनुयायी और वीतराग देव श्री शांतिनाथ भगवान की परम्परा के रक्षक, सदा अवंचक (आश्रव क्रिया न करने वाले, निष्कपट और निर्दंभ रहने वाले और दूसरों को न ठगने वाले) पवित्र, आत्मानुभव के आधार रूप सद्गुरु की सेवा शांति-स्वरूप प्राप्त करने का उत्कृष्ट मार्ग है ।।४।।

सम्पूर्ण सांसारिक जंजालों को त्याग कर जो शुद्ध आत्म स्वरूप का अवलम्बन करते हैं और सब तामसी वृतियों (कषायादि राग-द्वेष भावों) का

त्याग कर, जो मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि सात्विक वृत्तियों को ग्रहण करते हैं, वे ही शांतिस्वरूप को प्राप्त करने वाले सद्गुरु हैं ।।५।।

गुरु उपदेश के सम्बन्ध में कथन है—

फल का संदेह व अनिश्चित्तता जिसमें नहीं है अर्थात् जो निश्चय रूप से मुक्तिदायक है, जिन के शब्द (उपदेश) भ्रांति रहित यथार्थ अर्थ के सूचक हैं, जिसमें पारमार्थिक रूप से सफल नयवाद की पूर्ण रूप से व्यवस्था है—सब दृष्टिकोणों का समन्वय है। ऐसा गुरुउपदेश शिवमार्ग—मोक्ष मार्ग का साधन भूत एवं संधिरूप है—हेतुरूप है—मिलाने वाला है ।।६।।

आगे के सातवें पद्य में शांति स्वरूप का साक्षात्कार के प्रकार का निर्दशन है।

आत्म पदार्थ के द्वारा ही विधि और निषेध की व्यवस्था और निर्णय होता है। जिन क्रियाओं का आत्म भाव से विरोध नहीं है, वह 'विधिमार्ग' है। वह उपादेय (ग्रहण) करने योग्य है। आत्म भाव से जिन कार्यों एवं क्रियाओं का विरोध हो व निषिध है—करने योग्य नहीं है। इस ग्रहण और त्याग विधि को महापुरुषों ने अपनाया है, ऐसा आगम से बोध होता है ।।७।।

क्रोधादि कषायें, राग-द्वेष और अशुभ योग आत्म भाव के विरुद्ध हैं अतः ये त्याज्य हैं और तप संयमादि विधिमार्ग हैं, यह ग्रहण करने योग्य हैं। ऐसा करते रहने से शांतिस्वरूप प्राप्त करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है, ऐसा आगमों (शास्त्रों) से बोध होता है।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छै, तहां समझ तू तेह।
त्यां त्यां ते ते आदरे, आत्मार्थी जन ऐह।। (श्रीरायचन्द्र)

दुष्ट मनुष्यों के साथ को त्याग कर जो आरम्भ परिग्रह त्यागी, निस्पृही अल्पकषायी, स्व पर समय के ज्ञाता गुरुसंतान की—शिष्य परम्परा की सेवा करता है वह योग शक्ति से—इच्छा योग, शास्त्र योग तथा सामर्थ्य योग से चित्त के भावों को स्वरूपानुयायी करके अंत में मुक्ति प्राप्त करता है।

अथवा मन, वचन और काया के योगों को आत्म शक्ति से वश में करके हृदय में इस परम पवित्र आत्म तत्व को ध्याता है वह निश्चय से मुक्ति प्राप्त करता है। अर्थात् जो मन, वचन और काया के योगों को इतना संक्षिप्त करता है, ऐसा सम्यक् योग साधता है जिससे चित्तवृत्ति इधर उधर न जाकर आत्मा में ही लीन रहती है वह अवश्य मुक्ति लाभ करता है ॥८॥

मान (प्रतिष्ठा) अपमान को चित्त में समान समझ, कनक (स्वर्ण) और पत्थर को भी समान ही गणना कर, वन्दना करने वाले और निन्दा करने वाले को भी समान ही जान उस में भेद मत कर। हे प्रार्थी आनन्दघन! जब तू ऐसा हो जावेगा तब तू शांति-स्वरूप बन जावेगा ॥९॥

जगत के सब प्राणियों को आत्मवत समझ, मणिरत्नादि को तृणवत जान, मुक्ति और संसार को भी समान जान अर्थात् दोनों में से किसी की इच्छा न कर। ऐसी विचार धारा भव-समुद्र से पार लगाने के लिए नाव के समान है, ऐसी दृढ श्रद्धान रख ॥१०॥

जो कोऊ निन्दा करै, करै प्रसन्शा कोय।
असमी सम विसमै लखै, समी गणै सम होय ॥
समी दुखी, नहि वे दुखी, असमी दोनों जोय।
यातै सम वृत्ति सधै, कर्म बंध लघु होय ॥
दुख को सुख कर लेत है, जो समदृष्टी साध।
असमी कूं सुख दुख असम समी सदा निरवाध ॥ (श्रीज्ञानसार)

अपना आत्म भाव (आत्मा का स्वभाव) एक चेतना के आधार से ज्ञान दर्शन रूप ज्ञायक भाव ही है। यही सार रूप अपना (आत्मा का) परिवार है, अन्य सब साथ तो (स्त्री पुत्र धन दौलत आदि) संयोगजन्य हैं "अस्थाई हैं अतः हे आत्मन! तू समस्त परभाव प्रपंच को छोड़ कर आत्म भाव में ही रमण कर ॥११॥

प्रभु के मुख से ऐसा बोधप्रद उपदेश सुनकर आत्मा--चेतन व भक्त-कवि कहता है— हे नाथ ! आपके दर्शन से मेरा उद्धार हो गया और मेरे सब कार्य सिद्ध हो गये ॥१२॥

(वह अब आत्म विभोर हो कर कहता है) मेरा अहो भाग्य है ! धन्य है मेरा भाग्य ! मुझको (आत्मा को) नमस्कार हो, वंदन हो ! हे नाथ ! अनन्त फल देने वाले महादानेश्वर से जिसकी भेंट हो गई, वह धन्य है ॥१३॥

विशेष—जब परमात्म स्वरूप, प्रगट--अनुभव रूप प्रत्यक्ष—हो जाता है, तब ऐसे ही उद्‌गार निकलते हैं—"जो मैं हूं, वह ही परमात्मा है, जो परमात्मा है सो मैं हूं। मैं ही मेरा उपास्य हूं।" भक्तराज देवचन्द्र जी ने भी कहा है—"जिनवर पूजारे ते निज पूजना रे"।

पंच पूज्ज थी पूज्य ए, सर्व ध्येय ये ध्येय।
ध्याता ध्यानरू ध्येय ए, निश्चै अभेद ए श्रेय ॥९॥

अनुभव करतां एहनो, थाए, परम प्रमोद।
एक स्वरूप अभ्यास सुं, शिव--सुख छै तसु गोद ॥१०॥श्रीदेवचन्द्रजी।

राम रसिक अरु राम रस, कहन सुनन को दोय।
जब समाधि परगट भई, तब दुविधा नहीं कोय ॥ श्रीबनारसीदासजी।

शान्ति--स्वरूप--प्राप्ति के मार्ग का यह संक्षिप्त वर्णन है। इसमें निज स्वरूप और पर स्वरूप को जानने, समझने के लिये वर्णन किया गया है। इसका आगम ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तार है जिसे श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर भगवान ने कहा है। (सब तीर्थंकर भगवान के आगम उस ही आत्म धर्म का उपदेश करते हैं, इसलिए उनके आगम एक ही हैं) ॥१४॥

शान्तिनाथ भगवान के स्वरूप को जो इस प्रकार भक्ति पूर्वक निष्काम भाव से ,.. (से एकाग्रता पूर्वक ध्यावेंगे वे अतिशय आनन्द दायक परम पद को प्राप्त करेंगे और संसार में बहुत सम्मान पावेंगे--सम्मानित होंगे ॥१५॥

श्री कुन्थु जिन स्तवन (१७)

(राग–रामकली – अँबर देहु मुरारी हमारो –ए देशी)

कुन्थु जिन-मनडुं किम ही न बाजै हो।
जिम जिम जतन करीनै राखूं, तिम तिम अलगू भाजै हो
॥कुन्थु०॥१॥

रजनी वासर वसती ऊजड, गयण पयाले जाय।
सांप खायनै मुखडू थोथू, ए उखाणो न्याय ॥कुन्थु०॥२॥

मुगति तणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान नै ध्यान अभ्यासै।
वयरीडू कांइ एहवूं चिन्ते, नाखै अवले पासै ॥कुन्थु॥३॥

आगम आगमधर नै हाथै; नावै किण विध आंकू।
किहाँ कणे जो हट करि हटकूं, तो व्याल तणी पर वाँकू ॥कुन्थु ।४॥

जो ठग कहूँ तो ठगतो न देखूं, साहूकार पिण नांहीं।
सर्व मांहिनै सहुथी अलगू, ए अचरज मन मांही ॥कुन्थु॥५॥

जे जे कहुं ते कान न धारै, आप मतै रहै कालो।
सुर नर पंडितजन समझावै, समझै न म्हारो सालो ॥कुन्थु॥६॥

मैं जाण्यो ए लिंग नपुंसक, सकल मरद नै ठेलै।
बीजी बातें समरथ छै नर, एहने कोई न झेलै ॥कुन्थु०॥७॥

मन साध्यूं तिण सघलूं साध्यूं, एह बात नहीं खोटी।
इम कहै साध्यूं ते नवि मानूं, एक ही बात छै मोटी ॥कुन्थु०॥८॥

मनडो दुराराध्य ते वसि आण्यूं, आगम थी मति आणूं।
"आनन्दघन" प्रभु म्हारो आणो, तो सांचू करि जाणूं ॥कुन्थु०॥९॥

(१७) पाठान्तर—राग....हमारो = राग—सोरठ, मन्दोदरी वारवार यूं आखै (अ)। कुन्थु.....वाजै हो = होकुन्थु जिन मनडुं किण ही वाजै (अ)। वाजै हो = वांभइ (उ)। जतन = जतने (अ)। करीनै = कर कर (अ)। राखूं = राहुं (अ, इ), राखो (उ)। अलगू = अलिगुं (अ)। भाजै हो = भाजइ जी (उ)। पयाले = पयालो (अ), पयालै (आ, उ)। जाय = जायै (आ, ऊ), जायें (उ)। मुखडू = मुहडो (अ)। थोथू = थोथो (अ), थोथु (उ)। ए= एह (ऊ)। ऊखाणो = ऊखणो (उ), अखांणू (ऊ)। न्याय = न्यायै (आ)। ज्ञान = ग्यांन (अ)। वयरीडू = वैरीडो (अ, आ), वयरीडुं (इ, ई), वयरीडो (उ)। एहवूं = एहवो (अ)। चिन्ते = चिन्तवै (अ, आ)। अवले = अलवे (आ, ऊ)। आगमधर = आगमधरि (अ)। नावै = जावै (अ) किहां कणे = किण ही (अ), किहां रे किणि (आ, ऊ)। हठ करि = हठ करीनै (उ, ऊ)। पर = परि (अ, आ, उ)। कहूं = कहुं (इ, ई)। देखूं = देखुं (इ, उ)। पिण = पण (अ, आ, उ)। ए = एह (अ, आ)। अचरज = अचरिज (अ), अचिरिज (उ) अचिरज ए (ऊ)। कहूं ते = कहुंनो (आ, ऊ)। कान = काने (इ, उ)। धारै = धारइ (उ)। कालो = काल्हो (अ)। समभावै = समुभावै (उ)। समभै = समभइ (उ)। म्हारो = माहरो (उ)। मारो (ऊ)। मै = मै ए (अ) मइ (उ)। सकल = सयल (अ)। छै = छइ (उ)। फेनै = पैले (अ)। साध्यूं = साध्यो (अ,आ)। तिण = तेणे (अ,आ), तिणे (इ,उ,ऊ), सघलूं = सघलो। (अ, आ.) सगलूं (ऊ)। एह वात = ए कहावति (अ)। इम कहै = अमकै (अ), इमकहि (ऊ)। एक ही वात = एकहावति (अ), ए कहिवत (आ, ऊ,) एकहिवति (इ), एक हि वात (ई), ए कहवति (उ)। मनडो = मनडु (इ, ई, उ), मनडूं (ऊ)। दुराराध्य = दुरासद (अ). दुरादाध्य (आ), दुराराध (इ)। वसि = वस (इ, ई)। आण्यूं = आन्यो (अ,) आण्यो (आ,) आण्यू (ई)। मति = मन (अ)। आणूं = आण्यू (अ), आणु (उ)। म्हारो = माहरो (अ, आ, उ, ऊ)। सांचूं = सांचो (अ, आ,) सांचु (उ)। जाणूं = जाणों (अ), जाणुं (उ)।

शब्दार्थ—मनडू = मन। किमही = किसी प्रकार से। न वाजै = वाज

नहीं आता, मानता नहीं है। जतन = यत्न, उपाय। अलगू = अलग, दूर। रजनी = रात। वासर = दिन। वसती = जहाँ मनुष्य रहते हों। ऊजड़ = जंगल; जहाँ कोई न रहता हो। गयण = गगन, आकाश। पयालि = पाताल। थोथू = खाली, अतृप्त। ऊखाणो = कहावत, उपाख्यान। वयरीडू = वैरी, शत्रु। नाखै = पटकता है। अवले = उलटे, उन्मार्ग। पासै = पास में, रास्ते में। आंकूं = अंकुश लगाऊं, वश में करूं। किहां कणे = किसी स्थान पर कभी। हटकूं = रोकूं, मना करूं। व्याल = सर्प। वाकू = वक्र, बाँका, टेढा। पिण = परन्तु। सालो = दुर्बुद्धि पत्नी का का भाई। सकल = सब। मरद = पुरुष। ठेलै = दूर हटाता है। बीजी=दूसरी। समरथ=बलवान। भेलै = पकड़े। दुराराध्य = दुःसाध्य, कठिनाई से आराधन (वश में) करने योग्य। मति = बुद्धि।

अर्थ—हे कुन्थुनाथ जिनेश्वर ! मेरा यह मन बाज नहीं आता है—मानता नहीं है। अथवा मेरा यह मन क्यों वाछन्त मेरी वाणी के साथ क्यों नहीं बसता है ? अर्थात् स्तवना करते समय यह वाणी के स्वर में स्वर न मिलाकर इधर उधर क्यों भटकता है ? जैसे जैसे पूर्ण यत्न करके वाणी के साथ तन्मय करने का प्रयास करता हूं वैसे वैसे ही यह दूर क्यों भागता-दौड़ता है ॥१॥

यह मेरा मन रात-दिन बस्ती, (नगर-ग्राम) उजाड़, (जंगल) एवं आकाश पाताल में निर्बाध गति से जाता रहता है फिर भी तृप्त नहीं होता है, अर्थात् भूखा ही रहता है। जैसे सर्प किसी को खाता है—डसता है तो उसका (सर्प का) मुख रीता (खाली) ही रहता है—उसके मुख में कुछ नहीं जाता है। इस कहावत के अनुसार मन चारों दिशाओं में भटकने पर भी कोरा ही—खाली ही रहता है। विषय रस तो इन्द्रियां लेती हैं ॥२॥

मुक्ति के अभिलाषी महान तपस्वियों एवं ज्ञान-ध्यान के अभ्यासियों को भी यह वैरी कुछ ऐसा चिन्तन करा कर, उलटे रास्ते लगा देता है—फंसा देता है।

नोट—'नाखे अवले पासे' के स्थान पर कहीं कहीं यह पाठ है—"नाखै अलवे पासै" जिसका अर्थ हैं—यह सहज ही उन्हें (ज्ञानी-ध्यानी तपस्वियों को) मोह पास में फँसा देता है ॥३॥

आगमधरों के (शास्त्रज्ञों के) हाथ में आगम रूपी अंकुश रहता है फिर भी यह मदोन्मत हाथी किसी भी प्रकार से „उनके अंकुस से वस में नहीं आता। कभी किसी स्थान से वल पूर्वक दूर किया जाता है तो यह (मन) सर्प के समान और भी अधिक वक्र (टेडा) हो जाता है। वशीभूत नहीं होता है ॥४॥

जो इसे, त्याग रूपी धर्म को ठगने वाला ठग कहता हूँ तो इसे ठगी करते हुये नहीं देखता हूं क्यों कि भोगोपभोग रूपी ठगी तो इन्द्रियां करती दिखाई देती हैं। और इसे (मनको) साहूकार भी नहीं कह सकता हूँ क्योंकि इसके योग विना इन्द्रियां प्रवृत्ति नहीं करती। अहा ! अहा ! यह मन की कैसी विचित्रता है ? अरे ! यह सव के (इन्द्रियों के) साथ रहकर भी सव से अलग है ॥५॥

परमार्थ की जो जो भी वातें कहता हूँ उस तरफ तो यह कान ही नहीं देना है—वे वातें तो सुनता ही नहीं है और अपने मते ही कलुपित रहता है। देव, मनुष्य और पंडित ज्ञानी लोगों के समझाने पर भी यह कुमति स्त्री का भाई समझता नहीं है ॥६॥

(संस्कृत में मन शब्द नपुंसक लिंग है) अरे ! मैंने तो इसे नपुंसक लिंग ही समझ रखा था किन्तु यह तो वड़े वड़े शक्तिशाली (सामर्थ्यवान) पुरुपों को भी दूर ठेल देता है। दूसरी वातों में मनुष्य भले ही समर्थ हो परन्तु इसके तेज को कोई भी सहन नहीं कर सकता है ॥७॥

(मनुष्य सिंह को वश में कर सकता है, समुद्र पार कर सकता है, अग्नी पर भी चल सकता है और हवा में भी उड सकता है पर मन को वश में करना कठिन है)।

जिसने मन को साध लिया है—वशमें कर लिया है, उसने सब कुछ सिद्ध कर लिया है। इस बात में तनिक भी खोट नहीं है—यह बात जरा भी गलत नही है। किन्तु इस पर विजय प्राप्त करने का कोई यों ही दम्भ करे और कहे कि मैंने मन को अपने वश में कर लिया है तो मै उसके इस दावे को नही मान सकता हूँ क्योंकि यह एक ही बात (मनोविजय) बहुत बड़ी है—बहुत ही महत्त्वपूर्ण और कठिन है ॥८॥

हे नाथ ! ऐसे कठिनता से आराधने योग्य—कठिनाई से वश में आने वाले मन को आपने वशीभूत कर लिया है—जीत लिया है। यह बात मैंने आगमों से जान ली है। हे अनन्त—आनन्द के धनी प्रभो ! यदि मेंरे मन को आप वश में लादोगे तो मैं यह बात सचमुच ही प्रत्यक्ष जान लूंगा। अर्थात् जिसे शब्द प्रमाण से जाना है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण से जान लूंगा।

इस स्तवन में ऐसा लगता है श्री आनन्दघनजी केवल मन की प्रबलता एवं दुराराध्यता ही दिखला कर रह गये है, उसे जीतने को कोई मार्ग नहीं दिखाया। परन्तु सुक्ष्म दृष्टि से विचारने पर इसका रहस्य खुल जाता है। श्री आनन्दघनजी केवल समस्याओं में उलझ कर ही नहीं रहजाते बल्कि वह तो उसका समाधान अन्त में करके ही रहते हैं। इस पद में रहस्यमय ढंग से समाधान दिया है कि चाहे शास्त्र पढो, योग साधन करो, तपस्या करो, ध्यान का अभ्यास करो, यह मन तब तक वश में नहीं आता जब तक प्रभु—भक्ति का दीपक प्रज्वलित न हो। मन को वश में करने वाले समर्थ महापुरुष का आश्रय लो कुंथुनाथ तीर्थंकर वैसे ही मन विजेता है अतः अपनी स्थिति निवेदन कर मन की दुर्जेयता की बात करते हुए अन्त में मनोविजय की बात को सत्य—प्रत्यक्ष कर दिखाने—मुझे भी वैसा मनोविजयी बनादो कहा गया है।

श्री अर जिन स्तवन (१८)

(राग—परजियो मारू, ऋषभनो वन्श रयणयरू, ए देशी)

धरम परम अरनाथनो, किम जाणु भगवन्त रे।

स्व पर समय समझावियें, महिमावंत महन्त रे ।।धरम०।।१।।
शुद्धातम अनुभव सदा, स्व समय यह विलास रे ।
परवडि छाँहडि जे पडै, ते पर समय निवास रे ।।धरम०।।२।।
तारा नखत ग्रह चदनी, ज्योति दिनेश मझार रे ।
दरसण ज्ञान चरण थकी, सकति निजातम धार रे ।।धरम०।।३।।
भारी पीलो चीकणो, कनक अनेक तरंग रे ।
परजाय दृष्टि न दीजिये, एकज कनक अभंग रे ।।धरम०।।४।।
दरसण ज्ञान चरण थकी, अलख सरूप अनेक रे ।
निर विकलप रस पीजिये सुद्ध निरंजन एक रे ।।धरम०।।५।।
परमारथ पथ जे कहै, ते रजे इक तन्त रे ।
व्यवहारे लखि जे रहै, तेना भेद अनन्त रे ।।धरम०।।६।।
व्यवहारे लख दोहिलो, कांइ न आवै हाथ रे ।
शुद्ध नय थापन सेवतां, नदि रहै दुविधा साथ रे ।।धरम०।।७।।
एक पखि लखि प्रीतनी, तुम साथे जगनाथ रे ।
किरपा करीनें राखज्यो, चरण तले गहि हाथ रे ।।धरम०।।८।।
चक्री धरम तीरथ तणा, तीरथ फल तत सार रे ।
तीरथ सेवे ते लहै, "आनन्दघन" निरधार रे ।।९।।

(१८) पाठान्तर—राग....रयणायरू = ढाल—मन मधुकर मोही रह्यो—एहनी (अ)। जाणूं = जाणुं (उ)। परवडि = परपिंड (अ, आ), परवडे (उ, ऊ)। छाँहडि = छांही (अ, आ), छांहडी (उ, ऊ)। जे = जिहां (अ, आ, उ,) जिहँ (ऊ)। तारा = तार (अ)। नखत = नक्षत्र (आ, उ, ऊ,) नक्षत (इ, ई)। ग्रह = गृह (आ, उ,) थकी = तणी (अ, आ, उ)। सकति = शकति (अ, आ, ऊ), शक्ति (इ, ई)। सकती .... धार रे = आतम ज्योति मझार रे (उ)। पीलो = पीयलो (अ)। परजाय = परजय (अ), पर्याय (आ,

इ, ई), पर्जय (उ), पर्यय (ऊ)। दीजिये = दीजीइ (उ)।। सरूप = सरूपी (अ,) स्वरूप (इ, उ), निरविकलप = निरविकल्प (इ, ई)। सुद्ध = शुद्ध (अ, इ, ई, उ, ऊ)। पथ = पखि (अ), पख (आ) पंथ (उ)। कहै = गहै (अ,आ)। ते रंजै=तरंजै (अ), ते रंजइ (उ)। इकतन्तरे = एक तन्त रे (उ,) एकान्त रे (ऊ)। व्यवहारे = व्यवहारी (अ, आ, उ, ऊ)। लखि = लख इ, उ)। तेना = तेहना (अ, आ, उ, ऊ), तेन्हा (ई)। व्यवहारे = व्यवहारी (उ)। लख = लखे (उ, ऊ)। दोहिलो = दोहता (अ, आ,) दोहिला (उ, ऊ)। नय थापन = नयातमें (अ,) नयातम (आ), नय थापना (इ, उ, ऊ)। नां है = न रहै (अ, आ)। साथरे = सावरे (उ)। किरपा = कृपा (अ, इ, ई, उ, ऊ)। राखज्यो = राखजो (अ,) गहि=ग्रहि (अ, इ), ग्रही (आ, ऊ)। ग्रही(उ)। तणा = तणो (अ, आ, उ, ऊ)। फल तत सार रे = धर्म फल सार रे (अ), फल तन सार रे (उ)। लहै = लहिइं (उ)।

शब्दार्थ—स्व = अपना। पर=अन्यका। समय=सिद्धांत। महिमांवन्त = यशस्वी। परवडि=अनात्म भाववाली वड़ी। छांहड़ि=छांह, छांव, छाया। नखत= नक्षत्र। दिनेश=सूर्य। कनक=सोना, स्वर्ण। परजाय=पर्याय, अवस्था। अभंग =अखण्ड, भेद रहित। चरण = चारित्र। अलख = अलक्ष, जो दिखाई न दे। निरविकल्प = निर्विकल्प, विकल्प रहित, भ्रांति रहित, शांत भाव। निरंजन = निर्दोष, मल रहित। रंजै = प्रसन्न होवे। लखि = लक्ष्य, साधना विन्दु। लख = लक्ष्य। दोहिलो = कठिन, दुर्लभ, दुष्कर। कांई = कुछ भी। दुविधा = संशय। गहि = पकड़कर। तले = नीचे। चक्री = चक्रवर्ती। लहै = प्राप्त करे, पावै। निरधार = निश्चय ही।

अर्थ—श्री अरनाथ जिनेश्वर देव का धर्म अत्यन्त उत्कृष्ट है। ऐसे उत्कृष्ट धर्म को मैं किस प्रकार जान सकता हूँ? हे महिमावन्त महाप्रभु! स्व समय—स्वदर्शन—आत्मधर्म और पर समय—पर दर्शन—विभावधर्म—पुद्गल धर्म का स्वरूप मुझे कृपा कर समझाइये ॥१॥ उत्तर में मानो साक्षात् भगवान कहते हैं—

शुद्ध आत्म स्वरूप का निरन्तर अनुभव होता रहे, यह सब समय का विलास है–आत्म स्वरूप का मनोविनोद (आनन्दमग्नता) है। पर पदार्थ–अनात्मभाव की जहां तनिक भी छाया पड़ती है–असर होता है तो वह पर समय निवास हैं। कर्म रूप जड़ पुद्गल का प्रभाव है। अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र में स्थिति स्व समय है और पुद्गलमय कर्म प्रदेश में स्थिति पर समय है ॥२॥

विशेष—हे भव्य ! जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थिर रहता है उसे निश्चय ही स्व समय जानो और जीव 'पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होता है, उसे पर समय समझो।

तारा, नक्षत्र, ग्रह और चन्द्रमा की ज्योति जिस प्रकार सूर्य में निहित है–समावेश है, उस ही प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र को निज आत्म शक्ति ही समझो ॥३॥

इसी तत्व को दूसरी तरह से वताते हैं—

सोना भारी, पीला, चिकना आदि अनेक तरंग (भेद) वाला–गुण पर्याय वाला है किन्तु पर्याय दृष्टि को गौण कर देखा जाय तो स्वर्ण पदार्थ में सब तरंगों (भेदों) का अभंग रूप से समावेश हो जाता है। अर्थात् सोने के भारी पन, पील्रा पन, चिकना पन पर दृष्टि न दें तो मात्र सोना दिखाई देता है। उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र आत्मा के साधारण तौर पर पृथक् पृथक् गुण दिखाई देते हैं किन्तु वे सब आत्मा रूप ही हैं ॥४॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र के भेद से अलख–(अलक्ष्य)–आत्मा के अनेक स्वरूप हैं। निर्विकल्प रस पान कर–विकल्प त्याग कर शांति पूर्वक सम्यक दृष्टिकोण से देखें तो शुद्ध निरंजन आत्मा तो एक ही है। अर्थात् आत्म गुण पर्याय दृष्टि से–विकल्प से अनेक स्वरूप वाला है और निर्विकल्प दृष्टि से उसका स्वरूप शुद्ध निरंजन – सिद्ध स्वरूप है ॥५॥

जो परमार्थ मार्ग के–आत्म मार्ग के कहने वाले हैं–आचरण करने वाले

निश्चयनयवादी हैं-वे तो केवल आत्मतत्व से संतुष्ट होते हैं-प्रसन्न होते हैं। और जो व्यवहार की ओर लक्ष रहते हैं अर्थात् व्यवहारनयवादी हैं उन्हें इस के (आत्मा के) अनन्त भेद (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अजर अमर, अव्याबाध आदि) दृष्टि गोचर होतेहैं ॥६॥

व्यवहार नय से लक्ष्य तक पहुंचना—परमार्थ प्राप्त करना—सच्चिदानन्द रूप तत्व तक पहुंचना दुर्लभ है – कठिन है। व्यवहार नयवादी अन्तरंग को नहीं जानता यह बाल दृष्टि है इसलिए परमार्थरूप कुछ भी हाथ नहीं आता है। किन्तु शुद्ध नय—निश्चयनय—को हृदय में स्थापित कर के जो आचरण करता है उसे किसी प्रकार की दुविधा का संयोग नहीं होता है ॥७॥

हे जगत के स्वामी अरनाथ भगवान! आपके प्रति मेरी प्रीति एक पक्षीय है कारण कि मैं आप जैसा नहीं हूं। क्योंकि आप तो वीतरागी हैं और मैं साधक दशा में हूं। इस एक पक्षीय प्रीति को देखकर अर्थात् मैं साधक दशा से गिरूं नहीं अतः कृपा पूर्वक मेरा हाथ पकड कर मुझे अपने चरणों के आधीन ही रखना ॥८॥

'निरागी था रे रागनूं जोडवूं, लहिये भवनो पारोजी (श्रीदेवचन्द्रजी)

हे भगवान! चतुर्विधि संघ रूप धर्म तीर्थ के आप चक्रवर्ती सम्राट हैं। आपही इस धर्मतीर्थ के फल रूप, तत्व रूप सार पदार्थ हैं—ध्येय हैं। जो प्राणी आपके धर्मतीर्थ की सेवा करता है—आराधना करता है, वह निश्चय ही आनन्दघन पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥९॥

श्री मल्लि जिन स्तवन (१९)

(राग-काफी)

सेवक किम अवगणिपेहो, मल्लि जिन, ए अब सोभा सारी।
अवर जेने आदर अति दिये, तेने मूल निवारी हो ॥मल्लि॥१॥

ग्यान सरूप अनादि तुमारू', ने लीधो तुम ताणो ।
जूओ अज्ञान दशा रीसाणी, जातां काण न आणी हो ।।म०।।२।।
निद्रा सुपन जागरूजागरता तुरिये अवस्था आवी ।
निद्रा सुपन दसा रिसाणी, जाणि न नाथ मनावी हो ।।म०।।३।।
समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार सू' गाढी ।
मिथ्यामति अपराधण जाणी, घर थी बाहिर काढी हो ।।म०।।४।।
हास अरति रति सोक दुगंछा भय पामर करसाली ।
नोकषाय-गज श्रेणी चढतां, श्वान तणी गत भाली हो ।।म०।।५।।
राग द्वेष अविरतनो परणति. ए चरण मोहना जोधा ।
बीतराग परणति परणमतां ऊठी नाठा बोधा हो ।।म०।।६।।
वेदोदय कामा परणामा, काम्यक रसहू त्यागी ।
निःकामी करुणारस सागर, अनन्त चतुष्क पद पागी हो ।।म०।।७।।
दान विघनवारी सहु जनने, अभयदान पद दाता ।
लाभ विघन जग विघन निवारक, परम लाभ रस माता हो ।।म०।।८।।
वीर्य विघन पंडित वीर्य हणि, पूरण पदवी जोगी ।
भोगोपभोग दुय विघन निवारी, पूरण भोग सुभोगी हो ।।म०।।९।।
ए अठार दूषण वरजित तनु, मुनिजन वृन्दे गाया ।
अविरति रूपक दोष निरूपण, निरदूषव मन भाया हो ।।म०।।१०।।
इण विध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावै ।
दीनबन्धुनी महर नजर थी, "आनन्दघन" पद पावै हो ।।म०।।११।।

(१९) पाठान्तर— राग-काफी—राग मारू (अ, आ), राग काफी— सेवक किम अवगुणीइहो (उ) । 'सेवक किम अवगणियै हो' यह वाक्य अ,

और उ, प्रति में नहीं है। ए अव सोभा सारी = अचंभा भारी हो (अ), अचंभो भारी (आ)। ए = एह (उ)। अवर....दिये = अवर सहु जेहनै आदर दै (अ,) अवर जेहने आदर अति दिये (आ, इ, ऊ), अरि जेह नइ आदर अति दिइं (उ)। तेने = तेहंनु (अ), तेहनूं (आ,) तेहने (इ, ई, ऊ)। ग्यान सरूप = ज्ञान सरूप (अ, आ,) ज्ञान स्वरूप (इ, ई; उ)। तुमारूं = तुंमहारो (अ), तुमारो (उ)। लीधो = लीधूं (आ, इ, ई, उ)। तुम = तुमे (अ, आ, ऊ,) तुम्हे (उ)। जूओ = जुओ (इ, ई,) जोऊं (उ, ऊ)। अज्ञान = अजाण (अ)। रीसाणी = रीसावी (अ, आ, उ, ऊ,)। काण = काणि (अ, उ)। निद्र.... जागरता = जागर उजागरतां धरंतां (अ, आ,) निद्रा सुपन जागर उजागरता (उ, ऊ)। तुरिय = तुरी (अ,) तुरीय (उ)। जाणि न = ताणी (अ,) जाणी न (आ, उ, ऊ)। साथे—अ प्रति में यह शब्द नहीं है, साथि (उ)। सू = सौ (अ,) स्यु (उ)। अपराधण = अपराधणि (अ, उ)। वाहिर = वाहरि (उ)। हास = हास्य (अ, इ, ई, उ, ऊ)। अरति रति = रति अरति (उ)। सोक = सोग (अ, आ), शोक इ, ई, उ)। करसाली = घूलसाली (अ), धुरसाली (उ)।

नोट—अ प्रति में पांचवां पद तो छठा पद है और छठा पद पांचवां पद है।

गजश्रेणी = श्रेणी गज (अ,आ, ऊ)। श्रेणी गत (उ)। गत = गति (आ, इ, उ, ऊ)। अविरंतनी = अवरति (अ,) अविरतिनी (आ; ऊ); अविरतिना (उ)। परणति = परिणति (आ, इ, ई,) परणित (ऊ)। जोधा = योधा (आ, इ, ई)। परणति = परिणति (आ, इ, ई), परणित (ऊ)। परणमतां = परिणमतां (आ, इ, उ, ऊ,)। वोधा = अवोधा (उ)। वेदोदय = वेदउदय (अ, उ)। परणामा = परनामा (अ, उ,) परिणामां (आ, ऊ)। काम्यक....त्यागी = काम्य परम सहु त्यागी (अ,) काम्य करम सहु त्यागी (आ, उ, ऊ)। निक्कामी = निकामी (अ,) निष्कामी (इ, ई)। निःकामी (उ)। चतुष्क = चतुस्क (ऊ)। विघनवारी सहु = विघनवारी (अ)। जग = जगि (उ)। वीर्य = वीरज (अ)। वीर्ये = विरज (अ,) विरजै (उ)। हणि = हणैं (अ,) हणी (आ, उ, ऊ)। जोगी = योगी (इ, ई, उ) दुय = दोइ (अ), दुइ (आ), दोय (उ, ऊ)। पूरण = परम (अ, उ)। भोग सुभोगी = भोग रस भोगी (अ)। ए = एह (अ,)।

अठार = अढार (अ, आ, इ, उ, ऊ)। गाया = गायो (अ, आ) । अविरति-रूपक = अवर निरूपक (अ, आ) । भाया = भोयो (अ, आ,) नाया (उ)। इण = इरिंग (उ) । विध = विधि (आ, इ, ई, उ, ऊ) । महर = महिर (अ, उ, ऊ,) मिहर (आ) ।

शब्दार्थ—अवगणिये = उपेक्षा करते हो, अनादर करते हो । अवर = अन्य, दूसरे । निवारी = दूर करना । तांणी = खेंचकर । जुओ = देखो । रिसाणी = क्रोधित होकर, कुपित होकर । काण = कानि, मर्यादा । तुरिय = चौथी । गाढी = मजबूत । काढी = निकाल दी । दुगंछा = ग्लानि, घृणा । पामर = नीच । करसाली = तीन दांतों वाली दन्ताली, पुरुष, स्त्री नपुंसक वेद, कृपक । श्वान = कुत्ता । झाली = पकडी । भाया = अच्छे लगते हो । परखी= परख कर, परीक्षा कर ।

अर्थ—हे मल्लिनाथ जिनेश्वर ! समवशरण रूप बाह्य शोभा और केवल ज्ञान रूप अभ्यन्तर शोभा प्राप्त करके सेवक (भक्त) की आप अवगणना—उपेक्षा क्यों कर रहे है ? क्या आपकी शोभा (महिमा) की श्रेष्ठता यही है ? नही, जिस राग भाव को अन्य लोग अत्यन्त आदर देते है, उस ममत्व को तो आपने जडामूल से ही उखाड कर फेंक दिया है । (यही आप की महिमा की श्रेष्ठता हैं) ॥१॥

आत्मा के अनादि ज्ञान स्वरूप (जो आपका स्वरूप है) को आपने अज्ञानावरण से खेंचकर बाहर निकाल लिया है । इसलिए वह अज्ञान दशा आपसे कुपित हो गई, और चली गई । उसे जाता देखकर भी आपने उसकी कोई काण—मर्यादा का विचार नहीं किया । अनादि काल की साथिन का भी विचार नहीं किया ॥२॥

निद्रा, स्वप्न, जागृति और उजागरता (हर प्रकार से विशेष जागृति) इन चारों दशाओं में से उजागरता जो चौथी अवस्था है, उसे आपने प्राप्त करली है अर्थात् सहज आत्म स्वरूप मे सतत जागृति प्राप्त करली है । इसलिए

निद्रा और स्वप्नदशा आपसे क्रोधित हो गई। उनको कुपित जान कर भी हे नाथ ! आपने उन्हें नहीं मनाया—प्रसन्न करने की कोई चेष्टा नहीं की ॥३॥

आपने सम्यक्त्व और उसके परिवार (शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य) के साथ प्रगाढ सम्बन्ध स्थापित किया है और मोह सुता मिथ्यामति को (दुर्बुद्धि को) अपराधिनी समझ कर आत्म-गृह से बाहर निकाल दिया है ॥४॥

हास्य, (हंसी) रति, (आसक्ति) अरति, (चित्तका उद्वेग या अप्रीति), शोक, (रंज), दुगंछा (घृणा, ग्लानी) और भय तथा स्त्री पुरुष नपुंसक वेद—ये नो कषाय जो पाप कर्म के कृषक हैं, इन्होंने आप को क्षपक श्रेणी रूपी गजराज पर चढते हुए देखकर कुत्तों की चाल पकड़ली अर्थात् भोंक कर भाग गये ॥५॥

राग-द्वेष, अविरति (चारित्र घातक भाव) ये चारित्र मोहनीय राजा के बलवान सुभट हैं। ये आपको वीतराग में परिणमन करते जानकर—वीत-रागी होते देख कर, समझदारी का ढोंग करने वाले बेचारे, सामर्थ्यहीन भाग खड़े हुये ॥६॥

वेदोदय से पुरुष को स्त्री देख कर और स्त्री को पुरुष देखकर काम वासना उत्पन्न होती है किन्तु आपतो काम को उत्पन्न करनेवाले रस के सर्वथा त्यागी बन गये हैं। अवेदी बन गये है। इस प्रकार हे दया के समुद्र निष्कामी बनकर—कामना रहित होकर, आप अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य इस चतुष्क पद में लीन हो गये हैं ॥७॥

हे प्रभो ! आप दान देने में विघ्न उत्पन्न करने वाले दानान्तराय कर्म को दूर करके सम्पूर्ण भव्य प्राणियों को अभयदान की पदवी (फिर कभी भय उत्पन्न नहीं हो—ऐसी पदवी) देने वाले दानी हैं। लाभ में विघ्न उत्पन्न करने वाले लाभान्तराय कर्म के विघ्न दूर हटाने वाले आप विघ्न विनाशक हैं, और परम लाभ—उत्कृष्ट लाभ (मोक्ष) से लाभान्वित हैं ॥८॥

हे स्वामी ! शक्ति और पराक्रम में विघ्न डालने वाले वीर्यान्तराय कर्म को अपने पंडित-चतुर आत्म बल से नष्ट कर आपने पूर्ण पदवी—अनन्त शक्ति से सम्बन्ध जोड लिया है। और भोगों में और उपभोगों में विघ्न उपस्थित करने वाले भोगान्तराय और उपभोगान्तराय इन दोनों को दूर करके पूर्ण भोग—आत्मानन्द को भोगने वाले हैं ॥९॥

ऊपर बताये हुये अठारह✽दोषों से रहित आपका शरीर है। मुनियों के बड़े बड़े समूहों ने आपकी स्तवना की है। आप अविरति रूप दोषों को बताने वाले हैं, और इन दोषों से आप रहित हैं इसलिये आप मुझे अच्छे लगते हैं—प्रिय लगते हैं ॥१०॥

इस प्रकार १८ दूषण रहित तीर्थंकर की परीक्षा करके मन को विश्राम देने वाले (मन के विश्राम स्थल) श्री मल्ली नाथ जिनेश्वर देव के जो गुण गान करते हैं वे दीनबन्धु भगवान जिनेश्वर की कृपा दृष्टि से आनन्द से परिपूर्ण पद—मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥११॥

श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन (२०)

(राग—काफी—आघा आम पधारो पूज्य, ए देशी)

मुनिसुव्रत जिनराज एक मुझ विनती सुणो ॥टेक॥
आतम तत क्यूं जाणूं जगतगुरु, एह विचार मुझ कहिये।
आतम तत जाण्या विण निरमल, चित समाधि नवि लहिये
॥मु०॥१॥

कोई अबंध आतम तत मानै, किरिया करतो दीसै।
क्रिया तणो फल कोण भोगवै, इम पूछ्यां चित रीसै ॥मु०॥२॥

✽ १ आशा—तृष्णा, २ अज्ञान, ३ निद्रा, ४ स्वप्न, ५ मिथ्यात्व, ६ हास्य, ७ रति, ८ अरति, ९ भय, १० शोक, ११ दुगंच्छा, १२ राग, १३ द्वेष, १४ अविरति, १५ काम्यक दशा, १६ दानान्तराय, १७ लाभान्तराय और १८ भोगोपभोगान्तराय।

जड चेतन ए आतम एकज, थावर जंगम सरिखो ।
सुख दुख संकर दूषण आवै, चित विचार जो परिखो ॥मु०॥३॥
एक कहै नित्यज आतम तत, आतम दरसण लीनों ।
कृत विनास अकृतागम दूषण, नवि देखै मजि हीनो ॥मु०॥४॥
सुगत मत रागी कहै वादी, क्षणिक ए आतम जाणो ।
बंध मोख सुख दुख नवि घटै, एह विचार मन जाणो ॥मु०॥५॥
भूत चतुष्क वरजी आतम तत, सत्ता अलगी न घटै ।
अन्ध सकट जो नजर न देखै, तो स्यूं कीजै सकटै ॥मु०॥६॥
इम अनेक वादी मत विभ्रम, संकट पडियो न लहै ।
चित समाधि ते माटे पूछूं, तुम विण तत कोण कहै । मु०॥७॥
वलतूं जगगुरु इण परि भाखै, पक्षपात सहु छंडी ।
राग-द्वेष मोहे पख वरजित, आतम सूं रढ मंडी ॥मु०॥८॥
आतम ध्यान करे जो कोऊ, सो फिर इण में नावै ।
वागजाल वीजूं सहु जाणै, एह तत्व चित चावै ॥मु०॥९॥
जे विवेक धरि ए पख ग्रहियो, ते ततज्ञानी कहियै ।
श्री मुनिसुव्रत कृपा करो तो, 'आनन्दघन" पद लहियै ॥मु०॥१०॥

(२०) पाठान्तर—राग....देसी = राग सोरठ–अधिका ताहरा हुंता अपराधी (अ), आधा आम पधारो पूज–ए देसी (अ, उ, ऊ) । मुनिसुव्रत = सुणो मुनिसुव्रत (अ,) जिन राज = जिनराया (अ, उ,) जिन राय (आ, ऊ) । एक = इक (आ, ऊ)। विनती सुणो = वीनती (अ,) वींनति निसुणो (आ, ऊ) । तत = तत्त्व (उ, ऊ) । क्यूं = किम (अ, आ,) क्युं (उ) । जाणूं = जाणुं (अ, उ,) जाण्यूं (ई) । कहिये = कहीयै (अ,) कहियां (इ, ऊ,) कहिओ (उ) । विण = विन(आ,) विणु (उ) । लहिये = लहीइ (अ,) लहियो (इ,

ऊ,)लहिओ (उ)। मानै = मानइ (उ)। किरिया = क्रिया (अ)। फल = फल फहो (उ, ऊ)। को ग = कुण (उ, ऊ)। पूछ्यां = पूछ्यो (अ, आ, उ,) पूछ्यूं (ऊ)। जड....एकज = जड चेतन ऐकज आतम तत (अ,) जड चेतन तत आतम एकज (उ)। थावर = स्थावर (इ)। सुख दुख = दुख सुख (अ, उ, ऊ)। लीनो = लीणो (अ, आ, उ, ऊ)। हीनो = हीणो (अ, आ, उ, ऊ)। क्षणिक = क्षिणक (ऊ)। ए आतम = आतमा (अ, आ)। मोख = मोक्ष (इ, ई, उ)। नवि घटै = तत न घटै (अ,) न घटै (आ, उ,) तने न घटै (उ)। मन = मनि (अ)। वरजी = वर्जित (इ, ई)। नजर = निजर (अ, उ, ऊ)। देखै = निरखै (अ)। स्यूं = सू (अ)। मत = मति (उ)। पडियो = पडिओ (उ,) पडियौ (ऊ)। कोग = कोन (अ), कोइ न (आ, उ, ऊ)। सहु = सव (इ, ई, उ, ऊ)। मोहे = मोह (अ, आ, उ, ऊ)। वरजित = वर्जित (इ)। रढ = रती (अ, आ,) रढि (उ)। कोऊ = कोई (अ, आ)। इणमें = इतमें (अ)। इणमां (उ)। जाणै = जाणो (उ)। एह....चावै = एह तत् चित भावै (अ)। जै = जिण (अ, आ, ऊ,) जिणु (उ)। धरि = धर (आ, ऊ)। ए पख = ए (अ)। करो = करै (अ)।

शब्दार्थ—तत = तत्व। नवि = नहीं। लहिये = प्राप्त करो। अबंध = बंध रहित, निर्लेप। दिसै = दिखाई देता है। रीसै = रुष्ट होता है, नाराज होता है। थावर = स्थावर, स्थिर रहने वाले प्राणी। जंगम = चलने फिरने वाले प्राणी। सरिखो = बराबर, समान। संकर = सांकर्य दोष। परिखो = परीक्षा करो। निरजज = एकांत, नित्य। लीनो = निमग्न। मतिहीनो = बुद्धि हीन। सुगत = भगवान बुद्ध। भूत = तत्व। चतुष्क = चार तत्व–पृथ्वि, पाणी, अग्नि और वायु। वरजी = रहित। अलगी = अलग, पृथक। सकट = शकट, गाडी। तेमाटे = इस कारण। वलतूं = वापिसी में, उत्तर में। रढ = प्रीति। वागजाल = वाणी व्यापार, बकवास। बीजू = दूसरा। सहु = सब। विवेक = परीक्षक बुद्धि।

अर्थ—हे मुनिसुव्रत जिनेश्वर देव! मुझ सेवक की एक मात्र विनती –प्रार्थना है उसे सुनिये। हे जगतगुरु! मैं आत्मतत्व को किस प्रकार जानलूं

इस उपाय को मुझे बताइये। निर्मल आत्मतत्त्व के जाने बिना चित्त में स्थिरता नहीं आती है–शांति प्राप्त नहीं होती है। मुझे बडी उलझन हो रही है क्यों कि आत्मा के सम्बन्ध में हरेक दर्शन के विभिन्न मत हैं ॥१॥

कितने आत्मा को अबन्ध–बन्ध रहित मानते हैं किन्तु आत्मा क्रिया–कर्म करता दिखाई पडता है। जब क्रिया करने वाला आत्मा है तो उस क्रिया का फल दूसरा कौन भोगेगा ? इस प्रकार प्रश्न करने पर आत्मा को बन्ध रहित मानने वाले एकान्तवादी मन में क्रोधित होते हैं ॥२॥

विशेष—यद्यपि जैन दर्शन निश्चयनय से आत्मा को बन्धरहित मानता है किन्तु यदि अन्य नयों की अपेक्षाओं का ध्यान न रखा जाय तो यह एकांत वाक्य हो जाता है। यह किसी अंश में सत्य होते हुये भी सर्वथा सत्य नहीं है। यदि आत्मा को सर्वथा बन्ध रहित मान लिया जाय तो प्रश्न होता है कि आत्मा क्रियायें-कर्म-करता है, तो उसका फल भी भोगेगा ही। क्रिया-कर्म है तो उसका फल भी है ही। आत्मा को क्रिया करता हुआ तो मानते हैं, फल का भोगता नहीं। तब उस क्रिया का फल कोई दूसरा भोगेगा क्या ? (भोजन तो बेटा करेगा, पेट बाप का भरेगा !) इस प्रश्न पर वे एकांतवादी सांख्य और वेदान्ती क्रोधित हो जाते हैं।

जड़ और चैतन्य को कितने ही दार्शनिक एक रूप ही मानते हैं (अद्वैतवादी) अर्थात् चलने वाले तथा स्थिर रहने वाले पदार्थ दोनों एक ही समान है। ऐसा माना जाये तो जीव को सुख–दुःख न होना चाहिये। यदि सुख-दुख माना जाय तो न्यायशास्त्रानुसार इस में संकर दोष होता है। इस प्रकार विचार कर आत्मतत्व की परीक्षा करनी चाहिये ॥३॥

पृथक–पृथक पदार्थों के पृथक पृथक लक्षण हैं। जहां ये लक्षण एक दूसरे में घटित हो जावे वहां संकर नामक दोष होता है। सुख का वेदन आनंद है और दुख का वेदन क्लेश है। दोनों भिन्न स्वभावी हैं। जहाँ इन्हें एक ही ही माना जाय वहां संकर दोष है। इसी प्रकार जड़ जंगम को (चैतन्य और जड़ को) एक समान समझने में भी संकर दोष है।

अद्वैत मत के मुख्य तीन भेद हैं -अद्वैत, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत। अद्वैत वालों की मान्यता है–"एकं ब्रह्म द्वितीय नास्ति।' इसके अनुसार जड़ जंगम में कोई भेद नहीं है। सब ही ब्रह्म है। विशिष्टाद्वैत वालों का कथन है–"एक:सर्वगतो नित्य:"। इसके अनुसार जड-चेतन में एक ही आत्मा व्याप्त है द्वैताद्वैत के मानने वाले जड़ जंगम में थोड़ा भेद मानते हैं। सारांश यह है कि जड़ और चैतन्य दोनों आत्मा की दृष्टि से एक ही है। इस मान्यता में संकर' नामक दोष है क्योंकि सुख-दुख भी एक ही हुये। इस दृष्टिकोण से चैतन्य के कृत कर्म सुख:दुख जड़ को भोगने पड़ेंगे और जड़ के कृत कर्म सुख-दुख चैतन्य को भोगने पड़ेंगे। यह संभव नहीं है। यह तो संकर दोष है। इसलिये इस प्रकार ऊहापोह करके आत्मतत्व की परीक्षा करो।

एक मतावलंबी–एकांतवादी–आत्मतत्व को एकसा रूप में रहने वाला नित्यज मानते हैं क्योंकि वह अपने स्वरूप दर्शन मे लवलीन है। इस मान्यता मे कृत विनाश–अपने किये हुये कर्म का फल स्वयं को नहीं मिलता और अकृतागम-जो कर्म अभी तक किया नहीं गया है उसकी फल प्राप्ति–ये दो दोष आते हैं। इस बात को मतिहीन-अविचारक एकान्तवादी जरा भी नहीं देखते हैं ॥४॥

संसार में प्राणियों को सुख-दुख भोगते हुये देखा जाता है। उसका कारण पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही हैं। यदि आत्मतत्व को अपने स्वरूप दर्शन में लवलीन (मग्न) नित्यज, एकरूप में रहने वाला माना जाय तो सुख दुख का कर्त्ता और भोगता कौन है? यह प्रश्न स्वत: ही उपस्थित होता है जिसका कोई उत्तर नहीं है।

आत्मतत्व की जानकारी तो बस दृष्टिकोणों से विचार करने पर हो सकती है।

बौद्ध दर्शन को माननने वाले तर्कवादी आत्मा को क्षणिक (क्षण क्षण में बदलने वाली) कहते हैं। यदि आत्मा का रूप क्षणिक माना जाय तो बंधन

और मुक्ति तथा सुख और दुख की व्यवस्था बैठती नहीं है। इसका भी तो जरा विचार करो ॥५॥

आत्मा को क्षण क्षण में बदलती हुई माना जाय तो पुण्य-पाप करने वाली आत्मा दूसरी और सुख-दुख भोगने वाली आत्मा दूसरी होगी। बंध में पड़ने वाली आत्मा दूसरी होगी और मुक्त होने वाली आत्मा दूसरी होगी। जन्म लेने वाली आत्मा दूसरी होगी और मरने वाली आत्मा दूसरी होगी। तब फिर सुख-दुख, बंध-मोक्ष जन्म-मरण शब्द निरर्थक हैं। ये सब शब्द काल्पनिक हैं। पहले क्षण कोई क्रिया की गई, उसका बन्ध हुआ ही नहीं, जब बंध नहीं हुआ तो मोक्ष-मुक्ति किस की होगी ? कौन मुक्त होगा ? आत्मा को क्षणिक मानने में ये बाधायें उपस्थित होती हैं। बुद्धदेव ने संसार को जो दुख रूप बताया है, चार आर्य सत्य कहे हैं और दुख से छुटकारे का जो विचार कहा है, वह सब असत्य ठहरता है क्यों कि आत्मा क्षणिक है।

स्वयं बुद्ध देव ने कई दिनों तक घोर तपस्या की और उसमें होने वाले सुख दुख के अनुभव किये। आत्मा क्षणिक होने से सुख-दुख अनंत आत्माओं ने अनुभव किये या बुद्ध देव ने ? यदि बुद्ध देव को सुख-दुख की अनुभूति हुई तो आत्मा क्षण स्थाई का सिद्धान्त गलत हो गया। यदि क्षण-क्षण बदलती आत्माओं ने सुख-दुख अनुभव किया तो तपस्या में किस का शरीर कृश हुआ ? इस ऊहापोह से आत्मा क्षणिक सिद्ध नहीं होता है। आत्मा का स्वरूप तो सब पर्यायों के ऊपर दृष्टि रख कर ही किया जा सकता है।

चतुष्क भूत-चारों तत्त्व-पृथ्वी, पाणी, अग्नि और हवा के अतिरिक्त आत्म तत्व नामक कोई अलग वस्तु की सत्ता नहीं है। यह सिद्धान्त चार्वाक दर्शनानुयायियों का है। यह सिद्धांत तो ऐसा है कि किसी अन्ध पुरुष को आगे खड़ा हुआ शकट (गाडा) नजर नहीं आता और वह टकरा जाता है तो इसमें गाड़े का क्या दोष। कारण कि आँख वाले के लिए तो गाड़े की सत्ता है ही, नेत्र हीन गाड़े की सत्ता न देख सके तो इस में गाडे का अपराध है क्या ? ॥६॥

नास्तिक मतावलंबी-चार्वाक मतानुयायी पृथ्वी, पाणी, अग्नि और वायु इन चार भूतों के मेल को ही चैतन्य शक्ति मानते हैं। इनके अलग अलग

होने पर चैतन्य को नष्ट हुआ मानते है। आत्मा या चैतन्य शक्ति की कोई अलग सत्ता नही मानते है। विचारणीय यह है कि मृत शरीर में भूत चुतुष्क तो हैं ही, फिर उसमे चेतना क्यों नहीं ? यदि यह सिद्धांत ठीक होता, तो मृत शरीर में चेतना होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं हैं। चैतन्य शक्ति कोई अलग वस्तु है जिसके शरीर से निकल जाने पर शरीर कार्य करने की शक्ति से शून्य हो जाता है।

श्री आनन्दघन जी ने ऊपर उदाहरण दिया हैं—नेत्र हीन व्यक्ति गाडा नहीं देख सकता है तो गाड़े का अभाव हो गया क्या ? इसमें दोष गाड़े का है या नेत्र का। जो आत्मा-चैतन्य शक्ति का अनुभव करते हुए भी उसकी सत्ता स्वीकार नहीं करते है, उनके समझाने का क्या उपाय है ?

इस प्रकार अनेक दर्शनों की मान्यताओं के विभ्रम में मेरी बुद्धि भ्रथवा मैं पड़ गया हूँ, इस सकट के कारण मुझको आत्म तत्व की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए अपने चित्त समाधि के लिये प्रार्थना करता हूँ। आपके बिना ऐसा और कौन है जो आत्म तत्व को बता सके ॥७॥

उत्तर मे संसार के गुरु श्री मुनिसुव्रतजिनेश्वर (शास्त्रवाणी द्वारा) इस प्रकार कहते हैं कि मतमतान्तरों के पक्षपात को छोड कर राग-द्वेष और मोह को उत्पन्न करने वालों से रहित होकर केवल आत्मा से प्रीति लगावो, उसमें लीन हो जावो ॥८॥

आत्मा अनुभव गम्य है वाणी का विषय नहीं है। आत्मानुभव होने पर सारे विवाद समाप्त हो जाते हैं चित्त समाधिष्ठ हो जाता है।

जो कोई आत्मा को ध्याता है, स्थिर चित्त से चिन्तन करता है वह फिर इन वादों के चक्कर में नहीं पड़ता है। अन्य सब तो केवल वाग् जाल हैं—बोलने की चतुराई है—कला है। वास्तव में तत्व वस्तु तो आत्म ध्यान—आत्म चिंतन ही है। इस ही को चित्त-अन्तकरण इच्छा करता है ॥९॥

जिन्होंने सद् असद् का विवेक पूर्वक विचार कर आत्म चिन्तन के पक्ष को ग्रहण किया है, वही तत्व ज्ञानी कहलाते हैं। श्री आनन्दघन जी कहते हैं—

हे मुनिसुव्रतजिनेश्वर देव ! यदि आप की कृपा हो जाय, तो मैं भी अनंत आनंद पद—मोक्ष प्राप्त कर सकूंगा ॥१०॥

आनन्दघन जी स्वयं अपने पदों में इसको बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त किया है। देखें—'निसाणी कहा बताऊं रे'।

श्री नमि जिन स्तवन (२१)

(राग—आसावरी—'धन धन सम्प्रति सांचो राजा, ए देशी')

षड् दरसण जिन अंग भणीजें न्यास षडंग जो साधरे।
नमि जिनवर ना चरण उपासक, षड दरसण आराधेरे ॥षड० ॥१॥

जिन सुरपादप पाय वखाणं, सांख्य जोग दुय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करतां लहो दुग अंग अखेदे रे ॥षड०॥२॥

भेद अभेद सुगत मीमांसक जिनवर दुय कर भारी रे।
लोकालोक अलवन भजियें. गुरुगम थी अवधारी रे ॥षड०॥३॥

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंस विचार जो कीजें रे।
तत्व विचार सुधा रस धारा, गुरुगम विण किम पीजें रे ॥षड०॥४॥

जैन जिणेसर वर उत्तमअंग अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षर न्यास धरी आराधक, आराधें गुरुसंगे रे ॥षड०॥५॥

जिनवरमा सगला दरसण छें. दरसण जिनवर भजना रे।
सागरमां सघली तटनीछें, तटनी सागर भजना रे ॥षड०॥६॥

जिन सरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटकावें, ते भृंगी जग जोवे रे ॥षड०॥७॥

चूरणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति. वृत्ति परम्पर अनुभव रे।
समय पुरुषनां अंग कह्या ए, जे छेदे, ते दुर भवरे ॥षड०॥८॥

मुद्रा बीज धारणा अक्षर, न्यास अरथ विनियोगे रे।
जे ध्यावें ते नवि वंचीजें, क्रिया अवंचक भोगे रे ॥षड०॥९॥

श्रुत अनुसार विचारी बोलूं, सुगुरु तथा विधि न मिलै रे।
किरिया करि नवि साधो सकिये, ए विखवाद चित सबलै रे
॥षड०॥१०॥

ते माटे ऊभो कर जोडी, जिनवर आगल कहिये रे।
समय चरण सेवा सुध दीज्यो, जिम 'आनन्दघन' लहियेरे ॥षड०॥११॥

पाठान्तर—राग....राजा = आदर जीव क्षमा गुण आदर (अ), घन धन....राजा (उ, ऊ)। षड = पट (अ, आ, ऊ), ए पट (उ)। दरसण = दरिसण (उ)। सुरपादप = सुरपाय (अ)। पाय = पवाय (आ)। दुय = दोय (अ, आ, उ, ऊ)। विवरण = विवारण (उ) विचारण (कहीं कहीं)। लहो = लहुं (अ, आ, उ,)। सुगत = सुगति (उ)। दुयकर = कर दोय (अ), दोय-कर (आ, ऊ,) दोड कर (उ)। लोकालोक = लोक अलोक (अ)। भजियैं = भजिइ (उ)। गुरुगम = गुरगम (ऊ)। कूख = कूखि (उ), कूपि (ऊ)। विचार = विचारी (अ)। विण = विणु (अ)। जिणेसर = जिनेश्वर (आ, इ, ई उ, ऊ)। उतम अंग = उत्तमांग (अ)। धरी = धरा (इ, ई उ, ऊ)। गुरु = धरि (इ, ई, उ, ऊ)। सघला दरसण = सगला दरिसण (उ)। छै = सहि (इ, ई,) सही (उ, ऊ)। तटनी = तटनीमां (उ, ऊ)। भजनारे = छलनारे (अ, आ)। सरूप = स्वरूप (इ)। थइ (अ, उ)। ते सहि = तेसही (अ, आ, उ, ऊ)। इलिकाने = ईलिका (अ, आ), ईलिकाने (उ, ऊ)। ते = तो (अ)। चूरणि = चूरण (अ, ऊ)। निर्युक्ति = निरयुती (अ)। परम्पर = परम्परा (उ)। ते = तो (आ)। अरथ = अक्षर (अ)। क्रिया अवंचक = किरिय अवछक (अ), किरिया अववक (उ)। अनुसार = अनुसारै (अ)। बोलूं = बोल्यो (अ)। विधि = विध (ऊ)। साधी = साव (अ)। नवि = भव (उ)। सकिये = सकीजै (अ), सकीइ (उ, ऊ)। विखवाद = विपाद (अ, आ) ऊ। चित = विन (उ)। सबलो रे = सगलै रे (अ, आ, उ, ऊ)। ऊभो = उभय (अ,) ऊभा (उ, ऊ)। सुध = सुचि (अ), शुचि (उ)। दीज्यो = देज्यो (अ, आ, ऊ), देयो (उ)। आनन्दघन = आनन्दघनपद (अ)।

शब्दार्थ—षड दरसण = छै दरसण–सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध, चर्वाक और जैन। भीणजे = कहे जाते हैं। न्यास = स्थापना। षडंग = छै अंग, दोनों जंघा, दोनों बाहु, मस्तक, छाती। उपासक = उपासना करने वाले, आराधना करने वाले। सुरपादप = कल्पवृक्ष। पाय = पैर, मूल-जड़। वखाणु = वर्णन करूं। विवरण = विवेचन। दुग = द्विक,दो, युगल। अखेदेरे = खेद रहित, निसंकोच। दुय = दो। कर = हाथ। अलंवन = अवलंव, आधार। भजिये = मानिये। अवधारी रे = धारण करो। लोकायतिक = चार्वाक दर्शन, वृहस्पति प्रणीत नास्तिक मत। कूख = कुक्षि, उदर। उत्तम अंग = मस्तक। सुधारस = अमृत रस। सघला = सव। भजनारे = कहीं है कहीं नहीं हैं। तटनी = नदी। भृंगी = भ्रमरी, भँवरी, कीट विशेष। इलिका = एक प्रकार का कीड़ा–कीट। चटकावे = डंक मारता है। जोवे रे = देखता है। दुरभवरे भटकता है बुरी गति में जाता है। छेदे = अमान्य करे। विखवाद = दुख। सवलेरे = वल सहित, जवरदस्त। ते माटे = इसकारण। ऊभो = खड़ा हूँ। आगल = आगे, सन्मुख।

पीछे के स्तवन में पृथक पृथक छैओं दर्शनों का स्वरूप दिखाया गया है अब इस स्तवन में उन सव का समन्वय दिखाया जाता है।

अर्थ—जिस प्रकार हाथ, पैर, पेट, मस्तक आदि अंग मिलकर ही शरीर कहा जाता है और किसी एक अंग को शरीर नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार षट दर्शनों को (सांख्य, योग, वौद्ध, मीमांसा, चार्वाक और जैन दर्शन को) जैन दर्शन के अंग (अवयव–भाग) कहने चाहिये। उन षट (छै) दर्शन रूप अंगों को श्री नमिनाथ जिनेश्वर के अंगों (अवयवों) पर स्थापित करके जो अपनी साधना करते हैं, वे नमिनाथ भगवान के चरणों की उपासना करने वाले (उनके चारित्र धर्म को पालने वाले) छैओं ही दर्शनों की आराधना करते हैं-सेवा–उपासना करते हैं ॥१॥ षट दर्शन जिन नमि प्रभु के ही अंग हैं अर्थात् उनकी एकान्त विचारधारा का समन्वय जैन दर्शन में हो जाता है।

अव आगे षडंग न्यास (स्थापना) की रीति वताई जाती है—

जिन तत्व–ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष के सांख्य और योग दोनों दर्शन मूल

(जड़) रूप चरण युगल कहे गये है। इन दोनों दर्शनों ने आत्म-सत्ता का विवेचन किया है अतः बेखटके (निसंकोच) इन दोनों दर्शनों को जिन तत्व ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष के अंग समझो ॥२॥

बौद्ध दर्शन आत्मा को अनेक भेदवाली (क्षणिक) मानता है और मीमांसा दर्शन आत्मा को अभेद (एक रूपरहने वाला) मानता है। ये दोनों दर्शन जिनेश्वर कल्पवृक्ष के दो विशाल (बड़े) हाथ हैं। बौद्ध दर्शन का अवलंब लोक व्यवहार है अर्थात वह व्यवहार नय को प्रधानता देता है-व्यवहार नय वादी है। मीमांसा वेदान्तदर्शन का आधार अलोकिक है। वह निश्चयवादी है। ये सब बातें गुरुमुख से समझनी चाहिए।

बौद्ध दर्शन आत्मा को क्षणिक मानता है और जैन दर्शन पुद्गल पर्यायों की अपेक्षा आत्मा को बदलता हुआ कहता है। मीमांसक आत्मा को एक ही मानते हैं। सूर्य और सूर्य के प्रतिबिम्बों की तरह। जैन दर्शन सब आत्माओं की सत्ता एक रूप होना मानता है। निश्चय नय से आत्मा का रूप अबंध-बंधरहित शुद्ध है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन जिन तत्व दर्शन के अंग रूप हाथ हैं ॥३॥

किसी अंश से—अपेक्षा से-विचार किया जाय तो बृहस्पति प्रणीत चार्वाक दर्शन जिनेश्वर देव की कुक्षि (उदर, पेट) है। आत्मतत्व के विचार रूपी अमृत रस की धारा को सद्गुरु से समझे बिना किस प्रकार पिया जा सकता है?

बृहस्पति प्रणीत चार्वाक दर्शन धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप स्वर्ग-नर्क और पुनर्जन्म को नहीं मानता है। वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण से भूत चतुष्क (पृथ्वी, पाणी, अग्नि और वायु) के मेल से उत्पन्न चैतन्य शक्ति को मानता है। इस दर्शन ने इंद्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमाणित माना है।

जैन दर्शन ने प्रत्यक्ष (आत्म प्रत्यक्ष और इंद्रिय प्रत्यक्ष), परोक्ष, आगम उपमा, और अनुमान ये पांच प्रमाण माने हैं। चार्वाक दर्शन ने आत्म प्रत्यक्ष को बिलकुल ही छोड़ कर इंद्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना

है। इस एक अंश रूप विचार-इंद्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण विचार की मान्यता के कारण चार्वाक दर्शन को जिनेश्वर देव के उदर में स्थापित किया है अर्थात् उदर (पेट) माना है। आत्म-तत्व विचार रूपी अमृत का पान तो सद्गुरु द्वारा ही किया जा सकेगा ॥४॥

जैन दर्शन श्री जिनेश्वरदेव का श्रेष्ट उत्तमांग-मस्तक है। जिस प्रकार मस्तक शरीर के सब अंगों के ऊपर, बाहर दिखाई पड़ता है और अंतरंग में (अन्दर) सुविचारों का खजाना है, उसी प्रकार अंतरंग मे जैन दर्शन राग-द्वेप मोह, अज्ञान एवं मिथ्यात्व रहित वीतराग भावदर्शी और बाह्य-बाहर (प्रगट में चारित्रधर्मी) सर्वश्रेष्ट और सर्वोपरि है। जैन दर्शन के आराधक गण-मानने वाले सद्गुरु की संगति प्राप्त कर अक्षर न्यास के द्वारा-अक्षरों के रूपों द्वारा-जिन भाषित आगमों के द्वारा-बिना कुछ उलट फेर के इसकी (जैन दर्शन की) आराधना करते हैं, उनपर सत्याचरण करते हैं। जिनेश्वर देव के उपदेशानुसार-आज्ञानुसार चलते हैं ॥५॥

अनेकान्तवादी जैन दर्शन में अन्य सब दर्शनों का समावेश हो जाता है। किन्तु अन्य दर्शनों में जैन दर्शन एक अंग मात्र में ही है। पूर्णरूप से नहीं क्यों कि वे एकांतवादी हैं। इस को समझने के लिये यह उदाहरण है — जिस प्रकार समुद्र मे सब नदियों का समावेश हो जाता है किन्तु नदी में सागरत्व अंश मात्र ही है। नदी को समुद्र कोई नहीं कहता। उसी प्रकार अन्य दर्शनों में जैन दर्शन अंश रूप से है और जैन दर्शन में अन्य दर्शन समाविष्ठ हो जाते हैं। अतः श्री आनन्दघन जी का कहना है कि अन्य दर्शनों में खंडनात्मक अथवा निन्दात्मक दृष्टिकोण न रख कर समन्वयात्मक दृष्टि रखो और ऊपर कहे अनुसार जैन दर्शन को शिरोमणी जानकर उसकी आराधना करो ॥६॥

जो मनुष्य राग-द्वेप को त्याग कर तदाकार वृत्ति धारण कर-वीतरागी हो कर श्रीजिनेश्वरदेव की आराधना करते हैं, वे निश्चयरूप से इस प्रकार जिनेश्वर हो जाते हैं जिस प्रकार भ्रमर (भौंरा) लट को (कीट विशेष

को) भटका देता है (भनभनाता है) और वह लट भ्रमर बन जाती है जिसे सब संसार देखता है।

भ्रमर लट को लेकर स्वनिर्मित मिट्टी के घर में रख देता है, फिर उस घर के सामने भनभनाता है और वह लट कुछ दिवस पश्चात् भ्रमर बन कर बाहर निकलता है। इस बात को सब संसार देखता है, और जानता है। वैसे ही वीतरागी मनुष्य जिनेश्वरदेव जैसा हो जाता है।

चूर्णि (महान ज्ञानियों कृत विवेचन), भाष्य (सूत्रों का अर्थ), सूत्र (गण धर कृत आगम); निर्युक्ति (पदच्छेद पूर्वक अर्थ विवेचन), वृत्ति (टीका) एवं गुरु परम्परागत अनुभव ज्ञान ये समय-पुरुष के—सिद्धांत पुरुष के छै अंग है। ये जैन दर्शन के छै अंग हैं। जो व्यक्ति इन छओं अंगों में से एक का भी छेदन (काट) करता है– उत्थापन करता है, वह दुरभवी है–दुष्ट भवगामी है अर्थात् नीच गति में जाने वाला है ॥८॥

ऊपर कहा गया है कि जिनेश्वर रूप (वीतरागी) होकर, जिनेश्वरदेव की आराधना करता है वह निश्चय ही जिनेश्वर बन जाता है। अपने को जैन या जिन-अनुयायी कहलाने मात्र से जिनेश्वर नहीं बना जा सकता। उसके लिये साधना की आवश्यकता है। उसका रूप यहां बताया जाता है—

आत्म साधना में ध्यान का विशेष महत्व है। यहाँ आलंबन ध्यान पद्धति का निरूपण है। ध्यान में योगों (मन, वचन और काया के योगों) को स्थिर कर एकाग्र करने के लिये छै योग या अंग कहे गये हैं—

१मुद्रा, २बीज, ३धारणा, ४अक्षर; ५न्यास और ६अर्थ विनियोग। १मुद्रा का अर्थ है—बैठने, खड़े होने, लेटने आदि का ढंग, हाथ, मुख नेत्रादि की स्थिति। योग मुद्रा, जिन मुद्रा। ध्यान में हाथ, मुख, पैर, नेत्र आदि किस प्रकार रखे जावे अर्थात् शरीर व अवयवों को किस आकृति में रखा जावे। उसके लिये किसी भी योगासन को ग्रहण करना। (सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन, आदि, २बीज—मंत्र। (ॐ, ह्रीं, श्रीं सहित जाप मंत्र; पंच परमेष्ठी

जाप) ३धारणा—चित्त को स्थिर करना (चित्त को वीज पर स्थिर करना)। ४अक्षर—जाप मंत्र के अक्षर, पंच परमेष्ठी जाप के अक्षर। ५न्यास—स्थापना अर्थात् हृदयकमल दल, अष्ट दल कमल, सहस्र दल कमल पर जाप के अक्षरों को स्थापित करना। ६अर्थविनियोग—जाप के अक्षरों के साथ उनके अर्थ का वोध होना अर्थात् अर्थोपयोग वना रहे।

जो मुद्रा (योग मुद्रा अथवा जिन मुद्रा) में स्थित होकर, वीज-जाप मंत्र पर (पंच परमेष्ठी मंत्र पर) धारणा करता हुआ-चित्त वृत्तियों को स्थिर करता हुआ, जाप के अक्षरों को न्यास— स्थापित करता है अर्थात् हृदय कमल वा अष्ट दल कमल वा सहस्रदल कमल पर जाप के अक्षरों को स्थापित करता है और साथ ही उसके (जाप अक्षरों के) अर्थ का विनियोग-वोध रखकर (अर्थोपयोग रखकर) ध्यान करता है वह, कभी ठगा नहीं जाता है अर्थात आत्मा को ठगने रूप क्रिया न होने से आत्मा ठगा नहीं जाता है। (आश्रव रूप क्रियायें आत्मा को ठगती हैं, जो उन्हें नहीं करता, वह ठगा नहीं जाता है)। और वह इस अवंचक क्रिया का अवंचक फल (अनंत आत्मिक सुख) भोगता है ॥९॥

जो अवंचक रूप (साधना के लिये हिंसादि का त्याग कर और कषायादि पर विजय रूप साधुवृत्ति) धारण कर, अवंचक क्रिया (ध्यान साधना की क्रिया) करता है, वह निश्चय ही अवंचक फल (आत्मिक सुख) भोगता है।

(वंचक, अवंचक क्रिया, फल और भोग को समझने के लिए इसी चौवीसी के श्री चंद्रप्रभ जिन स्तवन और शांति नाथ जिन स्तवन का मनन करना चाहिये)।

श्रुत-जैन आगमों-के अनुसार पूर्ण रूप से चिन्तन करके कहता हूँ कि जैसे लक्षण सद्गुरु के आगमों में बताये गये हैं, वैसे सद्गुरु आज प्राप्त नहीं हैं। अतः ऐसे सद्गुरु के आश्रय विना क्रिया करके भी आत्म साधना नहीं कर सका, यह चित्त में प्रवल विषाद (दुःख-खिन्नता) रहता है ॥१०॥

इसलिये हे जिनेश्वर नमिनाथ ! मैं हाथ जोड़ कर खड़ा हुआ आपके सन्मुख प्रार्थना करता हूँ—मुझे शास्त्रानुसार चारित्र की शुद्ध सेवा प्रदान कीजिये जिससे मैं आनन्द के समूह आपको प्राप्त कर अनन्त आत्मिक सुखों को प्राप्त होऊँ ॥११

श्री नेमि जिन स्तवन (२२)

(राग-मारू-धणरा ढोला-ए देशी)

अष्ट भवांतर वाल्ही रे वाल्हा, तू मुझ आतमराम । मनरावाल्हा ।
मुगति नारी सूं आपणे रे, वा०, सगपण कोइ न काम ॥मनरा०॥१॥
घर आवो हो वालम घर आवो, म्हारी आसारा विसराम ।मनरा०।
रथ फेरो हो साजन रथ फेरो, म्हारा मनना मनोरथ साथ
॥मनरा०। २॥
नारी पखैस्यों नेहलोरे वा०, सांच कहै जगन्नाथ ।मनरा०।
ईसर अरधंगे धरी रे वा०, तू मुझ झाले न हाथ ॥मनरा०॥३॥
पशु जननी करुणा करी रे वा०, आंणी हृदय विचार ।मनरा०।
माणसनी करुणा नहीं रे वा०, ए कुण घर आचार ।मनरा०॥४।
प्रेम कलपतरु छेदियो रे वा०, धरियो जोग धतूर ।मनरा०।
चतुराई रो कुण कहो रे वा०, गुरु मिलयो जग सूर ॥मनरा॥५॥
म्हारो तो एह मां क्यूं नहीं रे वा०, आप विचारो राज ।मनरा०।
राज सभा मां वैसतां रे वा०, किसडी वधसी लाज ॥मनरा०॥६॥
प्रेम करै जग जन सहू रे, वा०, निरवाहै ते और ।मनरा०।
प्रीत करी नै छाँडि दे रे वा०. तेसूं चालै न जोर ॥मनरा०॥७॥
जो मनमां एहवो हतो रे वा०, निसपति करत न जाण ।मनरा।

नितपति करिनै छांडतां रे वा०, माणस हुय नुकसाण ॥मनरा०॥८॥
देतां दान संवच्छरी रे वा०, सहु लहै वंछित पोख ।मनरा०।
सेवक वंछित लहै नही रे वा०, ते सेवक रो दोख ॥मनर०॥॥९॥
सखी कहै ए सामलो रे वा०, हूं कहूं लखरणै सेत ।मनरा०।
इण लखरणै सांची सखी रे वा०, आप विचारो हेत ॥मनरा०॥१०॥
रागी सूं रागी सहू रे वा०, वैरागी स्यों राग ।मनरा।
राग बिना किम दाखवो रे वा०, मुगत- 'दरी माग ॥मनरा०॥११॥
एक गुह्य घटतो नहीं रे वा०, सगलौ जाणै लोग ।मनरा०।
अतेकांतिक भोगवै रे वा०, ब्रह्मचारी गत रोग ।।मनरा०॥१२॥
जिण जौणो तुमनै जोऊ रे वा०, तिण जोणी जोवो राज ।मनरा।
एक वार मुझनै जोवो रे वा०, तो सीझै मुझ काज ॥मनरा०॥१३॥
मोह दसा धरि भावतां रे वा०, चित्त लहै तत्व विचार ।मनरा।
वीतरागता आदरी रे वा०, प्राणनाथ निरधार ॥मनरा०॥१४॥
सेवक पण ते आदरै रे वा०, तो रहै सेवक माम ।मनरा०।
आसय साथे चालिये रे वा०, एहिज रूढो काम ॥मनरा०॥१५॥
त्रिविध जोग धर आदर्यो रे वा०, नेमिनाथ भरतार ।मनरा०।
धारण पोखण तारणो रे वा०, नवरस मुगता हार ।मनरा०॥१६॥
कारण रूपी प्रभु भज्यों रे वा०, गिण्यो न काज अकाज मनरा०।
क्रिपा करी मुझ दीजिये रे वा०, 'आनन्दघन' पद राज
॥मनरा०॥१७॥

(२२) पाठान्तर:—भवांतर = भवंतर (अ, आ, ई, ऊ)। वाल्हो = वालहो (ई), वालही (उ, ऊ)। तू = तुं (अ)। आपणे = आपणो (अ, आ)। घर = घरि (अ, उ)। म्हारी = मांहरी (अ), माहरी (आ, उ), मारी

(ऊ) म्हारा....साथ = रथ देरो मनोरथ साथ (अ), माहरा मनना मनोरथ साथ (आ), साजन म्हारा मनोरथ साथ (ई), सजन माहरा मनोरथ साथ (उ), साजन मारा मनना मनोरथ साथ (ऊ)। नेहलो = नाहलो (अ)। ईसर = ईश्वर (ई, उ, ऊ)। झालैन = झालनै (अ), झाले (उ)। जननी = जनरी (अ)। पेम = प्रेम (आ, ई, उ, ऊ) कलपतरु = कल्पतरु (ई)। जोग = योग (अ, आ, उ)। चतुराई री = चतुराई नो (आ, ऊ)। म्हारो = माहरो (अ, आ,), म्हारु (ई), माहरू (उ) मारु (ऊ)। विचारो विचारै (ई, उ, ऊ)। सभामां = सभा में (अ, आ, उ, ऊ)। ववसी = ववसै (अ)। जग = जगि (अ)। छांडि दे = छांडियें (अ), छोडि दे (आ, ऊ)। तेसूं = तेसु (अ, ई), तेहसुं (उ)। मनमां = मनने (अ), मनमो(उ)। एहवो = एहवूं (ई, उ, ऊ)। हतो = हतूं (ई, उ, ऊ)। करिनै = करनै (अ)। हुय = हुइ (ई, उ)। संवच्छरी = संवत्सरी (अ, इ, उ), संवछरी (आ, ऊ)। पोख = पोप (अ, ई, उ, ऊ)। लहै नहीं = नविलहै (आ, ई, ऊ), नविल्है (उ)। सेवक री = सेवक नो (अ, आ, ऊ)। दोख = दोप (अ, आ, ई, उ, ऊ)। सामलो = सामलो (अ, ई, ऊ)। लखणां = लक्षण (ई, उ, ऊ)। इग = इणि (उ)। लखणां = लक्षण (ई, ऊ), लक्षण (उ)। विचारो = विचारै (उ, ऊ)। वैरागी स्यों राग = वैरागी वैराग (अ), वैरागी नै स्यो राग (उ)। किम दाखवो = सुं दाखवुं (अ)। मुगत = मुगति (अ, आ, ई, उ, ऊ,)। सुंदरी माग = सुंदरी सुं राग (अ), सुंदरी सुं मांग (उ)। एक गुह्य = एह गूझ (अ), एह गुज्ज (आ)। घटतो नहीं = घर नो नही रे (अ, आ), घटतुं नही (उ), घटतू नथी (ऊ)। सगली = सगलोइ (आ, उ, ऊ), अनेकांतिक = अनेकांतिकी (अ, आ) अनेकांतक (ऊ)। गत = गति (अ)। रोग = सोग (अ)। जोणी = जोयणी (अ), जोगे (ई, उ)। तुमनै = तुझनै (अ, उ)। तिण = जिण (अ)। जोणी = जोगे (ई, उ)। जोवो = जुवो (ई)। जोवो रे = जुवो रे (आ), जुओ रे (ई, ऊ)। धरि = तज (ऊ)। भावतां रे = भावनां रे (उ, ऊ)। पण = पिण (उ, ऊ) आदरै रे = आदरी रे (उ)। रूडो = रूडो (अ आ, इ), रूडा (उ) रुडुं (ऊ)। मुगताहार = मुक्ताहार (अ, आ)। रूपी = = रूप (अ)। भज्यो

रे=भजू रे (अ), भजूं रे (आ)। मुझ=प्रभुजी (अ, आ), प्रभु (उ)।
दीजिये रे=दीयो रे (अ, आ) ॥

शब्दार्थ=भावान्तर=अन्यभव, पूर्व जन्म। वाल्ही=प्रिय। सगपण=सगाई, संबंध। पखै=पक्ष में। स्यों=क्यों। नेहलो=स्नेह। ईसर=महादेव। अरधंग=आधे अंग में। झालैन=पकडोनै। माणसनी=मनुष्य की। कल्पतरु=कल्पवृक्ष। छेदियो=काट डाला। चतुराई रो=चतुरता का। कयूं=कुछ भी। बैसतां=बैठते हुये। किमडी=कैसी। वधसी=बढेगी। निरवाहै=निर्वाह करना, निभाना। निसपति=निसबत, सगाई, संबंध। पोख=पोषण। सामलो=सांवला श्याम। दोख=दोष। लखणे=लक्षण से सेत=श्वेत, उज्ज्वल। दाखवो=बताना, कहना। माग=मार्ग। गुह्य=गुप्त। सगलो=सब। अनेकांतिक=अनेकांत स्याद्वाद बुद्धि। गतरोग=रोग रहित। जोणी=योनि, जन्म। सीझै=सिद्ध होवे। माम=मर्म धर्म प्रतिष्ठा। रुडो=श्रेष्ठ।

श्री नेमिश्वर, महाराज उग्रसेन की कन्या राजिमती से विवाह करने के लिये बरात (शोभायात्रा) लेकर जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने अनेक पशुओं को एक स्थान में बंद देखा और यह जानकर कि इनकी हत्या मेरे विवाह के निमित्त से होने वाली है; उनका हृदय दयार्द्र हो उठा। अतः उन्होंने अपने रथ को वापिस लौटाने के लिये सारथी से कहा। तत्काल ही आज्ञा का पालन हुआ। रथ वापिस जाने लगा। रथ को वापिस लौटते देखकर राजिमती कह रही है—

अर्थ—हे प्रियतम ! मैं निरंतर आठ भवों से—जन्मों से आपकी प्रियतमा रही हूं अतः आप मेरी आत्मा में पूर्णरूप से रम गये हैं। मुक्ति-स्त्री से तो आपका कभी कोई संबंध ही नहीं रहा है, फिर उससे संबंध करने की उत्सुकता का क्या कारण ? ॥१॥

हे मेरे प्राणवल्लभ ! घर पधारो। हे मेरी आशाओं के विश्राम स्थल ! रथ को वापिस घुमाओ। हे साजन ! अपने रथ को वापिस लाओ।

हे प्रियतम ! आपके रथ के साथ गई हुई मेरी आशायें भी वापिस लौट आवेंगी। अतः हे नाथ ! मेरी आशाओं के साथ अपने रथ को लौटा लावो ॥२॥

आप कहते हैं कि मैं मुक्ति–नारी की ओर आकर्पित हो गया हूँ। तब मैं आपसे पूछती हूँ—हे जगत के स्वामी प्रियतम ! आप सच-सच बतलाइये। नारी के पक्ष मे–नारी के प्रति आपका यह स्नेह है क्या ? नारी के प्रति तो महादेव–शंकर का प्रेम देखिये जो उन्होंने पार्वती को अपने आधे शरीर में धारण कर लिया और अर्धनारीश्वर कहलाते हैं। एक नारी प्रेमी आप हैं ? जो मेरा हाथ भी नही झेलते हैं—नहीं पकड़ते हैं ॥३॥

हृदय में विचार आते ही, हे प्रियतम ! आपने पशुओं पर दया दिखाकर उन्हें बंधन मुक्त कर दिया। किन्तु आश्चर्य है, आपके हृदय में मनुष्य के लिये कुछ भी दया नहीं है। हे प्रियतम ! यह किस वंश–कुल का आचरण (व्यवहार) है ? यह किस खानदान–घर की मर्यादा है ? ॥४॥

हे वल्लभ ! आपने अपने हृदय से प्रेमरूपी कल्पवृक्ष को उखाड़कर योग–(वैराग्य) रूपी धतूरे का वृक्षारोपण किया है। हे प्रियतम ! सच-सच बताइये कि यह चतुराई ! (बुद्धिमानी का काम !) सिखाने वाला कौनसा शूरवीर जगतगुरु आपको मिला है ? ॥५॥

हे प्रिय राजकुमार ! आप विचार तो कीजिये। आप जो मुझे छोड़ कर जा रहे हैं, इसमें मेरा तो कुछ अपराध है नहीं। मैं तो आपसे पूर्णरूप से अनुरक्त हूँ। मुझे तो यही दुःख खटकता है। जब आप राजा महाराजाओं और सभ्य समाज की परिषद् में विराजेंगे तो आपकी प्रतिष्ठा किस प्रकार बढ़ेगी क्योंकि आप तो मुझे पत्नी बनाना स्वीकार कर चुके थे। अब वचन भंग से प्रतिष्ठा बढ़ेगी क्या ? ॥६॥

संसार में प्रेम तो सब ही करते हैं किन्तु उसका निर्वाह करने वाले कोई और ही होते हैं अर्थात् प्रेम का निर्वाह करने वाले विरले ही होते हैं।

(प्रेम में कोई बंधन तो है नहीं) जो व्यक्ति प्रीति करके छोड़ देते हैं, उनसे कोई जबरदस्ती तो नहीं की जा सकती है। आप मेरे प्रेम की अवहेलना कर रहे हैं। मैं तो केवल विनती ही कर रही हूँ—"घर आवो हो बालम ! घर आवो" ।।७।।

जो आपके मन में पहिले से ही मुझे छोड़ने की बात थी तो आपको सोच समझ कर—जानबूझ कर-सगाई-संबंध ही न करना था। सगाई-संबंध करके और फिर उसे छोड़ने में तो मनुष्य का—नारी जाति की बहुत बड़ी हानि होती है। संसार में नाना प्रकार के अपवाद फैलते हैं। विवाह करने के लिये आकर भी आप वापिस जा रहे हैं, इसमें आपका भी अपयश है, अतः मैं प्रार्थी हूँ—"घर आवो हो बालम ! घर आवो" ।।८।।

जैन तीर्थंकर दीक्षा से पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ और आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते हैं। जब राजिमती ने श्री नेमीश्वर के सांवत्सरिक दान की बात सुनी, तब वह निराश होकर अत्यन्त खेद के साथ कहती है—

हे प्रियतम ! आपके इस सांवत्सरिक दान से सब ही लोग अपनी-अपनी इच्छाओं का पोषण करते हैं। अर्थात् उनकी सब इच्छायें पूर्ण होती हैं। किन्तु मैं आठ जन्मों से आपकी चर्या करने वाली सेविका अपने इच्छित फल को प्राप्त नहीं कर रही हूँ। यह मुझ सेविका का ही दोष—अपराध है ।।९।।

विशेष खिन्न होकर पुनः राजिमती कहती है—हे प्राण वल्लभ ! मेरी सखियें कहती थी कि यह नेमिनाथ तो श्यामवर्ण के हैं किन्तु प्रत्युत्तर में मैंने कहा था कि वर्ण श्याम (सांवला) हुआ तो क्या ? गुणों के लक्षणों से तो यह उज्ज्वल श्वेतवर्ण वाले हैं। किन्तु आपके इन लक्षणों से—मुझे त्यागकर जाने से—तो सखियां ही सच्ची सिद्ध होती हैं। मैं क्या कहूँ, आप स्वयं ही इसका कारण सोचे—समझें। अतः मैं तो बारंबार कह रही हूँ—"घर आवो हो बालम घर आवो, म्हारी आशारा विश्राम" ।।१०।।

हे प्रिय स्वामी। प्रेम करने वाले के साथ तो सब प्रेम करते हैं किन्तु वैरागी के साथ राग–प्रेम कैसा ? यदि आपका ऐसा मन्तव्य है तो मैं पूछती हूँ कि बिना राग रुचि के आप मुक्ति–सुन्दरी के प्राप्ति का मार्ग कैसे अपना रहे हो और दूसरों को यह मार्ग कैसे बता रहे हो-कह रहे हो ? वैरागी बनकर राग–प्रेम रखना और राग करने के लिये कहना, न्याय है क्या ? इसलिये मैं विनय करती हूँ—'घर आवो हो बालम, घर आवो" ॥११॥

आपके वृत्त को तो सब ही मनुष्य जानते हैं, इसलिये आप में एक भी गुप्त कर्म चरितार्थ नहीं होता है। आप काम वासना–रोग रहित ब्रह्मचारी हैं, फिर भी आप अनेकांतिक बुद्धि रूपी स्त्री के संग रमण करते हैं—अनेकांतिक बुद्धि का उपभोग करते हैं यह बात सब जानते हैं। इसमें कोई गुप्त बात नहीं है। इसलिये ही मैं आठ जन्मों की अर्द्धांगिनी विनय करती हूँ—"घर आवो हो बालम घर आवो" ॥१२॥

हे प्रियतम राजकुमार ! जिस प्रेम दृष्टि से मैं आपको देखती हूँ उस ही प्रेम दृष्टि से आप भी तो मुक्ति सुन्दरी को देख रहे हो। यदि आप केवल एक बार भी मेरी ओर प्रेम दृष्टि से देख लेंगे तो मेरे सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जावेंगे और मेरा अपयश दूर हो जावेगा। इस सिद्धि के लिए ही तो मैं प्रार्थना करती हूँ—घर आवो हो बालम, घर आवो, म्हारी आसांरा विसराम ॥१३॥

अब तक मोहावृत्त होकर राजिमती अपने मनोद्‌गार व्यक्त कर रही थी। एकाएक उसके विचार पलटते हैं और उसका चित्त वास्तविक स्थिति की ओर मोड खाता है। जो स्वाभाविक है। कवि इस दशा का वर्णन करता है—

मोहावृत्त दशा में राजिमती के हृदय में अनेकानेक भावनायें –विचार उठते-बैठते रहे। अन्त में इसी विचार धारा के मध्य उसका चित तत्व विचार का दिव्य प्रकाश प्राप्त कर गया। (मैं कौन हूँ ? स्वामी कौन है ? मेरा क्या कर्त्तव्य है।?) इस दिव्य प्रकाश में उसे (राजिमती को) वास्तविकता का ज्ञान हो गया कि प्राणनाथ जीवनधन नेमीश्वर ने तो निश्चय ही वीतरागता स्वीकार कर ली है। वे वीतरागी बन गये हैं ॥१४॥

अव तो मुझ सेविका की माम—लाज—प्रतिष्ठा इसी में है कि मैं भी उस ही पथ पर चल पड़ूं अर्थात् मैं भी वीतरागी बन जाऊँ। तभी मेरा सेवक-पन चरितार्थ—सार्थक होगा। सेवक को स्वामी के आशय—इच्छा—उद्देश्य के अनुसार ही चलना चाहिये। यही सेवक के लिये सर्वश्रेष्ठ कार्य है ॥१५॥

राजिमती कहती है—"आसय साथे चालिये, एहिज रूढ़ो काम" के अनुसार मन-वचन—कर्म से मैंने योग—वीतराग भाव धारण कर वास्तव में श्री नेमीश्वर को भर्त्तार (भरण-पोषण कर्त्ता) रूप में स्वीकार कर लिया है। उन श्री नेमीश्वर भर्तारने मुझे नवरस रूपी-निरूपम एवं अद्वितीय आत्मिक गुणों से युवा-रति-प्रेम रूप शृंगार रस; जड जंगम की भिन्नभिन्न अवस्था और रूपरंग से उत्पन्न हास्य रस; पर-दुख संतप्तता रूप करुण रस; कर्म-शत्रुओं पर विजय में, सदुपदेश दानमें, तप में, चारित्र-पालन में, पर दुःख हरण में उत्साह रूप वीर रस; भव बंधन में डालने वाली कषायों पर क्रोध रूप रौद्ररस; जन्म-मरण के कष्टों से भयभीत होने स्वरूप भयानक रस;* नर्क-निगोद के दुःखों से उत्पन्न ग्लानि रूप विभत्स रस; संसार की चित्र-विचित्रता में आश्चर्य रूप अद्भुत रस और राग-द्वेष रहित निर्विकार हो, आत्म-शांति मे लीन वैराग्य भाव रूप शांतरस रूपी-मुक्ताहार-अमूल्य मोतियों का कंठा मुझे उपहार में दिया है। (पति पत्नी को प्रथम मिलन में उपहार देता ही है) यह अमूल्य मुक्ताहार मेरा धारण-आधार है—शोभा है। मेरे आत्मिक गुणों को पुष्ट करने वाला है और अंत में मुझे भव-सागर से तारने वाला है ॥१६॥

मेरे वीतराग भाव के निमित्त कारण प्रभु नेमिनाथ भगवान की मैंने आराधना की है। इसमें (आराधना में) मैंने कृत्याकृत्य का कुछ भी विचार नहीं किया है। अर्थात् मुझे क्या करना चाहिये था और क्या नहीं करना चाहिये था, इसमें क्या हानि होगी, क्या लाभ होगा ? इसका विचार किये बिना ही उनके-श्रीनेमीश्वर के आशय के अनुसार उनकी आराधना में तल्लीन हूं। और अब समर्पित होकर प्रार्थी हूँ—हेकरुणासिंधु ! कृपा कर मुझे परमानन्द के

---

* जैन आगम अनुयोगद्वार में भयानक रस के स्थान पर 'व्रीडारस' दिया गया है। अतः उसका रूप हुआ—"वीडोत्पादक (घृणोत्पादक) हिंसादि कर्म में लज्जा रूप व्रीडारस।

समूह मोक्ष का साम्राज्य प्रदान कीजिये ॥१७॥

(महासती राजिमती की यह प्रार्थना फलीभूत हुई और श्री नेमिनाथ भगवान से पूर्व ही उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया और अनंत सुखों के साम्राज्य की अधिकारिणी बन गई) ।

इस अंतिम पद में यह व्यंग्यार्थ है—'कवि आनंदघन जी कहते हैं मैं भी आपके मार्ग (वीतराग भाव) का अनुगामी हूं । कार्य, अकार्य का-फलाफल का विचार किये विना आपकी आराधना में तन्मय हूं । कृपा कर मुझे अनंत सुखों के साम्राज्य को प्रदान कीजिये ।

श्री पार्श्व जिन स्तवन (२३) १

(देशी–रसियाकी)

ध्रुवपद रामी हो स्वामी माहरा, निःकामी गुणराय ।सुग्यानी।
निज गुण कामी हो पामी तू धणी, ध्रुव आरामी हो थाय
॥सुग्यानी ध्रु०॥१॥

सर्व व्यापी कहे सर्व जाणग पणे, पर परणमन स्वरूप
पर रूपे करी तत्वपणु वही, स्व सत्ता चिद्रूप ।.सु० ध्रु०॥२॥
ग्येय अनेके हो ग्यान अनेकता, जल भाजन रवि जेम ।सु०।
द्रव्य एकत्व पणे गुण एकता, निज पद रमतां हो खेम ॥सु० ध्रु०॥३॥
पर क्षेत्रे गम्य ग्येयने जाणवे पर क्षेत्री थयु ग्यान ।सु०।
अस्ति पणु निज क्षेत्रे तुम्हे कहो, निर्म्मलता गुणमान ॥सु० ध्रु०॥४॥
ग्येय विनाशे हो ग्यान विनश्वरू, काल प्रमा रेणे थाय ।सु०।
स्वकाले करि स्व सत्ता पणे, ते पर रीते न जाय ॥सु० ध्रु०॥५॥
पर भावे करी परता पामता, स्व सत्ता थिर ठाण ।सु०।
आत्म चतुष्कमयी परमां नही, तो किम सहूनो रे जाण ॥सु०ध्रु०॥६॥
अगुरुलघु निज गुणने देखातां द्रव्य सकल देखत ।सु०।
साधारण गुणनी साधर्म्यता, दर्पण जल दृष्टंत ॥सु० ध्रु०॥७॥
श्री पारस जिनवर पारस समो, पिण इहां पारस नांही ।सु०।
पूरण रसियो हो निज गुण परसनो, 'आनन्दघन' मुझ मांहि
॥सु० ध्रु०॥८॥

(२३) १. यह स्तवन श्री ज्ञानविमलसूरिजी कृत कहा जाता है परन्तु यह उनका नहीं है (भूमिका देखें) इस स्तवन पर उन्होंने टीका नहीं लिखी है। हमारे पास की अन्य प्रतियों में यह स्तवन नहीं है। केवल श्री ज्ञानविमल सूरिजी वाली प्रति में हैं। और मुद्रित तीन प्रतियों में है। मुद्रित तीन प्रतियों में भी तीसरा और चौथा पद नहीं हैं। पाठान्तर मुद्रित प्रतियों के ही दिए हैं।

पाठान्तर—देसी रसियानी = राग सारंग (मं, वि०)। माहरा = हमारा (मं, मा०)। कहे = कहो (वि)। परगमन = परिणमन (मं, मा, वि)। वही = नही (मं, मा, वि)। ध्येय.....खेम = यह पद मं, मा में नहीं है। परक्षेत्र .....गुणमान-यह पद भी मं और मा में नहीं है। गम्य = गत (वि)। तुम्हें = तुम (वि)। कहो = कह्यो (वि)। सत्तापणे = सदा (मं, मा, वि)। सहूने = सहुने (मं)। सकलने = सकल (मं, मा, वि)। जलने = जल (मं, मा)। जिनवर पारस समो = जिन पारस रस समो (मं, मा, वि)। परसनो = परश मां (मं, मा)।

शब्दार्थ—ध्रुव = अटल। पद = स्थान। रामी = रमण करने वाला। जाणगपने = ज्ञाता पन में, ज्ञायक भाव से। पर परगमन = अन्य में परिणमन करने वाले। चिदरूप = ज्ञान रूप। खेम = क्षेम, आनन्द। विनश्वर = नाशमान। आत्म चतुष्क मयी = अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप। समो = समान, बराबर। परसनो = स्पर्श का।

अर्थ—हे मेरे स्वामी श्री पार्श्वनाथ प्रभो! आप अचल पद—आत्म पद—मोक्ष में रमण करने वाले हैं। आप निष्कामी—इच्छा रहित और अनन्त आत्मिक गुणों के राजा—सम्राट हैं। कोई भी भव्य प्राणी आत्मिक गुणों का इच्छुक आपको स्वामी बना लेता है, वह मोक्ष के शाश्वत सुखों में आराम करने वाला—निवास करने वाला बन जाता है ॥१॥

सकल जड-जंगम के सब गुण-पर्यायों को तीनों कालों में आप जानते हैं, इसलिए आपको सर्व व्यापी कहा जाता है किन्तु पर द्रव्य के परिणमन स्वरूप में—पर द्रव्य मय होने में वही तत्वत्व-वही स्व स्वरूपत्व (आत्मत्व)

है क्या ? अर्थात् नहीं है क्योंकि आपकी सत्ता तो ज्ञानमय है। अतः सर्व को जानने से सर्व व्यापकत्व सिद्ध नहीं होता है क्योंकि ज्ञानमय—चैतन्य अन्य स्वरूपी नहीं बन सकता है। यदि वह पर द्रव्यमय हो जावेगा, तो वह अपने स्वरूप में नही रह सकेगा। इसलिए हे स्वामी ! आप ध्रुवपद रामी हैं ॥२॥

सर्व व्यापकत्व के सम्बन्ध में वादी कहते हैं—ज्ञेय पदार्थ (जाना जाने वाला पदार्थ) की अनेकता के कारण ही ज्ञान की अनेकता इस प्रकार है, जिस प्रकार अनेक जल पात्रों में सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक रूप दिखाई पड़ता है, अर्थात् एक ही ज्ञान अनेक ज्ञेयों में पृथक-पृथक रूप में दिखाई पड़ता है। इसका उत्तर है—द्रव्य के एक होने के कारण उसका गुण भी एक ही होता है क्यों कि गुण और गुणी अलग-अलग नहीं हैं। अपने गुण में गुणी का रमण करना--रहना ही क्षेम कुशलता है अर्थात् स्वसत्ता में रहना ही आनन्द है—मुक्ति है। पर परणति में वह एकत्व (गुण-गुणीका एकपना) स्थिर नहीं रहता है। इसलिए तो हे नाथ ! आप ध्रुवपदामी हैं ॥३॥

ज्ञान अन्य स्थान में रहने वाले ज्ञेय पदार्थ को उसी क्षेत्र में जानने से अन्य क्षेत्र में होने वाला हो जाता है। ज्ञान दूसरे क्षेत्र रूप हो जाता है। किन्तु आपने ज्ञान का अस्तित्व (विद्यमनता-सत्ता) अपने क्षेत्र में ही ज्ञान की निर्मलता के कारण ही बताया है। अन्य क्षेत्र में ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। अनंत पर क्षेत्र के ज्ञेय अनन्त होन से ज्ञान के भी अनन्त रूप होंगे, अर्थात् एक आत्मा (ज्ञान) अनंत ज्ञेय रूप होने से वह स्वयं भी अनंत रूप होगी। तब फिर आत्मा (ज्ञान) का अपने क्षेत्र मे अस्तित्व कैसे सम्भव होगा ?-अर्थात् नहीं होगा। ज्ञान की सत्ता तो अपने ही क्षेत्र में है। इसलिए हे नाथ ! आप ध्रुवपदरामी हैं ॥४॥

यदि ज्ञान ज्ञेय रूप हो जावेगा तो ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) के नाश होने पर ज्ञान भी अवधि सम्पन्न होने पर नष्ट हो जावेगा। अर्थात् जिस ज्ञेय का एक समय ज्ञान हुआ वह ज्ञेय समय नष्ट होते ही नष्ट हो जावेगा। जब ज्ञेय नष्ट हो जावेगा तो ज्ञान भी, नष्ट हो जावेगा। जैसे घटादि पदार्थ नष्ट होते हैं, वैसे ज्ञान उनके साथ नष्ट नहीं होता अतः ज्ञान तो स्वकाल में—अनंत

पर्याय के समय अर्थात् त्रिकाल में अपनी सत्ता में ही विद्यमान रहता है। वह तो पर पर्याय रुप में नहीं जाता है अर्थात् वह पर रूप नहीं होता है। इसलिए तो हे ज्ञानमय नाथ! आप "ध्रुवपदरामी स्वामी माहरा" हैं ।।५।।

फिर तर्क है—परभाव में परिणमन करते समय, पर रूप बन जाने पर भी आत्मा को अपनी सत्ता में और स्थान में स्थिर कहते हो। (आत्मा तो चतुष्कमयी अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप चार आत्म स्वभाव वाली है और ये चारों गुण पर में (ज्ञेयमें) होते नहीं, अर्थात् चतुष्कमयी सत्ता परवस्तु–ज्ञेय में उसके नाशमान होने के कारण स्थिर नहीं रह सकती है। तब फिर किस प्रकार से आत्मा को सब का जानने वाला कहते हो? ।।६।।

तर्क-समाधान—आत्मा का एक गुण 'अगुरु लघु' (नहीं भारी नहीं हलका) है। आत्मा अपने इस 'अगुरुलघु' गुण को देखते हुए सम्पूर्ण परद्रव्यों को देखता है। सम्पूर्ण द्रव्यों में छै साधारण गुण विद्यमान हैं—१ अस्तित्व, २ वस्तुत्व, ३ द्रव्यत्व, ४ प्रमेयत्व, ५ प्रदेशत्व और अगरुलघुत्व। इन छै गुणों के कारण ही सम्पूर्ण द्रव्य साधर्मी--समानधर्मी हैं अर्थात् द्रव्यों में इन सामान्य गुणों की साधर्म्यता है। इसलिये जिस प्रकार दर्पण और जल में वस्तु प्रतिबिम्बित होती है उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं और वे ज्ञान से जाने जाते हैं। यही ज्ञान का सर्व व्यापकपना है। इस प्रकार वह (ज्ञान) पर-परिणति में भी नहीं जाता है और न वह नष्ट ही होता है क्यों कि दर्पण में अग्नि का प्रतिबिम्ब पड़ने से दर्पण कभी जलता नहीं है—अग्नि रूप नहीं होता है। वह तो अपने प्रतिबिम्बित गुणों में सदा एक सा ही रहता है। यही ज्ञान का स्वभाव है ।।७।।

हे पार्श्वनाथ जिनेश्वर! आपको पारसमणी के समान कहा जाता हैं जो लोहे को छूकर सोना बनाने वाली है किन्तु आप तो वैसे पारसमणी नहीं हैं बल्कि आप तो ऐसे परिपूर्ण रसिक पारस हैं जो दूसरों को भी पारस बना देते हैं। आप उन आत्म गुणों से युक्त हैं जिन आत्म गुणों के स्पर्शमात्र से ही मुझ में आनन्द का समूह आ गया है अर्थात् जो आत्म गुणों का स्पर्श करता करता है वह आनन्द का समूह पारस बन जाता है ।।८।।

श्री पार्श्व जिन स्तवन (२३) २

(शान्ति जिन इक मुझ वीनती—ए देशी)

पासजिन ताहरा रूपनूं, मुझ प्रतिभास किम होय रे।
तुझ मुझ सत्ता एकता, अचल विमल अकल जोय रे ॥पास०॥१॥
तुझ प्रवचन वचन पक्ष थीं, निश्चय भेद न कोय रे।
विवहारै लखि देखियै, भेद प्रतिभेद बहु लोय रे ॥पा०। २॥
बंधन मोख नहीं निश्चये, विवहारे भज दोय रे।
अखंड अनादि नविचल कदा, नित्य अबाधित सोय रे ॥पा०॥३॥
अन्वय हेतु वितरेक थी, आंतरो तुझ मुझ रूप रे।
अंतर मेटवा कारणे, आतम सरूप अनूप रे ॥पा०॥४॥
आतमता परमात्मता, शुद्ध नय भेद न एक रे।
अवर आरोपित धर्मछै, तेहना भेद अनेक रे ॥पा०॥५॥
धरमी धरमथी एकता, तेह मुझ रूप अभेद रे।
एक सत्ता लख एकता कहे ते मूढमति खेद रे ॥पा०॥६॥
आतम धरम नै अनुसरी, रमै जे आतमाराम रे।
'आनन्दघन' पदवी कहे, परम आतम तस नाम रे ॥पास०॥७॥

(२३)२ यह स्तवन श्रीज्ञानसारजी कृत है। यह पद हमारी किसी और प्रतियों में नहीं है केवल श्रीज्ञानसारजी वाली प्रति में ही है। इस स्तवन का उन्होंने अर्थ किया है। हमारे पास वाली मुद्रित प्रतियों में भी यह स्तवन नहीं है अतः पाठान्तर नहीं दिये जा सके।

शब्दार्थ—पास = पार्श्वनाथ भगवान। ताहरा = तुम्हारे। प्रतिभास = प्रकर्ष आभास साक्षात्कार। अकल = निराकार। विवहारै = व्यवहारे, व्यव-

हारनय । लोय रे = जीवलोक में । मोख = मोक्ष । अबाधित = बाधा रहित । वितरेक = व्यतिरेक, भेद, अन्तर, व्यतिरेक हेतु । आंतरो = अन्तर । अवर = अन्य, दूसरे । तेहना = उसके । तस = उसका ।

अर्थ:—हे पार्श्वनाथ भगवान ! आपके स्वरूप की झलक—साक्षात्कार मुझे किस प्रकार हो, यह मुझे बताइये । आपकी और मेरी सत्ता अटल, विमल (मल रहित) और निराकार के कारण एक है—अभिन्न है ।।१।।

उत्तर है—मेरे कहे हुये सिद्धान्तों के कथन के अनुसार निश्चय नय से तो कोई भेद (अन्तर) नहीं है । (यह परमात्मा है और यह जीवात्मा है—ऐसा भेद नहीं है) किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से तो अनेकानेक भेद हैं ।।२।।

आगे फिर—वास्तव में निश्चय नय की अपेक्षा से न बंध है और न मोक्ष हैं, किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से बंध और मोक्ष दो कहे जाते हैं । निश्चय नय से आत्मा तीनों कालों में सिद्धात्मा की अपेक्षा अखड है । आत्मा अजन्मा होने से अनादि है । आत्मा के स्वरूप का कभी अभाव नहीं होता अतः वह अविचल है । आत्मा का कभी नाश नहीं होता अतः वह नित्य है (अमर है) । आत्मा अनादि होने के कारण उसके स्वरूप में कोई बाधा (रुकावट) नहीं आती अतः वह अबाधित है ।।३।।

तुम्हारे और मेरे (परमात्मा के) स्वरूप में अभिन्नता और अन्तर* अन्वय हेतु और व्यतिरेक हेतु के कारण से है । अन्वय हेतु से आत्म सत्ता है । इसलिये परमात्म सत्ता है । यह सत्ता ही अभिन्नता है । व्यतिरेक हेतु के कारण मेरे में (परमात्मा में) आवरण अभाव है, वह तेरे में भी होना चाहिये था किन्तु वह आवरण अभाव तेरे में नहीं है (तू शुद्ध, बुद्ध, आत्मा नहीं है) इसलिये तेरे में और मेरे में अन्तर(भेद)है । इस अन्तर(भेद)को दूर करने का एक मात्र कारण

* अन्यव हेतु—जिसके होने पर, जो हो, वह अन्वय हेतु है और जिसके न होने पर, जो न हो, वह व्यतिरेक हेतु है । 'साधन' के होने पर 'साध्य' का होना अवश्यंभावी है । यह अन्वय हेतु है । 'साध्य' के अभाव में 'साधन' न होना, व्यतिरेक हेतु है ।

अनुपम आत्मा स्वरूप ही है अर्थात् जब आवरण मुक्त हो कर अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेवेगा तब यह अन्तर (भेद)नहीं रहेगा ॥४॥

आत्मत्व और परमात्मत्व में निश्चय नय से कोइ भेद(अन्तर)नहीं है। आत्मा और परमात्मा एक ही है। (जो आत्मता है वही परमात्मता है और जो परमात्मता है वही आत्मता है। स्वरूप में अन्तर नहीं है। आगम वाक्य है-'एगे आया'।)अन्य तो आरोपित स्वरूप हैं—स्यादि धर्म हैं। उक्त आरोपित धर्म के तो अनेक भेद हैं। (आत्मा कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी पक्षी, कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी पिता, कभी पुत्र, कभी भाई, कभी बहिन, रूप में कहा जाता है। ये सब आरोपित स्वरूप है। वास्तव मे आत्मा तो आत्मा ही है)॥५॥

धर्मी(आत्मा)धर्म (आत्मत्व)में एकता है अर्थात् धर्मी (आत्मा)को धर्म (स्वभाव)से अलग नहीं किया जासकता है। वे एक साथ ही रहते हैं। आत्म धर्म सहित जो आत्मा है उसके स्वरूप और मेरे में (परमात्म स्वरूप में) अभेद है — कोई अन्तर नही है किन्तु आत्मा की केवल सत्ता देखकर एकता बताना मूर्ख बुद्धियों का दुराग्रह है ॥६॥

जो आत्मा आत्म धर्म (स्वभाव) का अनुसरण करके—स्वीकार करके अपनी आत्मा में रमण करता है अर्थात् अपने आत्म स्वभाव में रहता है, वह आनंन्द घन पद में है और इस ही का नाम परमात्मा है ॥७॥

श्री पार्श्व जिन स्तवन (२३) ३

प्रणमुं पाद-पंकज पार्श्वना, जस वासना अगम अनूप रे।
मोह्यो मन-मधुकर जेह थी, पामे निज शुद्ध स्वरूप रे ॥प्र०॥१॥
पंक कलंक शंका नहि. नहीं खेदादिक दुख दोष रे
त्रिविध अवंचक जोग थी. लहै अध्यातम सुख पोष रे ॥प्र.॥२॥
दुरदशा दूरे टलै, भजे मुदिता मैत्री भाव रे

वरते नित चित मध्यस्थता, करूणामय शुद्ध स्वभाव रे।।प्र०।।३।।
निज स्वभाव स्थिर कर धरे, न करे पुदगलनी खंच रे
साखी हुई बरते सदा, न कहा परभाव प्रपंच रे ।।प्र०।।४।।
सहज दशा निश्चय जगे, उत्तम अनुभव रसरंग रे
राचे नहीं परभावशुं, निज भावशुं रंग अभंग रे ।।प्र०।।५।।
निज गुण सब निज में लखै, न चखे परगुणनी रेख रे।
खीर नीर विवरो करे, श्रै अनुभव हंस शुं पेख रे।।प्र०।।६।
निर्विकल्प ध्येय अनुभवे, अनुभव अनुभवनी पीस रे।
और न कबहु लखी शके, 'आनन्दघन' प्रीत प्रतीत रे ।।प्र०।।७।।

(३२) ३ श्री ज्ञानसारजी के अनुसार यह स्तवन श्री देवचन्दजी कृत का अनुजान होता है। (भूमिका देखिये) यह स्तवन श्री पं० मंगलजी उद्धवजी शास्त्री सम्पादित गुजराती की पुस्तक से लिया गया है। और कहीं देखने में न आने के कारण पाठान्तर नहीं दिये जा सके।

शब्दार्थ—पाद-पंकज = चरण कमल। जस = जिसकी। वासना = सुगंध। अवम = अगम्य है। अनूप = अनूठी है। मन-मधुकर = मन रूपी भँवरा। पंक = कीचड़। दुरंदशा = बुरी अवस्था, मिथ्यात्व। मुदिता = प्रसन्नता। खंच = खींचातानी। रांचे = घुल मिलना, मस्त होना। विवरो करै = निर्णय करना। पेख = देखना। पीस = अभ्यास। प्रतीत = विश्वास।

अर्थ—तेवीसवें तीर्थंकर भगवान श्री पार्श्व नाथ के चरण कमलों को मैं प्रणाम करता हूँ—वंदन करता हूँ। जिन चरण कमलों की सुगंधी अगम्य है—जो जानी नहीं जा सकती है और अनूठी व अनुपम है। मेरा मन रूपी भ्रमर (भँवरा) प्रभु के गुण रूपी मकरंद में मोहित हो रहा है। अनादि कालीन मलीनता छोडकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। ।।१।।

प्रभु श्री पार्श्वनाथ के चरण कमल की सेवा से कलंक—अशुम कर्म रूपी कीचड के लगने की शंका भय—जरा भी नहीं है और न राग-द्वेप

जनित दुख, भावों की चंचलता, शुभ प्रवृतियों में अरोचकत्ता तथा प्रमाद से उत्पन्न खेद होने की शंका नहीं रहती है। इससे मन वचन, और काया के शुद्ध योग से आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ती होती है ॥२॥

श्री पार्श्व नाथ भगवान के स्मर्ण से मिथ्यात्व दशा दूर हो जाती है और प्रसन्नता, मैत्री भाव, मध्यस्थता (समता), कारूण्य भाव आदि शुद्ध स्वभाव मन में सदैव बने रहते हैं ॥३॥

श्री पार्श्व नाथ भगवान की भक्ति से आत्मा अपने स्वभाव में स्थिरता सहज ही धारण कर लेती है और जडवस्तु–पुद्गल का आकर्षण नष्ट हो जाता है। इसके पश्चात आत्मा साक्षी भाव में रहता है अनात्मिक भाव –हर्ष शोकादि पर भावों का प्रपंच कदापि नहीं रहता है अर्थात् मोह के अनेकानेक प्रपंचजाल –जंजाल जरा भी नहीं रहते है ॥४॥

भगवान श्री पार्श्वनाथ की सेवा से आत्मा की स्वाभाविक दशा निश्चय ही जाग्रत हो जाती है और अनोखे अनुभव रस के रंग में मन झूलता रहता है। मन परभावों–पौदगलिक भावों में जरा भी नही फंसता है। वह तो केवल आत्म भाव में मग्न रहता है ॥५॥

श्री पार्श्व नाथ भगवान के स्मर्ण से आत्मा अपने सम्पूर्ण गुणों को अपने में देखता है–अनुभव करता है और परभाव–पौद्गलिक राग–रस का जरा भी आस्वादन नहीं करता है। जिस प्रकार हंस पानी और दूध सहज ही अलग कर के दूध को ग्रहण करता है उसी प्रकार आत्मा अनुभव ज्ञान से विभाव दशा छोड़कर अपनी स्वभाव दशा को ग्रहण करता है ॥६॥

भगवान श्री पार्श्वनाथ की भक्ति से आत्मा अनुभव ज्ञान के अभ्यास द्वारा उत्पन्न दशा से संकल्प विकल्प रहित अवस्था का अनुभव करता है। ऐसे शुद्ध स्वभवा की जाग्रति के बिना आनन्द के समूह–परमात्मदशा की कदापि प्रतीति नहीं होती है अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मपद की प्राप्ति तो शुद्ध आत्मिक स्वभाव के बिना नहीं होती है ऐसा आनन्दघनजी कहते हैं ॥७॥

वि,) । असंख = असंख्य (म', मा, वि,)। सिण = गण (म', मा, वि,) । तिणे = तेणे (मं, मा;) । लेसु = लेशु (म'; मा,) । सकति = शक्ति (म', मा,) । वीरय = वीरज (म', मा,) । वेसे = वेखे(वि)जोग = योग (ग', मा, वि,) । सगति = शक्ति (म', मा,) । जिम = जेम (म',मा,) । तिम = तेम (म', मा,) । सूरपणे = सूरपणो (म',) । थाइ = थाय ('म, मा,) । थाये (वि,) । तेहने = तेह (म', मा,) । जाण्यूं = जाण्युं (म', मा,) । तुमथी = तुमची (म', मा, वि,) आलंबन....भांगेरे—यह पंक्ति 'वि' प्रति में नहीं है । परणित = परिणतिने ,) । विरागे = वैरागे (म',मा,) ।

शब्दार्थ—तिमिर = अंधकार । भागू = भागगया, दूर हो गया । वागूं रे = वजरहा है । छउमच्छ=छद्मस्थ । अभिसंधिज = आत्म शुद्धि की अभिलाषा, योगभिजनित, विशेष प्रयत्न से उत्पन्न । सूछम = सूक्ष्म । थूल = स्थूल । कंखरे = कांक्षा, अभिलाषा करते हैं सिण = सेना । पेसेरे = प्रवेश करती है । खेसेरे = स्खलित होती है, डिगती है, खिसकती है । विनाणे = विज्ञान । विरागे = वैराग्य ।

अर्थ—मैं उन अंतिम तीर्थंकर वीर भगवान (महावीर भगवान) के चरणों में वंदना करता हूं, जिनके मिथ्यात्व मोहनीय रूप अंधकार का भय दूर हो गया है और जिनके कर्म-शुत्रुओं पर विजय के नगारे बजे हैं । ऐसे भगवान महावीर से मैं उनके जैसा ही वीरत्व मांगता हूं जिस वीरत्व (शौर्य) से उन्होंने कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी ।।१।।

छद्मस्थ अवस्था में (मंदकषायी अवस्था में) क्षायोपशमिक वीर्य (आत्मोल्लास) और शुभलेश्या के साथ अपनी अभिसंधिज (सदुद्देश्य में प्रयत्न-शील) बुद्धि को उनका अंग (भाग) बनाकर, सूक्ष्म (आत्मिक-ध्यान) और स्थूल (व्यवहारिक-महाव्रतादिपालन) क्रिया में रंगकर उमंग से श्री महावीर भगवान योगी हुये हैं ।।२।। (यह सयोगी केवली बनने का वर्णन है)

असंख्य आत्म प्रदेश में असंख्य वीर्य-आत्मबल है । इससे असंख्य मन, वचन और काया के योगों की आकांक्षा होती है अर्थात् योगों की प्रवृत्ति होती

है। उस योग प्रवृत्ति के बल से आत्मा बुद्धि द्वारा यथा शक्ति पुद्गल सैना—कर्मवर्गणा की शुभ लेश्या से गणना करती है अर्थात् कर्मवर्गणा को यथा-शक्ति ग्रहण करती है ॥३॥ (यहाँ सयोगी केवली अवस्था में योगों द्वारा कर्मवर्गणा ग्रहण का वर्णन है) .

आत्मा योगों द्वारा कर्मवर्गणा को ग्रहण करती है यह ऊपर बताया गया है। किन्तु जो आत्मा उत्कृष्ट वीर्य—आत्म—बल के प्रभाव में आ जाती है, उस आत्मा में योग—मन, वचन और काया का व्यापार प्रवेश नहीं पाता हैं अर्थात् उस आत्मा में योग प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि योगों की ध्रुवता—स्थिरता से आत्मा लेश मात्र भी आत्म—बल से खिसकती नही है—डिगती नहीं है ॥४॥ (यहाँ चौदवें गुणस्थान में अयोगी अवस्था का वर्णन है) .

जिस प्रकार भोगी—कामी व्यक्ति उत्कृष्ट काम—वासना के वशीभूत होता है उसी प्रकार आत्मा क्षायिकवीर्य से अपने गुणों को भोगने वाला है—आत्मा में रमण करने वाला है। इस शौर्य गुण से आत्मा उपयोगमय होकर अयोगी अवस्था प्राप्त कर लेता है। अर्थात सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है ॥५॥

यह वीरत्व—शौर्य आत्मा में ही स्थित है। इस बात को मैंने आपकी (महावीर की) वाणी से—उपदेश से (जो आगमों में है) जान लिया है। मेरी शक्ति के अनुसार मैंने ध्यान से और विशेष ज्ञान से (श्रुत ज्ञान से) अपने शांति रूप अचल स्थान—मोक्ष पद को पहचान लिया है ॥६॥

पूर्ण वीर्योल्लास से—अदम्य उत्साह से जिसने सम्पूर्ण बाह्य और अभ्यन्तर आलंबनों और साधन (साधना के सहायकों) को त्याग दिया और पर परणति—आत्मा से भिन्न भावों को नष्ट कर दिया है, वही अक्षय (कभी नष्ट न होने वाला), शाश्वत दर्शन ज्ञान और वैराग्य से (तटस्थवृत्ति से) आनंद से भरपूर—आनंदमय—प्रभु—(परमात्मा) रूप होकर जागृत रहता है। अर्थात् सिद्ध परमात्मा अरूपी द्रव्य आत्मा सदैव आत्मज्योति से दीप्यमान रहता है—जग-मगाता रहता है। ॥७॥

श्री महावीर जिन स्तवन (२४)२

(पंथडो निहालूं रे बीजा जिन तणो रे-ए देसी)

चरम जिणेसर विगत सरूपनूं रे, भावूं केम सरूप।
साकारी विण ध्यान न सभवेरे, ए अविकार अरूप ।।चरम०।।१।।
आप सरूपे आतम मां रमेरे, तेहना धुर वे भेद।
असंख उक्कोसे साकारीपदेरे, निराकारी निरभेद ।।चरम०।।२।।
सूख्मनाम करम निराकार जे रे, तेह भेदे नहीं अंत।
निराकार जे निरगत करमथीरे, तेह अभेद अनंत।।चरम०।।३।।
रूप नहीं कइयै वधन घट्यूं रे, बध न मोख न कोय।
बध मोख विंण सादि अनंतनू रे, भंग सग किम होय।।चरम०।।४।।
द्रव्यविना तिम सत्ता नवि लहे रे, सत्ता विण स्यो रूप।
रूप विना किम सिद्ध अनंततारे, भावूं अकल सरूप ।।चरम०।।५।।
आतमता परणित जे परिणम्यारे, ते मुझ भेदाभेद।
तदाकार विण मारा रूपनूं रे, ध्यावूं विधि प्रतिषेद ।।चरम०।।६।।
अंतिमभव गहिणे तुझ भावनूं रे, भावस्यूं सुद्ध सरूप।
तइयै 'आनंदघन' पद पांमस्यूरे, आतम रूप अनूप ।।चरम०।।७।।

(२४)२—यह स्तवन श्रीज्ञानसारजी कृत है। यह पद हमारी किसी और प्रतियों में नहीं है, केवल श्री ज्ञानसारजी वाली प्रति में ही है। इस स्तवन का उन्होंने अर्थ किया है। एक मुद्रित प्रति गुजराती में है, जो पं० मंगलजी उद्धवजी द्वारा सम्पादित है। उससे ही पाठांतर दिया गया है। इस प्रति में आनंदघनजी के नाम के दो स्तवन श्री पार्श्वनाथ और श्री महावीर के और हैं वे भी आगे दिये जाते हैं। पाठां०—जिणेसर = जिनेश्वर (मं)। सरूप = स्वरूप (मं)। सरूपे = स्वरूपे (मं)। असंख = असंख्य (मं)। निरगत =

निर्गति । करमथीरे = कर्मथीरे (गं) । कइयै = कहिये (गं) । मोख = मोक्ष (गं) । किम = केम (गं) । तिम = तेम (गं) । किम = केम (गं) । सरूप = स्वरूप (गं) । परणित = परिणति (गं) । भवगहिणे = भगग्रहणं (गं) । सुद्ध स्वरूप = शुद्ध स्वरूप (गं) । पामस्यू – पामशुं (गं) । आतम = अंतिम (गं) । शब्दार्थ—चरम = अंतिम । विगत = बीता हुआ । साकारी = आकार वाला । अविकार = विकार रहित । धुर = प्रथम । बे = दो । उक्कोसै = उत्कृष्ट । निरभेद = भेद रहित । सूखम = सूक्ष्म । निरगत = निर्गति । स्यो = कैसा । तइयै = वह ।

कवि श्री आनंदघन जी अपने मन को उद्बोधित करते हैं—हे मेरे मनः शासन नायक अंतिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर के स्वरूप का चिन्तवन कर—स्मरण कर। मन कहता है—अंतिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर विगत स्वरूपी हैं अर्थात् बिना रूप—आकार के हैं—अरूपी हैं, अतः उनके स्वरूप का किस भांति चिन्तवन—ध्यान कर सकता हूँ ? क्योंकि आकार सहित रूप के अभाव में—विना साकार आलंबन के ध्यान—चिन्तवन संभव नहीं है और भगवान श्री महावीर तो अविकारी और अरूपी हैं।।१।।

आत्मा अपने स्वरूप में—आत्म स्वभाव में रमण करता है अर्थात् आत्मा अपने स्वभाव में रमण करने वाला है। प्रथम आत्मा के दो भेदहैं। एक साकारी परमात्मा और एक निराकारी परमात्मा। साकारी परमात्मा के दो भेद हैं। एक तीर्थंकर केवली परमात्मा और सामान्य केवली परमात्मा साकारी परमात्मा उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) असंख्य हैं* और निराकारी परमात्मा (सिद्ध भगवान) भेद रहित हैं—अनंत हैं ।।२।।

---

* जैन आगमों में तीर्थंकरों की संख्या जघन्य (कम से कम) २० और उत्कृष्ट १७० और सामान्य केवलियों की संख्या जघन्य दो करोड़ और उत्कृष्ट नौ करोड़ बताई गई है। यह गणना असंख्य संख्या का ही एक भाग है अतः साकारी परमात्मा को असंख्य कहने में कोई दोष—आपत्ति नहीं है।

किन्तु एक प्रकार से निराकारी परमात्मा के दो भेद हैं–१ सूक्ष्म नाम कर्मी निराकार परमात्मा और २ निरगत कर्मी निराकार परमात्मा।

जो सूक्ष्म नाम कर्मी निराकार परमात्मा हैं उनके भेदों का कोई अंत नहीं है। निर्गत कर्मी निराकार परमात्मा अभेदी और अनंत हैं अर्थात् सर्व सिद्ध असंख्यात प्रदेशात्मक भिन्न भिन्न होने से अनंत हैं ॥३॥

यहां तर्क है—निर्गत कर्मी निराकारी, अर्थात् अरूपी–रूप आकार रहित–हैं। जब आत्मा के कोई रूप–आकार नहीं है तब उस के बंध भी नहीं होसकता है। वह तीनों कालों में अबंध माना जावेगा। जब बंध (कर्मबंध) नहीं, तो मोक्ष (कर्मक्षय) भी नहीं है। बंध और मोक्ष दोनों के बिना निर्गत–कर्मी निराकारी परमात्मा की 'सादि अनत' विभाग के साथ संगति कैसे हो सकती है ? ॥४॥

जब कोई द्रव्य (पदार्थ) ही नहीं है तब उस की सत्ता कैसी ? अर्थात् द्रव्य के बिना उस की सत्ता नहीं होती है। सत्ता के बिना उसका रूप कैसा ? रूप के आभाव में सिद्ध अनंत क्यों ? अर्थात् रूप बिना सिद्धों की अनंतता कैसी ? तब अकल स्वरूप का–अमूर्त का चिन्तवन–ध्यान कैसे करूं ? ॥५॥

भगवान का उत्तर है, (आगम माध्यम से)—मेरी आत्मा का परिणमन और परिणमित आत्मा अर्थात् आत्मता ये दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। तदाकार होकर–अपने आत्म स्वभाव में होकर मेरे (परमात्मा के) स्वरूप का ध्यान विधिवत है और बिना तदाकार हुये मेरे (परमात्मा के) स्वरूप का चिन्तवन–ध्यान प्रतिषेध है–वर्जित है ॥६॥

इस पर कवि कहते हैं–इस पंचम काल में तो तदाकार होकर चिन्तवन करना असंभव है अतः जब मैं अंतिम भव ग्रहण कर अर्थात अंतिमजन्म लेकर आपके परमात्म स्वभावका, शुद्ध स्वरूप हो कर चिन्तवन करूंगा तब अनुपम तथा आनंद समूह आत्मरूप–परमात्म पद को प्राप्त करूंगा ॥७॥

श्री महावीर जिन स्तवन (२४) ३

वीर जिनेश्वर परमेश्वर जयो, जग-जीवन जिन भूप।
अनुभव मित्ते रे चित्ते हितकारी, दाख्युं तास स्वरूप ॥वीर०॥१॥

जेह अगोचर मानस वचन ने, तेह अतीन्द्रिय रूप।
अनुभव मित्ते रे व्यकित शकित शुं, भाख्युं तास स्वरूप ॥वीर०॥२॥

नय निक्षेपे रे जेह न जाणीअे, नवि जिहां प्रसरे प्रमाण।
शुद्धस्वरूपे रे ते ब्रह्म दाखवे, केवल अनुभव भाण ॥वीर०॥३॥

अखंड अगोचर अनुभव अर्थनो, कोण कही जाणे रे भेद।
सहज विशुद्धये रे अनुभवनयण अे शास्त्रे, ते सवजो रे खेद
॥वीर०। ४।

दिशि देखाडी शास्त्र सवि रहे, न लहे अगोचर वात।
कारज साधक बाधक रहित जे, अनुभव मित्त विख्यात ॥वीर० ॥५॥

अहो चतुराई रे अनुभव मित्तनी, अहो तस प्रीत प्रतीत।
अंतरजामी स्वामी समीप ते, राखी मित्र शुं रीत ॥वीर०॥६॥

अनुभव संगे रे रगे प्रभु मल्या, सफल फल्यां सवि काज।
निजपद सेवक जे ते अनुभव रे, 'आनंदघन' महाराज ॥वीर०॥७॥

(२४)३—यह स्तवन भी श्री ज्ञान सारजी के उल्लेखानुसार श्री देवचंद जी संवेगी कृत है। यह स्तवन भी श्री मंगल जी शास्त्री की पुस्तक से लिया हुआ है।

शब्दार्थ—दाख्युं = कहा गया है। जेह = जो। अगोचर = नहीं दिखा-या सके। तेह = उनका। व्यकित = व्यक्त किया हुआ, बताया हुआ। भाख्युं = कहा गया। तास = उनका। भाण = भानु, सूरज। सुहलो = सब। समीप = पास, निकट। फल्यां = फलित हुये। सवि = सब।

अर्थ—संसार के जीवन स्वरूप, सम्पूर्ण केवली भगवानों के अधिराज और परम ऐश्वर्य के स्वामी महावीर प्रभु की जय हो। ऐसे भगवान महावीर का स्वरूप जो सब के चित्त के लिये हितकारी है—अनुभव मित्र ने कहा है ॥१॥

जो मन और वचन से अर्थात् विचार और वाणी से नहीं जाना जा सकता ऐसे इंद्रियों से न जानने योग्य महावीर का स्वरूप अनुभव मित्र ही जान सकता है, उसने ही (अनुभव ने ही) उनके स्वरूप को प्रकट किया है ॥२॥

जो नय-निक्षेपों से—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत —सात नया तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव चार निक्षेपों से नहीं जाना जाता है। जिसके जानने में परोक्षादि ज्ञान की भी गति नहीं है। ऐसे शुद्ध स्वरूप परमात्मा को केवल ज्ञान रूप सूर्य ही बताने में समर्थ है क्यों कि यह रूप निरंजन, निर्विकल्प, निराकार, निरुपाधि है इसलिये वाणी और परोक्ष प्रमाणादि की इसे प्रकट करने में गति नहीं है ॥३॥*

ऐसे अखंड, अगोचर (अलख) अनुभवगम्य परमात्मा के स्वरूप के भेद को कौन कह सकता है अर्थात् कोई बता नहीं सकता है वह तो आत्मा की स्वाभाविक शुद्धि होने पर ही अनुभव ज्ञान से जाना जाता है। सम्पूर्ण शास्त्र भी उस स्वरूप को बताने में असमर्थ हैं ॥४॥

सम्पूर्ण शास्त्र तो केवल मार्ग दर्शन करके ही रहजाते हैं, किन्तु उस अगोचर स्वरूप को प्रकाश में नहीं ला सकते हैं। उस स्वरूप को प्रकाश में लाने के लिये तो कार्य को सिद्ध करने वाला और बाधाओं रहित अनुभव ज्ञान-मित्र (सूर्य) ही प्रसिद्ध है ॥५॥

---

* यतोवाचोनिवर्तन्ते, न यत्र मनसोगतिः। शुद्धानुभववेद्यं, तद्रूपं परमात्मनः ॥ श्री यशोविजयजीकृत—परमज्योतिः पंचविंशतिका।

अहो ! अनुभव-मित्र की यह कैसी चतुराई-कुशलता है ? अहो ! उसका कैसा एकनिष्ठ प्रेम है ? जो अन्तरयामी प्रभु के निकट सच्चे मित्र की तरह रह कर कार्य साधक बन रहा है ॥६॥

ऐसे अनुभव मित्र के साथ से परमात्म प्रभु प्राप्त हो गये-प्रभु से भेंट हो गई। और मनोवांछित सम्पूर्ण कार्य फलीभूत हो गये, अर्थात् आत्मा ने अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया। आत्म स्वरूप को प्राप्त करने में संलग्न जो सेवक-भक्त हैं वे अनुभव ज्ञान द्वारा अखंड आनंद रूप बनते हैं ॥७॥

श्री जरगडजी द्वारा संपादित व संकलित ग्रन्थ :

१. श्री देवचन्द्रजी कृत चतुर्विंशति जिन स्तवन
(अनुवाद और जीवन चरित्र सहित)

२. प्रार्थना और तत्वज्ञान

३. श्री देवचन्द्रजी कृत स्नात्र पूजा
(अनुवाद और परिशिष्ट सहित)

४. श्री देवचन्द्रजी कृत स्नात्र पूजा
(अनुवाद, परिशिष्ट और जीवन चरित्र सहित)

५. आनन्दघन ग्रंथावली (सरलार्थ सहित)

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
विजयचन्द जरगड
जौहरी बाजार,
(इमली वाले पंसारी के ऊपर)
जयपुर - ३